

श्रीपरमात्मने नमः

रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला ।

१०.

दिगम्बरजैनाचार्यश्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचितः

श्रीमद्ब्रह्मदेवविनिर्मितवृत्तिसहितश्च

बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहः ।

जयपुरनिवासिविद्वद्वरश्रीजवाहरलालशास्त्रिप्रणीत-

हिन्दीभाषानुवादसमुपेतः ।

स च 139

मुम्बापुरीस्थ-श्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डलसत्त्वाधिकारिभिः

श्रीयुतबोटादनिवासि-श्रेष्ठिरायचन्द्ररवजी गांधी इत्येतस्य स्मरणार्थं

निर्णयसागराख्यमुद्रणालये मुद्रयित्वा

प्राकाश्यं नीतः ।

श्रीवीरनिर्वाणसंवत् २४३३.

प्रकाशकः—मुम्बयीस्थ-श्रीपरमश्रुतप्रभावक

बोटादनिवासी

श्रीयुत रायचन्द्र रतनशी गांधी तरफथी

आ परमश्रुतखाताने भेटदाखल

रु. २००) वसो आपेल ते वदल

श्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डल तरफ थी आ

श्री नेमिचन्द्रस्वामीविरचित

बृहद्द्रव्यसङ्ग्रह ।

नामक ग्रन्थनुं

हिंदीमां भाषान्तर करावी

तेना नामस्मरण

अर्थे

तेमने अर्पण करवामां आव्यो छे.

अवश्य पढिये !!! **प्रस्तावना.** अवश्य पढिये !!!

वृहद्द्रव्यसंग्रह.

यह वृहद्द्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थरत्न जैनसमाजमें 'द्रव्यसङ्ग्रह' इस नामसे प्रसिद्ध है। प्रायः ऐसा कोई भी जिनमंदिर व सरस्वतीभंडार नहीं है, जिसमें यह ग्रन्थ विद्यमान न हो। जैनी भाई इसको तत्त्वार्थसूत्रके समान ही माननीय और उपयोगी समझते हैं। यह समस्त जैनपाठशालाओंमें पढ़ाया जाता है। और ८।१० वर्षकी अवस्थावाले विद्यार्थी भी इसकी गाथाओंको कण्ठस्थ करलेते हैं। जो उनको उपदेशादिके अवसरमें यावज्जीव काम आती हैं। टीकाकारका कथन है कि, आचार्यने प्रथम ही २६ गाथासूत्रोंका लघुद्रव्यसंग्रह बनाया था। फिर विशेष वर्णन करनेकी इच्छासे वृहद्द्रव्यसंग्रह रचा। तदनुसार ही हमनें भी इस शास्त्ररत्नका नाम वृहद्द्रव्यसंग्रह ही रक्खा है॥

श्रीनेमिचन्द्रसैद्धान्तिकचक्रवर्त्ती.

इसके कर्त्ता प्रातःस्मरणीय भगवान् श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिचक्रवर्त्तीने अपने पवित्र शरीरसे कब किस वसुधामण्डलको मंडित किया। इत्यादि ऐतिहासिक विषयोंका संक्षिप्त वर्णन संस्कृत छन्दोवद्ध भुजबलि (बाहुबलि व गोमट) चरित्रके अनुसार यहां लिखते हैं।

द्राविडदेशमें एक मधुरा नामक नगरी थी। जोकि, प्राचीन शास्त्रोंमें दक्षिणमधुरा और आज कलकी भूगोलोंमें मदूरा नामसे प्रसिद्ध है। वहां पर—

"श्रीदेशीयगणाब्धिपूर्णमृगभृच्छ्रीसिंहनन्दिव्रति-
श्रीपादाम्बुजयुग्ममत्तमधुपः सम्यक्त्वचूडामणिः।
श्रीमज्जैनमताब्धिवर्द्धनसुधासूतिर्महीमण्डले
रेजे श्रीगुणभूषणो बुधनुतः श्रीराजमल्लो नृपः ॥ बाहुबलीचरित्र ६॥

इस श्लोकके अनुसार देशीयगणके स्वामी श्रीसिंहनन्दी आचार्यके चरणकमलसेवक गंगवंशतिलक श्रीराजमल्ल नामक महाराजा हुए। और उनके—

"तस्यामात्यशिखामणिः सकलवित्सम्यक्त्वचूडामणि-
र्भव्याम्भोजवियन्मणिः सुजनवन्दिव्रातचूडामणिः।
ब्रह्मक्षत्रियवैश्यशुक्तिसुमणिः कीर्त्यौघमुक्तामणिः
पादन्यस्तमहीशमस्तकमणिश्चामुण्डभूपोऽग्रणीः ॥ बा.ब.च. ११॥

---

(१) प्रथम अधिकारमें नमस्कारगाथाके विना जो शेष २६ गाथासूत्र हैं। इन्हींको श्रीमान् आचार्य महाराजनें पहिले बनाये थे। इसलिये इन २६ गाथाओंके समुदायका नाम ही लघुद्रव्यसंग्रह है। इसमें जीव १ पुद्गल २ धर्म ३ अधर्म ४ आकाश ५ और काल ६ इन ६ द्रव्योंका सामान्य निरूपण है।

(२) नमस्कारगाथा १, सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादक नामा द्वितीय अधिकारकी ११ गाथायें और मोक्षमार्गप्रतिपादक नामा तृतीय अधिकारकी २० गाथायें, इन सहित जो लघुद्रव्यसंग्रहकी २६ गाथायें हैं, उनका अर्थात् तीनों अधिकारोंकी ५८ गाथाओंका नाम वृहद्द्रव्यसंग्रह है।

इस श्लोकके अनुसार श्रीचामुण्ड नामा राजा महा अमात्य (बड़े मंत्री व मुसाहिब) हुए। एक दिन राजमल्ल श्रीचामुण्ड सहित सभामें विराज रहे थे। उस समय किसी शेठने[1] आकर प्रणाम करके कहा कि, महाराज! "उत्तरदिशामें एक पोदनापुर नगर है, वहांपर श्रीभरतचक्रवर्त्ती द्वारा स्थापित कायोत्सर्ग श्रीबाहुबलीका प्रतिबिम्ब है, जोकि, वर्त्तमानमें 'गोमट्ट' इस नवीन नामसे भूषित है।" इत्यादि। इस वृत्तान्तको सुनकर राजा व श्रीचामुंड मंत्री दोनों अत्यंत हर्षित हुए। श्रीचामुण्ड उक्त प्रतिबिम्बको भावनमस्कार करके घर गये और सब वृत्तान्त अपनी माता कालिका को कह सुनाया। जिसको श्रवणकर वह बहुत आनंदित हुई और तत्काल अपने पुत्र चामुण्डसहित जिन-मंदिरमें जाकर श्रीजिनेन्द्रकी स्तुति करनेके पश्चात् अपने गुरु(अजितसेन)के गुरु[2] श्रीसिंहनन्दी आचार्यको नमस्कार किया। तदनन्तर—

पश्चात्सोऽजितसेनपण्डितमुनिं देशीगणाग्रेसरं
स्वस्याधिप्यसुखाब्धिवर्द्धनशशी श्रीनन्दिसङ्घाधिपम्।
श्रीमद्भासुरसिंहनन्दिमुनिपाङ्घ्र्याम्भोजरोलम्बकं
चानम्य प्रवदत्सुपौदनपुरीश्रीदोर्बलेर्वृत्तकम् ॥ बा.व.च. २८ ॥

इस श्लोकके अनुसार श्रीचामुंडने देशीयगणमें[3] प्रधान श्रीअजितसेन मुनिको नमस्कार करके श्रीबाहुबलीके प्रतिबिम्ब संबंधी समाचार कहे। और "मैं जबतक श्रीबाहुबलीके प्रतिबिंबका दर्शन न करूंगा तबतक दूध नहीं पीऊंगा" इस प्रकारकी प्रतिज्ञा उनके समक्ष धारण की। वहांसे आकर राजाको अपना यात्राका मनोरथ प्रकट किया और—

"सिद्धान्ताम्भोधिचन्द्रः प्रणुतपरमदेशीगणाम्भोधिचन्द्रः
स्याद्वादाम्भोधिचन्द्रः प्रकटितनयनिक्षेपवाराशिचन्द्रः।
एनश्चक्रौघचन्द्रः पदनुतकमलव्रातचन्द्रः प्रशस्तो
जीयाज्ज्ञानाब्धिचन्द्रो मुनिपकुलवियच्चन्द्रमा नेमिचन्द्रः ॥बा.व.च.६२॥
सिद्धान्तामृतसागरं स्वमतिमन्थक्ष्माभृदालोड्य मध्ये
लेभेऽभीष्टफलप्रदानपि सदा देशीगणाग्रेसरः।
श्रीमद्गोमटलब्धिसारविलसत्त्रैलोक्यसारामर-
क्ष्माजश्रीसुरधेनुचिन्तितमणीन् श्रीनेमिचन्द्रो मुनिः ॥ बा.व.च. ६३ ॥

इत्यादि गुणोंके धारक श्रीनेमिचन्द्रस्वामी सहित श्रीचामुण्डने अपनी माताको, अनेक विद्वानोंको तथा चतुरंगसेनाको साथ लेकर गोमट्टस्वामीकी यात्राके निमित्त उत्तर दिशाको गमन किया। कितने ही योजन गमन करके विंध्याचल पर्वतके समीप पहुंचे। वहां किसीसे पर्वतपर स्थित जिनमंदिरका

---

(१) 'शेठको पोदनपुरमें गोमट्टस्वामीका अस्तित्व कैसे मालुम हुआ?' इस शंकाका समाधान नहीं हुआ।
(२) गोमट्टसारकी एक गाथासे विदित होता है कि श्री अजितसेनके विद्यागुरु श्रीआर्यसेन मुनि थे।
(३) "पूर्वं जैनमतागमाब्धिविधुवच्छ्रीनन्दिसंघेभवन्-सुज्ञानर्द्धितपोधनाः कुवलयानन्दा मयूखा इव। सत्सङ्घे भुवि देशदेशनिकरे श्रीसुप्रसिद्धे सति-श्रीदेशीयगणो द्वितीय-विलसन्नाम्ना मिथः कथ्यते ॥ बा.व.च. ८७॥" इसके अनुसार जब नंदिसंघके आचार्य और मुनि संपूर्ण देशोंमें व्याप्त तथा प्रसिद्ध हो गये, तब नंदिसंघ "देशीयगण" इस नामसे कहे जाने लगा।

पता पाकर वहां गये और श्रीजिनेन्द्रकी पूजा स्तुति करके रात्रिको उसी जिनमंदिरके मंडपमें निवास किया। रात्रिके चतुर्थ प्रहरमें श्रीनेमिचन्द्र, चामुण्ड और चामुण्डकी माता इन तीनोंको कुष्माण्डीने स्वप्नमें कहा कि, "पोदनपुर जानेका मार्ग कठिन है। इस पर्वतमें रावणद्वारा स्थापित श्री वाहुवलीका प्रतिविम्ब है। वह धनुषमें सुवर्णके वाण चढ़ाकर उनसे पर्वतको भेदनेपर प्रकट होगा।" प्रातःकाल चामुण्डने मुनिको स्वप्नका वृत्तान्त निवेदन किया। जिसको सुनकर मुनिने स्वप्नके अनुकूल प्रवृत्ति करनेका उपदेश दिया। तदनुसार चामुण्ड स्नान करके भूषणोंसे भूषित होकर, मुनिके समक्ष उपवास धारण करके, दक्षिणदिशामें खड़ा होकर धनुषद्वारा सुवर्णका वाण चलाया। जिससे पर्वतमें छिद्र होकर वहांपर—

"द्विपञ्चतालसमलक्षणपूर्णगात्रो विंशच्छरासनसमोन्नतभासमूर्त्तिः।
सन्माधवीव्रततिनागलसत्सुकायः सद्यः प्रसन्न इति वाहुवली वभूव॥ वा.व.च. ४३॥

इस श्लोकके अनुसार दशतालसम, लक्षणोंसे पूर्ण शरीरका धारक और २० धनुष परिमाण ऊंचा श्रीवाहुवलीका प्रतिविम्ब प्रकट हुआ। राजाने बड़ी भक्तिसे दर्शन किये और विधिपूर्वक १००८ कलशोंसे श्री वाहुवलीके मस्तकपर पंचामृताभिषेक किया। और पूजन तथा नमस्कार करके धन्य हुआ। फिर वहांसे दक्षिणमें आकर—

कल्क्यब्दे षट्शताख्ये विनुतविभवसंवत्सरे मासि चैत्रे
पञ्चम्यां शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुम्भलग्ने सुयोगे।
सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटितभगणे सुप्रशस्तां चकार
श्रीमच्चामुण्डराजो वेल्गुलनगरे गोमटेशप्रतिष्ठाम्॥ वा.व.च. ५५॥

इसके अनुसार कल्की (शक)के संवत् ६०० (वि. सं. ७३५) में श्रीचामुण्डने चैत्रशुक्ला पंचमी रविवारके दिन श्रवणवेल्गुलनगरमें श्रीगोमटस्वामी की प्रतिष्ठा की, और

"भास्वद्देशीगणाग्रेसरसुरुचिरसिद्धान्तविन्नेमिचन्द्र-
श्रीपादाग्रे सदा पण्णवतिदशशतद्रव्यभूग्रामवर्यान्।
दत्त्वा श्रीगोमटेशोत्सवसवननित्यार्चनावैभवाय
श्रीमच्चामुण्डराजो निजपुरमथुरां संजगाम क्षितीशः वा.व.च.॥६१॥"

इस श्लोकके अनुसार श्रीचामुण्डने श्रीनेमिचन्द्रस्वामीके चरणोंकी साक्षीपूर्वक छ्यानवें हजार दीनार (मोहर)के गांव श्री गोमटस्वामीके उत्सव, अभिषेक व पूजन आदिके निमित्त देकर वहांसे गमन करके

---

(१) 'कूष्मांडी' यह एक जिनशासन देवी है अर्थात् २२ वें तीर्थंकर श्रीनेमिनाथस्वामीकी यक्षिणी है। और आम्रकुष्मांडिका, चंडी, अम्बिका, इत्यादि इसीके नामान्तर हैं।

(२) ताल (हस्त) यह प्रतिमाके निर्माणमें परिमाणविशेषका नाम है। क्योंकि, अन्यमतियोंके सूर्यसिद्धान्तमें "भवबीजाङ्कुरमथना अष्टमहाप्रातिहार्यविभवसमेताः। ते देवा दशतालाः शेषा देवा भवन्ति नवतालाः॥ १॥" अर्थात् श्रीजिनेन्द्रकी प्रतिमा दश १० तालकी होती है और अन्य सब देवोंकी प्रतिमा नौ ९ तालकी होती है। ऐसा लिखा हुआ है।

(३) यहां कल्की व कलिके संवत्से शकके संवत्को ग्रहण करना चाहिये।

(४) दीनार यह ३२ रती भरे सुवर्णका सिक्का है। ऐसा कोषोंपरसे जान पड़ता है।

गाजे बाजे सहित अपनी मथुरापुरीमें प्रवेश किया। और अपने स्वामी राजमल्लको सब वृत्तान्त कहा। जिसको श्रवणकर महाराजा राजमल्लदेवने भी श्रीनेमिचन्द्रस्वामीके समीप डेढ़ लाख १५०००० दीनारोंके गांव श्रीगोमटस्वामीकी सेवा आदिके निमित्त प्रदान किये। और चामुण्डमंत्रीको धन्य धन्य कहकर जिनमतकी प्रभावनार्थ 'राय' पद दिया। उसी दिनसे चामुंड "श्रीचामुण्डराय" इस नामसे आज तक प्रसिद्ध हैं॥

इस उक्त कथा परसे निस्सन्देह विदित होता है कि, श्रीनेमिचन्द्रस्वामी नंदिसंघस्थ देशीयगणके मुनीश्वर थे। शक सं. ६०० (वि. सं. ७३५) में द्राविडदेशस्थ मथुरा नगरी किंवा दक्षिणप्रान्तकी भूमिको अपने चरणकमलोंसे पवित्र करते थे। तत्कालीन महाराजा राजमल्लदेव तथा श्रीचामुण्ड-रायराजाके अतिशय माननीय थे। श्रीसिंहनन्दी और श्रीअजितसेन नामक दो आचार्य भी आपके समकालीन थे। गोमट्टसार लब्धिसार और त्रिलोकसार आदि परमादरणीय सिद्धान्तशास्त्रोंके निर्माता भी ये ही श्रीनेमिचन्द्र थे। इत्यादि, इत्यादि।

परंतु आजकलके समयमें एक कथासे इतिहाससंबन्धी विषयपर सर्व साधारणको विश्वास नहीं होता है; अतः इस उक्त विषयको सिद्ध करनेके लिये यथाप्राप्त अन्य प्रमाण दे डालना भी हम उचित समझते हैं। वे प्रमाण ये हैं॥—

१ गोमट्टसारशास्त्रके अन्तमें स्वयं श्रीनेमिचन्द्राचार्यने निम्नलिखित गाथायें दी हैं।—

"जिह्मि गुणा विस्संता गणहरदेवादि इड्ढिपत्ताणं।
सो अजियसेणणाहो जस्स गुरु जयउ सो राओ॥ १॥
सिद्धंतुदयतडुग्गयणिम्मलचरणेमिचंदकरकलिया।
गुणरयणभूसणाम्बुहिमइवेला भरहु भुअणतलं॥ २॥
गोमट्टसंगहसुत्तं गोमट्टसिहरुवरिगोमट्टजिणो य।
गोमट्टरायविणिम्मिय दक्खिणकुक्कुडजिणो जयउ॥ ३॥
जेण विणिम्मियपडिमावयणं सव्वट्ठसिद्धिदेवेहिं।
सव्वपरमोहिजोगिहिं दिट्ठं सो गोम्मटो जयउ॥ ४॥" इत्यादि।

गोमट्टसारकी संस्कृतटीकानुसार इन गाथाओंका भावार्थ यह है कि, "गणधर तथा ऋद्धिधारी मुनियोंके गुणोंके धारक श्रीअजितसेन जिसके व्रत गुरु हैं, वह चामुण्डरायराजा जयवंता रहो। १। सिद्धान्तरूपी उदयाचलसे उदयको प्राप्त हुए ऐसे श्रीनेमिचंद्ररूपी चंद्रमाकी वचनरूप किरणोंसे स्पर्शित गुणरत्नभूषण (श्रीचामुण्डराय) समुद्रकी बुद्धिरूप वेला (तट व किनारा) भुवन-तलको पूर्ण करै। २। गोमट्टसार, चामुण्डरायके मंदिरमें विराजमान एक हात परिमाण ऊंची इन्द्र-नीलमणि (नीलम) की श्रीनेमिनाथजिनेन्द्रकी प्रतिमा और चामुण्डराय द्वारा बनवाया हुआ दक्षि-

(१) सुनते हैं कि, नेमिचन्द्रसंहिता अथवा नेमिचन्द्रप्रतिष्ठापाठके कर्ता भी ये नेमिचन्द्र हैं।

(२) श्रवणबेल्गुलकी गुफाके दक्षिणपार्श्वमें शाके १०५० का खुदा हुआ जो शिलालेख है, उसमें श्रीअजितसेनके विषयमें "गुणाःकुन्दस्पन्दोड्डमरसमरा वागमृतवाः, प्लवप्रायःप्रेयः प्रसरस-रसा कीर्त्तिरिव सा। नखेन्दुज्योत्स्नाङ्घ्रेर्नृपचयचकोरप्रणयिनी न कासां श्लाघानां पदम-जितसेनो व्रतिपतिः॥ १॥" इत्यादि पद्य लिखे हुए हैं।

(३) इस एक हातकी नीलमकी प्रतिमाका वर्त्तमानमें कहीं भी पता नहीं लगता है। अतः प्रतीत होता है कि, दुष्ट राजाओंके समयमें यह भी खंड खंड हो गई।

णकुंकुड जिन ये तीनों जयवंते रहैं । ३ । जिसकी बनाई हुई प्रतिमाके मुखको सर्वार्थसिद्धिके देवोंने और परमावधिज्ञानके धारक मुनियोंने देखा, वह गोमट्ट (चामुण्ड) राजा जयवंता रहो । ४ ।"

२. गोमट्टसारकी कर्णाटकवृत्तिके अनुसार संस्कृतटीकाकारने टीकाके प्रारंभमें निम्नलिखित गद्य दिया है ॥—

श्रीमदप्रतिहतप्रभावस्याद्वादशासनगुहाभ्यन्तरनिवासिप्रवादिसिन्धुरसिंहायमान-सिंहनन्दिनन्दितगङ्गवंशललाम-राजसर्वज्ञाद्यनेकगुणनामधेयभागधेय-श्रीमद्राजमल्लदेवमहीवल्लभमहामात्यपदविराजमान-रणरङ्गमल्ल-असहायपराक्रम-गुणरत्नभूषण-सम्यक्त्वरत्ननिलयादिविविधगुणनामसमासादितकीर्त्तिकान्त-श्रीमच्चामुण्डरायप्रश्नानुरूपं गोमट्टसारनामधेयपञ्चसङ्ग्रहशास्त्रं प्रारभमाणः श्रीमान्नेमिचन्द्रसैद्धान्तिकचक्रवर्ती समस्तसैद्धान्तिकजनप्रख्यातविशदयशो विशालमूर्त्तिरसौ भगवान् गोमट्टसारप्रथमावयवभूतं जीवकाण्डं विरचयंस्तदादौ मलगालनादिफलजननसमर्थं मङ्गलं कृतम् ।

संक्षिप्तभाव इसका यह है कि, स्याद्वादमतरूपी गुफामें सिंहके समान विराजमान और श्रीसिंहनन्दी आचार्यके प्रभावसे वृद्धिको प्राप्त ऐसा जो गंगवंशतिलक राजमल्लदेव महाराजा है, उसके महामात्य श्रीचामुण्डरायके प्रश्नके अनुसार गोमट्टसार बनानेके इच्छक श्रीनेमिचन्द्रसैद्धान्तिकचक्रवर्तीने निर्विघ्नसमाप्तिके अर्थ मंगल किया ।

३. थॉमस सी राईसने मलबारक्वार्टर्लीरिव्यूमें जो "कर्णाटकमें जैनियोंका निवास" नामक लेख छपाया है, उसमें लिखा है कि, "मैसूरके जैनराजोंमें अतिप्रसिद्ध विल्लालवंशके राजा थे । जो कि, पहिले द्वारासमुद्रमें राज्य करते थे । पीछे श्रृंगापटामके बारह १२ मील उत्तरको तोनूरके शासक हुए । इनका आधिपत्य पूर्ण कर्णाटकमें था । अर्थात् जहां जहां कनाडी भाषा बोली जाती थी, उन्हीं प्रदेशोंके ये शासनकर्त्ता (राजा) थे । इस विल्लाल वंशके स्थापक चामुण्डराय थे । जिनका कि, राज्य सन ७१४ ईस्वीमें था ।

४. मराठी भाषाके तत्त्वप्रसारक नामक समाचार पत्रमें जो श्रवणबेल्गोलाका इतिहास नामक लेख छपा है, उसमें स्थलपुराणके आधारसे यह लिखा हुआ है—

दक्षिण मथुराका राजा चामुण्डराय जैनी था। वह क्षत्रियकुलके प्रसिद्ध पांडुवंशमें उत्पन्न हुआ था। एक बार वह अपने परिवारसहित राज्यचिन्होंको धारण किये हुए पोदनापुरके गोमटेश्वरकी वंदनाके लिये चला । और उस समय उसने मार्गमें मिलनेवाले १२५४ जिनदेवोंके दर्शन करने का भी निश्चय किया । तदनुसार जब, वह अनेक क्षेत्रोंकी वंदना करके मार्गातिक्रम कर रहा था, उस

(१) 'दक्षिण कुक्कुड जिन' यह श्रवणबेल्गुलमें विराजमान श्रीगोमट्टस्वामी की विशाल प्रतिमाका ही नामान्तर प्रतीत होता है ।

(२) गोमट्टस्वामीकी प्रतिमा बनवानेसे चामुण्डरायका लोगोंने **'गोमट्ट'** यह नाम प्रसिद्ध कर दिया । ऐसा अनुमान होता है ।

(३) इस चतुर्थ प्रमाणसे पूर्वोक्त कथाके कई अंशोंमें विरोध आता है । परंतु इन दोनोंमें कौन सत्य है, इसका निर्णय करनेके लिये अभी हमारे पास कोई साधन नहीं है ।

(४) शास्त्रोंमें आगरेके पास जो मथुरा है वह उत्तर मथुरा और द्राविड देशकी मथुरा दक्षिण मथुराके नामसे प्रसिद्ध है

समय उसने श्रवणवेल्गोलक्षेत्रके गोमटेश्वरकी एक चमत्कारिक कथा सुनी। जिससे उत्तेजित होकर वह वहां गया और बड़े उत्साहके साथ उसने श्रीगोमटेश्वरभगवान्का साभिषेक पूजन किया। अपना नाम स्थिर रखनेके लिये कई मंदिरोंका जीर्णोद्धार कराया। और एक स्वधर्मीय मठ स्थापन करके श्रीमत्सिद्धान्ताचार्यको उस गुरुस्थानके अध्यक्ष कर दिये। और १९६००० मुद्रा (जो उस समय सिक्का प्रचलित था) की वार्षिक आमदनी वाली जागीर, उस क्षेत्रके लिये लगा दी। इसके पश्चात् कलियुग सं. ६०५ विभवसंवत्सरके चैत्र महीनेमें ४ दिशाओंमें ४ शालाशासन नामक संस्थाओंकी स्थापना भी इसी नरपतिने की। चामुण्डरायके पीछे जो राजा हुए, उन्होंने १०९ वर्षतक उक्त व्यवस्था चलाई। शक सं. ७७७ में चामुण्डराय राजाके द्वारा स्थापन किया हुआ, वह राज्य हयशालदेशके स्वामी वल्लालवंशीय एक राजाके आधीन हो गया।"

५. शककी ८ वीं शताब्दीमें भारतको पवित्र करने वाले श्रीभगवज्जिनसेनाचार्यजीने आदिपुराणके मंगलाचरणमें श्रीनेमिचन्द्रके समकालीन श्रीसिंहनन्दी आचार्यका निम्नलिखित श्लोकसे स्मरण किया है।

"काव्यानुचिन्तने यस्य जटा प्रबलवृत्तय:।
अर्थान् स्मानुवदन्तीव जटाचार्य: स नोऽवतात्॥"

इन सब प्रमाणोंसे श्रीनेमिचन्द्रका द्राविडदेशीय प्रतापीराजा चामुण्डरायके साथ अतिशय धार्मिक संबन्ध और शक सं. ६०५ में अस्तित्व निर्विवाद सिद्ध होता है।

अब टीकाकारने बृहद्रव्यसंग्रह पृष्ठ १ में जो द्रव्यसंग्रहके कर्त्ता आदिका निरूपण किया है, उसको स्थूल दृष्टीसे देखते हैं तो स्थान, समय और निमित्तकी असमानतासे द्रव्यसंग्रहके कर्त्ता पूर्वोक्त श्रीनेमिचन्द्रसे भिन्न प्रतीत होते हैं। और—

"मग्गपभावणट्ठं पवयणभत्तिपवोहिदेन मया।
भणिदं गंथं पवरं सोहंतु वहुसुदा इरिया॥"

इस त्रिलोकसारके अन्तकी गाथाके और द्रव्यसंग्रहस्थ 'दव्वसंगहमिणं' इस अन्तिम काव्यके आशय और शब्दरचनाकी समानतासे तथा लोकप्रतीतिसे त्रिलोकसारादिके कर्त्ता जो हैं, वे ही द्रव्यसंग्रहके कर्त्ता भी सिद्ध होते हैं। ऐसी दशामें हम टीकाकारके कथनको अप्रमाण न कहकर, उसको युक्तिवलसे पूर्वोक्त श्रीनेमिचन्द्रके विषयमें ही सिद्ध कर डालना उचित समझते हैं।

यद्यपि मालवदेशस्थ धारानगरीका राजा भोजदेव विक्रमकी ११ वीं शताव्दीमें हुआ है। परंतु हमने सुना है, कि इतिहासकारोंको इस एक भोजके माननेसे संतोष नहीं होता हैं। अत: वे कभी कभी 'इस भोजके पहिले मालवाका राजा एक भोज (वृद्धभोज) और होगया है' ऐसी कल्पना करते हैं। वही कल्पना आज हमारे अन्त: करण में भी प्रविष्ट हुई है। और निम्नलिखित प्रमाणसे यह कल्पना कल्पना मात्र ही नहीं किन्तु सत्य प्रतीति होती है॥—

(१) सिद्धान्ताचार्यसे श्रीनेमिचन्द्रका ही ग्रहण करना चाहिये।

(२) आदिपुराणकी टिप्पणीमें जटाचार्यके स्थानमें सिंहनन्दी लिखा हुआ है। और एक संस्कृत गुर्वावली (आचार्यपट्टावली) में 'नेमिचन्द्रो भानुनन्दी सिंहनन्दी जटाधर:। वज्रनन्दी वज्रवृत्तिस्तार्किकाणां महेश्वर:॥ १॥' इस प्रकार सिंहनंदीके साथ जटाधर विशेषण देनेसे 'जटाचार्य' यह श्रीसिंहनन्दीका ही दूसरा नाम विदित होता है।

भगवज्जिनसेनाचार्य शककी ८ वीं शताब्दीमें हुए हैं। उन्होंने आदिपुराणके मंगलाचरणमें—

'चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे ।
कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाल्हादितं जगत् । १ ।'

इस श्लोकसे न्यायकुमुदचन्द्रोदयके कर्त्ता श्रीप्रभाचन्द्रआचार्यकी स्तुति की है । प्रभाचन्द्र आचार्यने न्यायकुमुदचन्द्रोदयमें "सूर्यका उदय तो हुआ, अब चन्द्रका उदय किया जाता है।" इस आशयका गद्य देकर, प्रमेयकमलमार्त्तण्डका कर्तृत्व अपनेमें ही स्वीकार किया है। और प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी समाप्तिमें निम्नलिखित पाठ देकर, भोजदेवके राज्यमें धारानगरीमें अपना निवास विदित किया है।

"इति श्रीभोजदेवराष्ट्रे श्रीमद्धारानिवासिना परमपरमेष्ठिप्रणामार्जितामलपुण्यनिराकृतकर्ममलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतपरीक्षामुखपदविवृतमिति ।"

इस प्रमाणसे शककी ८ वीं शताब्दीके पूर्व मालवदेशमें एक वृद्ध भोजका होना निश्चित होता है। और यदि वह वृद्ध भोज श्रीनेमिचन्द्रके समकाल (शककी ७ वीं शताब्दी) में ही हो तो कोई आश्चर्य नहीं। अब रही श्रीनेमिचन्द्रके मालवदेशमें अस्तित्वकी और सोमश्रेष्ठीके निमित्त द्रव्यसंग्रह बनानेकी वार्त्ता, सो यह असंभव नहीं। क्योंकि, जैननिर्ग्रन्थाचार्य सदा एक स्थानमें न रहकर ग्राम ग्राममें विहार करते हैं। और भव्यजीवोंमें उनका स्वभावसे धार्मिक अनुराग भी रहता है। अतः दक्षिणमें विहार करनेके पूर्व उक्त आचार्यने मालवदेशको सुशोभित किया हो, और जैसे श्रीचामुण्डरायकी प्रार्थनापर गोमट्टसारादि शास्त्र रचे। उसी प्रकार सोमश्रेष्ठीके निमित्त द्रव्यसंग्रह भी रचा हो तो कोई आश्चर्य नहीं है।

श्रीनेमिचन्द्रके गुरुजन.

उक्त महानुभाव श्रीनेमिचन्द्रके गुरु कौन २ थे? इस विषयकी अन्वेषणा करनेपर गोमट्टसारमें निम्नलिखित गाथायें मिली हैं।

"णमिऊण अभयणंदिं सुदसागरपारगिंदणंदिगुरुं ।
वरवीरणंदिणाहं पयडीणं पच्चयं वोच्छं ॥ १ ॥
णमह गुणरयणभूसणसिद्धंतामियमहब्धिभवभावं ।
वरवीरणंदिचंदं णिम्मलगुणमिंदणंदिगुरुं ॥ २ ॥
जस्सय पायपसाएण णंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो ।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरुं ॥ ३ ॥
वरइंदणंदिगुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्धंतं ।
सिरिकणयणंदिगुरुणा सत्तट्ठाणं समुद्दिट्ठं ॥ ४ ॥

अर्थात् 'मैं अभयनन्दीको, श्रुतसागरके पारगामी इंद्रनंदीको और श्रीवीरनंदीस्वामीको नमस्कार करके प्रकृतिप्रत्यय अधिकारको कहता हूं। १। गुणरूपी रत्नोंके भूषण और सिद्धान्तरूपी अमृत महोदधिसे उत्पन्न ऐसे श्रीवीरनंदी चंद्रमाको और निर्मल गुणोंके धारक श्रीइन्द्रनन्दी गुरुको नमस्कार करताहूं। २। जिनके चरणोंके प्रसादसे श्रीवीरनंदी और इन्द्रनंदीका शिष्य मैं

(नेमिचन्द्र) संसारसमुद्रके पार हुआ, उन श्रीअभयनन्दीको मैं नमस्कार करता हूं । ३ । श्री इंद्र-नन्दी गुरुके पास संपूर्ण सिद्धान्तको सुनकर श्रीकनकनंदी गुरुने सत्त्वस्थानका कथन किया । ४ ।

इन गाथाओंसे विदित होता है कि, श्रीअभयनन्दी, वीरनन्दी इंद्रनंदी और कनकनन्दी ये चारों महाआचार्य श्रीनेमिचन्द्रके गुरु थे ।

उक्त चारों आचार्य हमारे चरित्रनायकके गुरु हैं । इस कारण प्रसंगवश इनका भी सामान्य-रीतिसे वर्णन करना उचित समझते हैं । वह इसप्रकार है—

श्रीअभयनन्दी.

आप श्रीनेमिचन्द्रके ही गुरु नहीं थे, किन्तु श्रीवीरनंदीके भी गुरु थे । इसीलिये श्रीवीरनंदी-स्वामीने स्वविरचितचन्द्रप्रभचरितकाव्यकी प्रशस्तिमें आपको अपने गुरु सूचित किये हैं । और निम्नलिखित काव्यसे आपकी प्रशंसा की है ।

मुनिजननुतपादः प्रास्तमिथ्यापवादः
सकलगुणसमृद्धस्तस्य शिष्यः प्रसिद्धः ।
अभवदभयनन्दी जैनधर्माभिनन्दी
स्वमहिमजितसिन्धुर्भव्यलोकैकवन्धुः ॥

श्रीअभयनन्दीके रचे हुए बृहज्जैनेन्द्रव्याकरण १ श्रेयोविधान २ गोमट्टसारटीका विना सं-दृष्टिकी ३ कर्मप्रकृतिरहस्य ४ तत्त्वार्थसूत्रकी तात्पर्यवृत्ति ५ और पूजाकल्प ६ आदिशास्त्र सुने जाते हैं । परन्तु ये सब इन्हींके रचे हुए हैं, या अन्यके, यह निर्णय अभी नहीं हुआ ।

श्रीवीरनन्दी.

ये भी प्रसिद्ध जैनाचार्य हैं । इनके रचे हुए चन्द्रप्रभचरितकाव्य १ आचारसार २ और शि-ल्पिसंहिता ३ ये तीन शास्त्र हैं । इनमें शिल्पिसंहिता अभी तक देखनेमें नहीं आई । आचार सा-रमें आपने कईस्थलोंमें श्रीमेघचन्द्रत्रैविद्यदेवका अतिशय प्रशंसावाचक पद्योंसे स्मरण किया है । श्री-अभयनन्दीका कहीं भी नाम नहीं लिया । अतः अनुमान होता है कि, श्रीअभयनन्दीका शिष्यत्व स्वीकार करनेके पूर्व आप श्रीमेघचन्द्रके आश्रयमें रहे हैं । और आचारसारका निर्माण श्रीमेघचन्द्रके अस्तित्वमें किया है । आपके विषयमें निम्नलिखित महाप्रशंसावाचक पद्य हमको बाहुबलीचरित्रमें मिला है—

श्रीचम्पापुरसुप्रसिद्धविलसत्सिंहासनाधीश्वरो
भास्वत्पञ्चसहस्रशिष्यमुनितारासंकुलैरावृतः ।
श्रीदेशीगणवार्द्धिवर्द्धनकरो भव्यालिहृत्कैरवा-
नन्दो भाति सुवीरनन्दिमुनिचन्द्रो वाक्यचन्द्रातपैः ॥

---

(१) इन श्रीअभयनन्दी के गुरु श्रीगुणनन्दी आचार्य थे ।

(२) 'शिल्पिसंहिता' यह अतिशय उपयोगी शास्त्र है, अतः पाठकोंको इसके अन्वेषण करनेमें तत्पर रहना चाहिये ।

(३) आचारसारके कर्त्ता दूसरे वीरनन्दी हों तो भी कोई आश्चर्य नहीं । क्योंकि, एक नामके धारक कई जैनाचार्य हुए हैं ।

अर्थात् चंपापुरस्थ प्रसिद्ध सिंहासन (पट्ट)के स्वामी, पांचहजार मुनिशिष्यरूप तारागणसे वेष्टित, भव्यजीवोंके हृदयरूपी कुमुदको आनन्दित करनेवाले और देशीगणरूपी समुद्रके वृद्धिकारक ऐसे श्री वीरनंदीचंद्रमा अपनी वचनरूपी चंद्रिका (चांदनी) से शोभायमान हैं ॥

श्रीइन्द्रनन्दी.

इनकी प्रशंसा करनेवाले कई श्लोक हमारे देखनेमें आये हैं, परन्तु विस्तारभयसे निम्नलिखित दो श्लोक ही उद्धृत करते हैं ।

माद्यत्प्रत्यर्थिवादिद्विरदपटुघटाटोपकोपापनोदे
वाणी यस्याभिरामा मृगपतिपदवीं गाहते देवमान्या ।
स श्रीमानिन्द्रनन्दी जगति विजयतां भूरिभावानुभावी
दैवज्ञः कुन्दकुन्दप्रभुपदविनयः स्वागमाचारचञ्चुः ॥ १ ॥ (मल्लिषेणप्रशस्ति)
दुरितग्रहनिग्रहाद्भयं यदि भो भूरि नरेन्द्रवन्दितम् ।
ननु तेन हि भव्यदेहिनो भजत श्रीमुनिमिन्द्रनन्दिनम् ॥ २ ॥ (नीतिसार)

भावार्थ—परवादीरूपी गजेन्द्रोंके कोपको दूर करनेमें जिनकी देवोंकरके माननीय वाणी सिंहके समान आचरण करती है, वे अनेक भावोंको अनुभव करनेवाले श्रीकुन्दकुन्दाचार्यमें भक्तिके धारक, जिनमतानुकूल आचरणमें निपुण और दैवज्ञ ऐसे श्रीइन्द्रनन्दी जगत्में जयवंते रहें । १ । हे भव्यजीवो ! यदि तुमको पापरूपी ग्रहकी पीड़ासे भय है, तो बहुतसे राजाओंकरके वंदनीय ऐसे श्रीइन्द्रनंदी मुनिका सेवन करो । २ ।

उक्त महानुभावके रचे हुए शान्तिचक्रपूजा १ अंकुरारोपण २ मुनिप्रायश्चित्त (प्राकृतमें) ३ प्रतिष्ठापाठ ४ पूजाकल्प ५ प्रतिमासंस्कारारोपणपूजा ६ मातृकायंत्रपूजा ७ औषधिकल्प ८ भूमिकल्प ९ समयभूषण १० नीतिसार ११ और इन्द्रनंदिसंहिता प्राकृत १२ इत्यादि ग्रन्थ सुननेमें आये हैं । इससे जान पड़ता है कि, आप सिद्धान्तविषयमें ही प्रौढ नहीं थे, किन्तु चरणानुयोग और मन्त्रशास्त्रमें भी अतिशय निपुण थे । श्रीनेमिचन्द्रने जो प्रतिष्ठापाठ बनाया है, वह भी इन्हींके प्रतिष्ठापाठके आधारसे रचा हुआ है । और इनके पश्चात् होनेवाले प्रायः सभी पूजाप्रकरण और मन्त्रवाद संबंधी शास्त्रकारोंने आपका मत सादर ग्रहण किया है ।

श्रीकनकनन्दी.

इनके विषयमें हमको विशेष परिचय नहीं मिला परंतु जैसे–श्रीअभयनंदी, श्रीवीरनंदी, श्रीइन्द्रनंदी और श्रीनेमिचन्द्र ये चारों आचार्य सैद्धान्तिकचक्रवर्तीके पदसे भूषित थे. उसी प्रकार ये भी सैद्धान्तिकचक्रवर्ती थे.

---

(१) इनमेंसे **नीतिसार, अंकुरारोपण** तथा **इन्द्रनंदिसंहिता** ये तीन ग्रन्थ हमारे देखनेमें भी आये हैं । संहितामें दायभाग आदिका निरूपण है, परन्तु प्राकृत होनेसे यथार्थ अर्थका भान नहीं होता । यदि इसकी शुद्ध प्राचीन प्रति और टीका टिप्पणीकी प्राप्ति हो जाय तो उसके आधारसे जैनजातिके दायभाग आदि कई व्यवहारोंमें शास्त्रानुकूल सुधारा हो सकता है । अतः पाठकोंको इसके अन्वेषणमें खूब प्रयत्न करना चाहिये ।

(२) **श्रीनेमिचन्द्रप्रतिष्ठापाठ** की अपूर्ण पुस्तक हमनें देखी है । सुनते हैं दक्षिणमें पूर्ण पुस्तक विद्यमान है ।

इस प्रकार हम यथाप्राप्त प्रमाणोंद्वारा अतिसंक्षेपसे मूल ग्रन्थकार श्रीनेमिचन्द्रका परिचय पाठकोंको देकर, अब टीका और टीकाकार श्रीब्रह्मदेवजीके विषयमें कुछ लिखनेका मनोरथ करते हैं।

बृहद्द्रव्यसंग्रहकी टीका.

यह तीन हजार श्लोकोंकी संख्याको धारण करती है। इसमें ग्रन्थके नामानुसार केवल जीव पुद्गल आदि षट्द्रव्योंका वर्णन नहीं है, किन्तु षट्द्रव्योंके परिज्ञानको आत्मप्राप्तिका साधन दिखलाया गया है। इसलिये यह टीका अध्यात्मविषयका एक अच्छा ग्रन्थ है। प्रायः निश्चयनयकी मुख्यताको लिये हुए कथन होनेसे अध्यात्मविषय सबसे कठिन विषय है। अल्पज्ञोंकी तो शक्ति ही नहीं है कि, वे इसके मर्मको समझ सकें। और जो बुद्धिमान हैं, वे भी अनेकान्तनयमार्गके मर्मको न जाननेसे पदपदमें भ्रमान्वित होजाते हैं। यही नहीं, किन्तु कितने ही तो जैसे भाषाके प्रसिद्ध कवि और अध्यात्मरसके रसिक बनारसीदासजी केवल समयसारके पढ़नेसे 'करणीको रस मिट गयो भयो न आतम स्वाद। हुई बनारसिकी दशा जेम ऊंटको पाद। १।' इस दोहेके अनुसार एकवार व्यवहारचारित्रको जलांजुली दे चुके थे। उसी प्रकार एकान्तनिश्चयमार्गका अवलम्बनकर अनेकान्तमय जिनधर्मके शिखरसे पतनको प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु निश्चयके कथनके साथ २ ही व्यवहारका कथन भी विद्यमान होनेसे इस टीकामें 'सोना और सुगंध की कहावत चरितार्थ होती है। और इसके पढ़नेसे भ्रम उत्पन्न होनेके बदले अनेक भ्रम भग जाते हैं। अतः अध्यात्ममहलमें चढ़नेके लिये इस टीकाको प्रथम सोपान कहा जावे तो कोई अत्युक्ति नहीं है। इसमें प्रसंगवश बहुतसे उपयोगी विषयोंका वर्णन हैं, जोकि आपको विषयसूचीके अवलोकन करनेसे विदित होगा। संस्कृत इसमें ऐसा सरल है कि, जिससे सरल संस्कृत दूसरा बन नहीं सकता है। और प्रकृत विषयकी पुष्टिके लिये यथास्थान 'गोमट्टसार, त्रिलोकसार, पञ्चास्तिकाय, तत्त्वानुशासन, लोकविभाग, पञ्चनमस्कारमाहात्म्य और यशस्तिलकचंपू आदि प्रसिद्ध शास्त्रोंके प्रमाण भी उक्तं च से लिखे हुए हैं। जिससे किसी भी कथनमें शंका उत्पन्न नहीं होती है। अत एव यह बृहद्द्रव्यसंग्रहकी टीका–दिगम्बरजैनपरीक्षालयीय पंडितपरीक्षाके पठनक्रममें नियत है। और जयपुरकी सरकारी संस्कृतयूनीव्हर्सिटीकी उपाध्याय परीक्षामें शीघ्र ही नियत होने वाली है।

श्रीब्रह्म–देवजी.

हमको उक्त टीकाके कर्त्ता महाशयका नाम देवजी और ब्रह्म—यह पदसूचक शब्द जान पड़ता है। जिसको नामके पहिले लगा देनेसे 'ब्रह्म–देवजी' ऐसा शब्द बन गया है।

---

(१) **तत्त्वानुशासन, लोकविभाग** और **पञ्चनमस्कारमाहात्म्य** ये तीनों ही शास्त्र हमको उत्तम और अतिशय उपयोगी जान पड़ते हैं। परन्तु खेद है—कि इनका पता नहीं। यदि प्रतिष्ठा आदिमें लाखों रुपये लगानेवाले धनाढ्य भाई जिनवाणीको श्रीजिनेन्द्रके समान ही समझकर उसकी भक्तिके लिये भी धन खर्च करके समस्त सरस्वतीभंडारोंका सूचीपत्र बनवालेवें तो राईमें सुमेरु मिल जावै और जैन समाजका अज्ञानदारिद्र्य भग जावै।

(१) 'ब्रह्म' इस शब्दसे गृहत्यागी ब्रह्मचारी रूप अर्थको ग्रहण करना चाहिये।

श्रीब्रह्म-देवजीका समय.

यद्यपि श्रीब्रह्मदेवजीने अपने सद्भावसे कब किस वसुधामंडलको मंडित किया ! इत्यादि जिज्ञासाओंकी पूर्त्तिके लिये हमारे पास कोई भी प्रबल प्रमाण नहीं है । तथापि वृहद्द्रव्यसंग्रहटीका पृष्ठ १८२ में बारह हजार श्लोकों प्रमाण पंचनमस्कारमाहात्म्य नामक ग्रन्थका उल्लेख है । अतः विदित होता है कि, पञ्चनमस्कारमाहात्म्यके कर्त्ता मालवदेशस्थ-भट्टारक श्रीसिंहनन्दीके समकालमें अथवा पश्चात् आपका प्रादुर्भाव हुआ है । और प्रसिद्ध भट्टारक श्रीशुभचन्द्रजीने स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी टीकामें द्रव्यसंग्रहकी टीकाका कितना ही पाठ उद्धृत किया है । अतः यह निश्चित होता है कि-भट्टारक श्रीशुभचन्द्रजीके पूर्व आपका सद्भाव था ।

भट्टारक श्रीसिंहनन्दी सूरीश्रीश्रुतसागरके समकालीन थे । और श्रीश्रुतसागरजीका अस्तित्व विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके पूर्वार्धमें अर्थात् सं १५२५ में कई प्रमाणोंसे सिद्ध है । भट्टारक श्रीशुभचन्द्रजीने स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षाटीकाकी समाप्ति विक्रम सं. १६१३ में की है । इस कारण विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके मध्यमें किसी भी समय श्रीब्रह्मदेवजीने अपने अवतारसे भारतवर्षको पवित्र किया । ऐसा दृढ अनुमान किया जाता है ।

श्रीब्रह्मदेवजीके रचे हुए शास्त्र.

हमारे पास जो शास्त्रकारोंकी नामावली है, उसमें लिखा हुआ है कि, ब्रह्मदेवजीने परमात्मप्रकाशकी टीका १. वृहद्द्रव्यसंग्रहकी टीका २. तत्त्वदीपक ३. ज्ञानदीपक ४. त्रिवर्णाचारदीपक ५. प्रतिष्ठातिलक ६. विवाहपटल ७. और कथाकोश ८. ये आठ शास्त्र रचे हैं । इनके अतिरिक्त हमको समयसारकी तात्पर्यवृत्ति भी इन्हींकी रची हुई जान पड़ती है । क्योंकि उसके और द्रव्यसंग्रहकी टीकाके अन्तका पाठ प्रायः समान है ।

श्रीब्रह्म-देवजीकी रुचि.

यद्यपि आपकी रुचि अध्यात्मविषयमें विशेष थी । तथापि आप निश्चयसाधक व्यवहार चारित्रसे पराङ्मुख नहीं थे । अत एव आपने जैसे परमात्माप्रकाशटीका आदि अध्यात्मशास्त्रोंका निर्माण किया है । उसी प्रकार त्रिवर्णाचारादि व्यवहारशास्त्रोंको भी रचे हैं । जो लोग निश्चय और व्यवहारमार्गमें एकान्तके धारक हो रहे हैं । उनको आपका अनुकरण करके सन्मार्गमें प्रवृत्ति करनी चाहिये ।

उपसंहार.

इस प्रकार मूल और टीकाकारके विषयमें जो कुछ मुझको प्रमाण मिले । उनके अनुसार संक्षेपसे यह प्रस्तावना लिखकर पाठकोंको समर्पण की है । यदि इसमें प्रमाद अथवा जैनइतिहाससंबंधी यथोचित साधनोंके अभावसे कोई त्रुटि रह गई हो तो विज्ञ पाठक उससे सूचित करें । इत्यलम्—

स्थान—जौहरी बजार. बंबई.
आश्विन शुक्ला ७ रविवार
श्रीवीरनिर्वाण सं. २४३३

श्रीमज्जैनाचार्यपादपद्माराधक—श्रीजवाहरलाल शास्त्री.

अनुवादककी प्रार्थना.

सज्जन-विद्वज्जन-पाठक महाशय !

आज मैं आपके करकमलोंमें इस सटीकबृहद्द्रव्यसंग्रहके अभूतपूर्व हिंदीभाषानुवादको समर्पण करके कृतार्थ होता हूं। इस सटीकबृहद्द्रव्यसंग्रहकी प्रशंसा प्रस्तावनामें बहुत कुछ लिखी जा चुकी है। और इसमें जिन २ उपयोगी विषयोंका वर्णन है, उनका सूचीपत्र भी पृथक् प्रकाशित है। अब यहांपर विशेष वक्तव्य यह है, कि, इस अतिशय लाभप्रद ग्रन्थरत्नका इस अनुवादके पूर्व कोई अनुवाद नहीं था। जिसके न होनेका कारण यह है, कि, जैनसमाजमें संस्कृतशास्त्रोंके अनुवाद (वचनिकायें) रचकर, उनके द्वारा सर्वसाधारणका उपकार करनेवाले श्रीटोडरमल्लजी, व श्रीजयचन्द्ररायजी आदि विद्वान् बहुत ही अल्पसंख्याके धारक हुए हैं। उनसे अपने पर्यायमें जितने शास्त्रोंकी वचनिकायें बन सकीं, उतनी ही वे बनाने पाये। अधिकके लिये विवश रहे। क्योंकि, प्राकृत और संस्कृत भाषामय दो अपार पारावार हैं। इनमें इस लोक और पर लोकसंबन्धी हितोपदेशरूप प्रकाशके धारक तथा पूर्वापरविरोधादि दोषोंसे रहित होनेके कारण निर्मल ऐसे लक्षावधि जैनग्रन्थरत्न विद्यमान हैं। उन सबका देशभाषामें अनुवाद कर देना अथवा अवलोकन करना तो दूर रहा, सूचीपत्र बनाना भी दुःसाध्य है। ऐसी दशामें इस ग्रन्थरत्नका भी वचनिकासे वंचित रह जाना सुसंभव ही था।

आपके पुण्यप्रभावसे जयपुरस्थ पूर्वविद्वानोंद्वारा स्वीकृत वचनिकानिर्माणरूपकार्यका नाममात्र निर्वाह करनेके लिये जो कुछ सामर्थ्य मुझमें उत्पन्न हुआ है। उसीका यह फल है, कि, मैं २५ वर्षकी अवस्थामें इस दुरवबोध अध्यात्मविषयक महाशास्त्रका सर्वतः प्रथम अनुवाद रचकर, उसको आपके करकमलोंमें समर्पित करता हूं।

यद्यपि मुझको पूर्ववचनिकाकारोंका अनुकरण करके ढूंढारीभाषामें ही अनुवाद करना उचित था। परन्तु समयके फेरसे पूर्ववचनिकाओंका भी हीनाधिक्यपूर्वक हिंदीभाषामें अनुवाद होता हुआ देखकर, आधुनिक जैनसमाजके संतोषार्थ और अन्य अनुवादकोंको पिष्टपेषणजनित परिश्रमसे रक्षणार्थ मैंने सर्वदेश प्रचलित हिंदीभाषामें ही अनुवाद किया है।

पूर्ववचनिकाकारोंने स्थल २ में भावार्थ देकर कठिन विषयको स्पष्ट भी किया है। परंतु भावार्थके देनेमें बुद्धिको विशेष स्वातंत्र्य मिलता है। और उस स्वातंत्र्यमें ग्रन्थकारके, प्रकरणके, व शास्त्रके विरुद्ध लिखे जानेका अनुवादसे भी अधिक भय रहता है। इस कारण मैंने प्रायः भावार्थ नहीं दिया है।

कितने ही विशेषज्ञ मनुष्य हिंदीभाषाको भी संस्कृतभाषाकी लघुभगिनी (छोटी बहन) बनानेके प्रयत्नमें लगे हुए हैं। अर्थात् जैसे सर्वनामशब्दोंका प्रयोग करके और भिन्न २ पदोंको समासशृंखलामें बांध करके संस्कृतको संक्षिप्त कर लिया जाता है। उसी प्रकार वे हिंदीभाषाको भी संक्षेपरूपमें लाना चाहते हैं। परंतु शास्त्रीयविषयमें वह संक्षेप मुझको रुचिकर नहीं है। क्योंकि–जैसे तारके संक्षिप्त और संकेतित शब्दोंसे उसके आशयज्ञ ही लाभ उठा सकते हैं, उसी प्रकार जो शास्त्रके रहस्यज्ञ हैं, उन्हींको उस संक्षिप्तभाषासे लाभ मिल सकता है। इसलिये सर्वसाधारण कभी कभी अनर्थमें प्रवृत्त होकर लाभके बदले हानिके भागी हो जांय तो कोई आश्चर्य नहीं। इसी कारण मैंने यथाशक्य समसितपदोंको भिन्न २ करके अनुवाद किया है।

एकभाषाके शब्दोंका दूसरी भाषाके शब्दोंमें पूर्ण अनुवाद करके उस अनुवादको सर्वगुणसंपन्न और रुचिकर वाक्यपद्धतिमें ले आना कठिन ही नहीं ? किन्तु प्रायः असंभव है। अत एव कितने ही अनुवादक मूलके आशयको ग्रहण करके उसको मनोहर भाषामें लिख डालते हैं। परन्तु उससे 'किस पद व वाक्यका क्या अनुवाद है' इस जिज्ञासामें सर्वसाधारणको हताश होना पड़ता है। इसकारण मैंने यह अनुवाद प्रायः मूलके अनुसार लिखा है और जहांपर भाषा अतिशय विरस होती थी, वहींपर मूलके आशयको ग्रहण किया है।

यद्यपि मैंने सावधानतापूर्वक तीन पुस्तकोंके आधारसे मूलको शुद्ध करके, तदनुसार यह अनुवाद लिखा है। तथापि मूलमें अशुद्धता रह जाना संभव है। अतः अशुद्धमूलके कारण यदि अनुवाद यथार्थ न हुआ हो तो इस दोषका भागी मैं नहीं हूं। छपते समय कापी देनेकी शीघ्रतामें कितना ही प्राकृतका उक्तं च पाठ यथार्थ अनुवादसे वंचित रह गया था। उसको अति परिश्रमसे स्पष्ट करके विशेष सूचनामें लगा दिया है। एवं प्रमादसे अथवा अनुपस्थितिमें बहुतसे फार्मोंके छपनेसे अन्य जो कितनी ही अर्थांशसंबन्धी क्षुद्र अशुद्धियां रह गई थीं, उनको भी यथाशक्य शुद्धिपत्रद्वारा शुद्ध कर दी हैं। तथापि जो दुर्जन मनुष्य हैं, वे अपने स्वभावानुकूल अनुवादमें वचनभेद–लिङ्गभेद–दूरान्वय–असंबद्ध–पुनरुक्ति–भाषावैरस्य और विरामादि चिन्होंकी अनुचित योजना आदि तुच्छ दोषोंको ग्रहण करके, उनकी कड़ी समालोचना किये विना न रहैंगे। परंतु यदि वे समालोचनाके परिश्रमको न करके, उन दोषोंसे मुझे सूचितकर देंगे, तो मैं विशेष कृतज्ञ होकर द्वितीयावृत्तिमें उन दोषोंको निकाल डालनेका प्रयत्न करूंगा।

आजकल जैनधर्मज्ञ विद्वानोंके आलस्य अनवकाश तथा निस्सीम सज्जनत्वके कारण प्रायः कितने ही पुस्तकरचयिता निरङ्कुश होकर धर्म व मूलसे विरुद्ध पुस्तकें लिखने लगे हैं। ऐसी पुस्तकोंसे यद्यपि इस समय विशेष हानि न होगी। परंतु ये ही कालान्तरमें भाषाके रोचक मनुष्योंके प्रमाणताको प्राप्त होकर धर्म व मूलका तिरस्कार करनेमें समर्थ हो जावेंगी।

इस स्थलमें कोई कह सकते हैं कि यदि ऐसा है तो वह प्रबन्ध किया जावे कि जिससे नवीन पुस्तकोंका निर्माण न हो सके। परन्तु यह अनुचित है। क्योंकि, पूर्वशास्त्रकार सभी छद्मस्थ थे। वे यदि उक्त भयसे डर कर शास्त्र न रचते, तो, आज जो समाजमें धर्म व ज्ञानका उद्योत है, वह किसके आधार पर होता। अतः नवीन पुस्तकोंका न बनाना तो सर्वथा हानिकारक है। हां पुस्तक रचयिता और धर्मके विशेषज्ञोंको निरन्तर यह ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि, कोई पुस्तक विरुद्ध न बन जावे।

यद्यपि मैंने यह अनुवाद बहुत विचारपूर्वक लिखा है। अतः सहसा अविश्वासका स्थान नहीं है। तथापि सर्वथा निर्दोष है, यह भी मैं नहीं कह सकता। इसलिये समस्त विद्वानोंसे प्रार्थना करता हूं कि, वे अपने आलस्यको त्याग कर और मुझपर अनुग्रह करके दोपदर्शक-दृष्टिसे इस समस्त अनुवादको मूलसे मिलावें। और जो कुछ विरुद्ध प्रतीत हो, उससे मुझे सूचित करैं। जिससे कि यह अनुवाद शुद्ध कर लिया जावे और फिर इस अनुवादकी निर्दोषतामें किसीप्रकारका संशय न रहै।

श्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डलकी तरफसे इस बृहद्द्रव्यसंग्रहका अनुवाद वैय्याकरणाचार्य श्री पं० ठाकुरप्रसादजीशर्माद्वारा कराया गया था। और मुझको उसके संशोधनका भार दिया गया था। परंतु कई विशेषकारणोंसे उस अनुवादकी अपेक्षा न रख कर मुझे सर्वथा नूतन अनुवाद करना पड़ा। इसलिये इस अनुवादजनित यश तथा अपयशका भागी मैं ही हूं।

अन्तमें जिनकी अहर्निश प्रेरणा और अनुग्रहसे सद्विद्याको प्राप्त करके मैं इस अनुवादके करनेमें समर्थ हुआ, उन श्रीमती **जयपुरस्थजैनमहापाठशालाके** प्रबन्धकर्त्ता सौम्यमूर्त्ती सद्विद्यारसिक **पूज्यश्री पं० भोलेलालजीशेठीको**, जिनके अनुरोधसे इस द्रव्यसंग्रहके अनुवादन तथा संशोधनकर्ममें प्रवृत्त हुआ, उन **श्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डलके व्यवस्थापक महोदयोंको**, और जिन विद्वानोंने इसके अनुवादन व संशोधनमें सहायता दी है, उन सबको कोटिशः धन्यवाद देकर इस प्रार्थनाको समाप्त करता हूं। इत्यलम्।

विजयादशमी बुधवार वि. सं. १९६४,
ता० १८–१०–०७ ईसी.

हस्ताक्षर विज्ञानुचर अनुवादक जयपुरनिवासी—
श्रीजवाहरलाल शास्त्री. दि. जैन.

अथ विषयसूची प्रारभ्यते ।

इति विषयसूची समाप्ता ।

अथ

बृहद्द्रव्यसंग्रहस्य सामान्यं शुद्धिपत्रम्।

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पृष्ट	पंक्ति
मंगलनि-	मंगलणि-	५	३१
सत्थ आयरिओ ॥	सत्थमायरिओ ॥	६	१
व्याख्याताम्	व्याख्यातु	,,	२
सान्तश्चाणुः	सान्तश्चायुः	१०	९
चिदानन्द	सदा आनंद	१२	१६
तत्त्वज्ञानके	तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके	,,	१७
-क्षये ज्ञानं चारित्रा-	-क्षयः ज्ञानचारित्रा-	१३	७
"पच्चक्खपरोभेयं	"पच्चक्खपरोक्खभेयं	१४	३
सांव्यवहारिक प्रत्यक्षका	संव्यवहारका	,,	१४
जो विकल्प-	जो रागआदि विकल्प-	,,	२५
अपेज्ञा	अपेक्षा	,,	२८
विवक्षाया अभावः	०	१५	२८
छद्मस्थज्ञानदर्शनकी	छद्मस्थके ज्ञान और दर्शनकी अपूर्णताकी	१६	१२
और भी	और	,,	१९
कथन करनेको अभिमत जो पदार्थ है, उस पदार्थके ज्ञानरूप वस्तुके	पदार्थके	,,	२०
पडिण्यत्तं	पडिएयत्तं	१७	१३
मूर्त्त है	मूर्त्त है इसकारण कर्मबंध होता है	,,	२४
जीवने संसारमें	जीवने अनादिसंसारमें	,,	२८
जैसे-	सो ही दिखलाते हैं कि-	,,	२८
उपचरित	अनुपचरित	,,	३०
निष्क्रिय, परमभावनासे	और निष्क्रिय परम चैतन्यकी भावनासे	१९	३
शुद्ध अशुद्ध भावोंका जो परिणमन है, उन्हींका	परिणमनको प्राप्त होते हुए शुद्ध अशुद्ध भावोंका ही	,,	१४
परिणमनोंको	परिणमनोंका कर्तृत्व	,,	१५
क्योंकि	जिस कारणसे कि	,,	१६
विउव्वियमारणंतिउ-	वेओ-व्वियमारणांतिओ	२१	११
ग्राह्य	ग्राह्यं	,,	३५
प्रकारका विकार (कामादिजनितविकार) उत्पन्न करने वा करानेके	प्रकारकी विक्रिया करनेके	२२	२७
वहांपर	उस प्रदेशको स्पर्श करनेके लिये	,,	३०
उसके	उसके मूलशरीरको न छोड़कर	२३	१
( )	(विलाव)	,,	४

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पृष्ठ	पंक्ति
बौद्धकी	बौद्धमतकी	२४	१
और भी	और यहां विशेष यह है कि,	,,	,,
हुए जीव	हुए छद्मस्थ जीव	२५	३
होते हैं.	जीव होते हैं. कैसे होते हैं?	,,	६
वनस्पति जीव	वनस्पतिरूप होते हैं	,,	७
उदयसे स्थावर,	उदयसे स्थावर और	,,	८
शंख, कृमि	शंख, सीप, कृमि(लट)	,,	१२
परमात्मस्वरूप उसकी	परमात्मा है उसके स्वरूपकी	,,	१८
उसी पूर्वोक्तप्रकारसे परमात्मामें	उस परमात्मामें ही	,,	२२
कममेण	क्रमेण	२६	१०
शेप जीवोंके	शेषजीवोंके अर्थात् विकलेंद्रियों और असंज्ञी पंचेंद्रियोंके	,,	२२
मिच्छासासणमिस्सो अविररामोय	मिच्छो सासणमिस्सो अविरदसम्मो य	२७	२४
सजोगिकेवलिजिणो अजोगीया ।	सजोगकेवलिजिणो अजोगी य ।	,,	२५-२६
गुणठ्ठाणाणि	गुणठाणाणि	,,	२६
देसविरदो य	देसविरदेदे	२८	१२
सम्मत्तसाणि	सम्मत्त सासण	२९	८
-भयानुभव-	-भयानुभय-	,,	१४
औदारिकौदारिक-	औदारिकौदारिकमिश्र-	,,	,,
स्वरूप है	स्वरूप जीवत्व है	३१	२७
ध्येयरूप सदा अविनाशी रहता है । कारण कि वह द्रव्यरूप है	शुद्धपारिणामिकभाव द्रव्यरूप है इस कारण अविनाशी है ।	३५	४-५
कहा हुआ स्वरूप	कहे हुए स्वरूपका धारक	,,	१४
जो तीन सिद्धान्त हैं उनके बीजपदकी	तीन सिद्धान्तोंका जो बीजपद है उसको	,,	१४-१५
आत्माके	आत्माके ज्ञानके	३८	२३
मूल प्रकृति	मूल कर्म प्रकृतियोंके	,,	,,
उत्तर प्रकृतियोंके	उत्तर कर्मप्रकृतियोंके	,,	२४
है । अति घोर	है । कोईभी स्वरूपसे च्युत करने का कारणके उत्पन्न होनेपर अति घोर	३९	५
सेसाहु	सेसा हु	४३	११
दन्येऽप्यथागमोक्त-	दन्येऽप्यागमोक्त-	४५	२७
सम,चतुरस्र,(चतुष्कोण)न्यग्रोध,सात्विक,	समचतुरस्र, न्यग्रोध, सातिक, कुब्ज,	४६	२२
अथ धर्मद्रव्य-	अथाधर्मद्रव्य-	४८	१३
ठाण जुवाण	ठाणजुदाण	,,	१५
ठहरता है	ठहराता है	,,	१९
सुखबोधार्थं कथितमास्ते	०	४९	२५
मोमाभिधानो	सोमाभिधानो	५०	२१
अनन्तगुणे	उनसे भी अनन्तगुणें	५१	९

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पृष्ठ	पंक्ति
तह्मा या काय	तह्मा कायाय	५९	७
पुग्गलकारण जीवा खंधा खलु काल कारणदु"	"पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणादु"	६१	२२
धर्मद्रव्यके	धर्मद्रव्यको गतिका सहकारी कारण	६२	११
प्रथमोन्तराधिकारः	प्रथमाधिकारः	६४	२७
द्रव्यप्रमाणसे	द्रव्याश्रय प्रमाणसंख्यासे	६५	२
दृष्ट हैं	कहे हैं	,,	३
मिदरं हि यपवेसं	मिदरेहि अपवेसे	,,	२३
—जनितं पर्यायान्तरं परिणतिं	—जनितपर्यायान्तरपरिणतिं	७०	१३
वुद्धिदरसी विवरीउ वंध्न—	वुद्धदरसी विवरीओ वंम—	७६	२७–२८
इंदिपणिद्दाय	इंदिय णिद्दा य	,,	३१
भंडयारीणं	भंडयारीणं	८०	१८
"गुणस्थानोंमें	गुणस्थानोंमें"	८४	१४
अभेद हो तो	अभेद वा भेद हो तो	८५	२३
आचार	मूलाचार	८८	९
सपूर्वं अपूर्वं	गृहीत, अगृहीत	९०	११–१२
यहांपर	जहांपर	,,	२०
"अत्थि	"संति	९२	१०
भावकंलकसुपउरा णिगोदवासं न मुचंति।	भावकलङ्कसुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति।	,,	११
तथान्यत्वानुप्रेक्षां	अथान्यत्वानुप्रेक्षां	९४	१८
किंतु	और	९६	७
अधे	आधे	९९	६
णिस्सीरदो	णिस्सरिदो	१०२	१७
—पर्यन्तमा—	—पर्यन्तम—	१०३	२२
लोभोंके	लोमोंके	१०४	३१
सत्तरिलाखकोडि छप्पनहजार ये वासगणनासे	सत्तरिलाख छप्पनहजारकोडिवर्ष जितना	११४	१३
सीदि	सीदी	११७	२०
चन्द्रस्याचन्द्रेण	चन्द्रस्य चन्द्रेण	११८	२७
—एक्केकिंदिय—	एक्केकिंदय—	१२३	४
समुदायसे ६३	समुदायसे ऋजुआदि नामके धारक ६३	,,	१४
विमान हैं ये	विमान हैं वे, ये	१२४	२
सन्नाओ य तिलेस्सा इंदियवसदाय अट्टरुद्दाणि। नाणं च दुप्प उत्तं	सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि। णाणं च दुप्पउत्तं	१२५	१६
नित्यनिगोदवनस्पतिमें	नित्यनिगोदमें	१२७	२३–२४
चेति	वेति	१२९	५
संज्झणदुग्गउ अविहारो	संझूणदुग्गऊय विहारो	,,	११–१२
जो आत्मरूप	जो निजशुद्ध आत्मस्वरूप	,,	१९
अथवा व्यवहार	अथवा उसके साधक व्यवहार	१३०	१
वैणइया हुंति वत्तीसं	वेणइया हुंति वत्तीसा	१३१	८

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पृष्ठ	पंक्ति
अपरिणिडुग्विन्नेसु अवध	अपरिणिदुच्छिन्नेसु य बंध	,,	९
और... ... जो है	और जो कर्मपनेसे अपरिणत तथा निर्जीर्ण हैं	,,	२७
कर्तृ कम्मपुद्गलं	कर्तृ "कम्मपुग्गलं"	१३२	१२
विले-पडं तस्स	विले पडंतस्स	१३३	२९
वर्षोंमें	जन्मोंमें	१३४	१०
अन्यद्रव्या-	अन्यद्रव्या-	१३५	२८
खय उवसमिय विसोही देसणया उग्गकरणलद्धीय। चत्तारिविसामण्णा	खयउवसमियविसोही देसणपाउग्ग-करणलद्धी य। चत्तारि वि सामण्णा	१३६	८
तो	नौ ९	१३७	२२
भावनमस्कारतो	भाव नमस्काररतो	१३८	१७
द्वितीयोऽन्तराधिकारः	द्वितीयाधिकारः	१३९	१५
भोगाकाङ्क्षप्रभृति	भोगाकाङ्क्षाप्रभृति	१४३	८
भिन्न करना अथवा जानना	भिन्न जानना	,,	२०
होने पर	होने पर ज्ञान	१४४	७
सदृशं संशय-	सदृशसंशय-	,,	१४
भावेनैव	भावनैव	१४९	१५
निःशंका	निःशंक	१५०	११
क्षुद्राविद्या	क्षुद्रविद्या	१५२	११
द्वारोऽमूढ	द्वारेऽमूढ	,,	१२
संकल्पके विवरणरूपसे	×	१५३	५
पैग	पैंढ	१५५	५
इच्छीसु। पुण्णिदरेण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णो	इत्थीणं। पुण्णिदरे णहि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे	१५७	३
त्रिलोकसारे जिनान्तर	त्रिलोकसारजिनान्तर	१६०	१५
आचाराराधना	मूलाचार भगवती आराधना	,,	२५
करते	करने	१६५	९
सुखहेदुं	मोक्खहेदुं	१७५	१
प्रकारसे मोक्षकारणोंको	प्रकारके मोक्षकारणको	,,	१५
मन्त्रावाक्यस्थं	मन्त्रवाक्यस्थं	१७९	३०
अन्यका भी जोकि	अन्य भी	१८३	१४
—वाच्यान्तरा यस्य	—वाच्यान्तरायस्य	१८४	२६
यथोक्तं	अथोक्तं	१८६	२७
यादे	आदे	१९४	२२
उवज्झाया साधु पंचपरमेट्ठी। तेवि हु चिट्ठहि यादे	उवज्झायासाहुपंचपरमेट्ठी। ते वि हु चिट्ठहि आदे	१९५	२०
तोकां	स्तोकां	२०६	७
त्यक्ता	त्यक्त्वा	,,	१४

इति शुद्धिपत्रं समाप्तम्.

विशेषसूचना।

शुद्ध अनुवाद.

दस सण्णीणं पाणा सेसेगूणंति मण्णवे णूणा ॥
पज्जत्ते इदरेसु य सत्तदुगे सेसगे ऊणा ॥ २ ॥ पृष्ठ २६ पंक्ति १३.

इस गाथाका भावार्थ पृष्ठ २७ की पंक्ति १ से ५तक में है, उसके स्थानमें निम्नलिखित भावार्थको शुद्ध समझना चाहिये। —

पर्याप्त अवस्थामें संज्ञी पंचेन्द्रियोंके १० प्राण, असंज्ञी पंचेंद्रियोंके मनके विना ९ प्राण, चोइंद्रियोंके मन और कर्णके विना ८ प्राण, तेइंद्रियोंके मन, कर्ण और चक्षुके विना ७ प्राण, वेइंद्रियोंके मन, कर्ण, चक्षु और घ्राण के विना ६ प्राण और एकेंद्रियोंके मन, कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना तथा वचनवलके विना ४ प्राण होते हैं। अपर्याप्तअवस्थाके धारक जीवोंमें संज्ञी तथा असंज्ञी इन दोनों पंचेन्द्रियोंके श्वासोश्वास, वचनवल और मनोवलके विना ७ प्राण होते हैं और चौइंद्रिय आदि एकेन्द्रियपर्यंत शेष जीवोंके क्रमानुसार एक एक प्राण घटता हुआ है। २।

"एयंतवुद्धदरसी" इत्यादि— पृष्ठ ७६ पंक्ति २७–२८।

इस गाथाका अनुवाद पृष्ठ ७७ की पंक्ति २३–२४–२५ में है। उसके स्थानमें निम्नलिखित अनुवादको शुद्ध समझना चाहिये।—

"वौद्धमतवाले आदि एकान्तमिथ्यात्वी हैं १ यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण आदि विपरीतमिथ्यात्वके धारक हैं २ तापस आदि विनयमिथ्यात्वी हैं ३ इंद्राचार्य आदि संशयमिथ्यात्वी हैं ४ और मस्करी? आदि अज्ञानमिथ्यात्वी ५ हैं"

"इंदुरवीदो रिक्खा" पृष्ठ ११९ पंक्ति १६—१७।

इस गाथाका अनुवाद पृष्ठ ११९ की ३२ वीं और पृष्ठ १२० की १–२ पंक्तिमें है, उसके स्थानमें निम्नलिखित अनुवादको शुद्ध समझना चाहिये।—एक मुहूर्त्तमें चंद्र १७६८ सूर्य १८३० और नक्षत्र १८३५ गगनखंडोंमें गमन करते हैं इसलिये अधिकभागोंसे नक्षत्रखंडोंके भाग देनेसे जो मुहूर्त्त प्राप्त होते हैं, उन मुहूर्त्तोंको चंद्र और सूर्यके आसन्न मुहूर्त्त जानने चाहियें। अर्थात् उतने मुहूर्त्तों तक चंद्रमा और सूर्यकी एक नक्षत्र पर स्थिति जाननी चाहिये।

अवशिष्ट अनुवाद.

इंदियकायाऊणिय पुण्णापुण्णे सुपुण्णगे आणा।
वेइंदियादिपुण्णेसु– वचीमणो सण्णि पुण्णे य। १। पृष्ठ २७ पंक्ति ११–१२।

इस गाथाका अनुवाद पृष्ठ २७ पंक्ति १ में नहीं छपा है। इसलिये वहांपर निम्नलिखित अनुवाद लगा लेना चाहिये।—

"इंद्रिय, काय और आयु ये तीनों प्राण पर्याप्त अपर्याप्त इन दोनों जीवोंमें होते हैं। उश्वासनिश्वास प्राण पर्याप्तजीवोंमें ही होता है। वेइंद्रिय आदि पर्याप्तोंमें वाग्वल प्राण होता है और मनोवल प्राण पर्याप्तसंज्ञीपंचेन्द्रियोंमें ही होता है। १।

"गुणजीवापज्जत्ती" इत्यादि गाथाका निम्नलिखित अनुवाद पृष्ठ ३५ पंक्ति १४ में लगा लेना चाहिये।

"गुणस्थान १४; जीवसमास ९८, पर्याप्ती ६, प्राण १०, संज्ञा ४, गतिमार्गणा ४, इंद्रियमार्गणा ५, कायमार्गणा ६, योगमार्गणा १५, वेदमार्गणा ३, कषायमार्गणा ४, ज्ञानमार्गणा ८, संयममार्गणा ७, दर्शनमार्गणा ४, लेश्यामार्गणा ६, भव्यमार्गणा २, सम्यक्त्वमार्गणा ६, संज्ञीमार्गणा २, आहारमार्गणा २, उपयोगमार्गणा २, इस प्रकार बीस प्ररूपणा कही हैं।"

'सोलसपणवीसणभं' इत्यादि गाथाका निम्नलिखित अनुवाद पृष्ठ ८४ पंक्ति १५ में योजित करलेना चाहिये।—

"मिथ्यादृष्टी गुणस्थानमें १६, सासादनमें २५, मिश्रमें कुछ नहीं, असंयतमें १०, देशसंयतमें ४, प्रमत्तमें ६, अप्रमत्तमें १, अपूर्वकरणनामक ८ वें गुणस्थानके जो ७ भाग हैं, उनमें प्रथमभागमें २, छटवें भागमें ३०, और सप्तमभागमें ४, अनिवृत्तिकरणमें ५, सूक्ष्मसांपरायमें १६ उपशान्तकषाय और क्षीणकषायमें कुछ नहीं, सयोगकेवलीमें १ और अयोगकेवलीमें कुछ नहीं। इस प्रकार कर्मोंकी प्रकृतियें बंधव्युच्छिन्न हैं अर्थात् उनका ऊपरके गुणस्थानोंमें बंध नहीं है। १।"

"तीसं वासा जम्मे" पृष्ठ १२९की पंक्ति ११—१२।

इस गाथाका अनुवाद पृष्ठ १३० की पंक्ति २ में निम्नलिखित प्रकारसे समझ लेना चाहिये।

"जो जन्मसे ३० वर्ष तककी अवस्थाको सुखमें व्यतीत करके वर्षपृथक्त्व (८ वर्ष) पर्यन्त तीर्थंकरके चरणोंमें प्रत्याख्यानको पढ़कर तीनों संध्याकालोंको छोड़कर प्रतिदिन दो कोश गमन करता है; उस मुनीके परिहारविशुद्धी संयम होता है। १।"

अनुवादरहित पाठ.

बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी पृष्ठ १० की पंक्ति १५–१६ में स्थित जो "बच्छ—रक्ख" और पृष्ठ १३५ की पंक्ति १४–१५ में स्थित "रयणदीव" इन दो उक्तंच दोहोंका भावार्थ समझमें नहीं आया इसलिये अनुवाद नहीं लिखा गया है।

अपूर्णपाठकी पूर्ति.

टीकाकारने "अस्त्यात्मानादिबद्धः" और "जयतिभगवान्" इन दो श्लोकोंको टीकामें अपूर्ण लिखे हैं। उनको निम्नलिखित प्रकारसे पूर्ण करलेने चाहिये।

नाभावः सिद्धिरिष्टा न निजगुणहतिस्तत्तपोभिर्नियुक्ते—
रस्त्यात्मानादिबद्धः सुकृतजफलभुक्तत्क्षयान्मोक्षभागी।
ज्ञाता दृष्टा स्वदेहप्रमितिरुपसमाहारविस्तारधर्मा
ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणयुत इतो नान्यथा साध्यसिद्धिः। १।"

(पृष्ठ ८ पंक्ति १४)

जयति भगवान् हेमाम्भोजप्रचारविजृंम्भितावमरमुकुटीच्छायोद्गीर्णप्रभापरिचुम्बितौ।
कलुषहृदया मानोद्भ्रान्ताः परस्परवैरिणो विगतकलुषा पादौ यस्य प्रपद्य विशश्वसुः। १।

(पृष्ठ १४५ पंक्ति ८)

मुद्रणावशिष्ट पाठ

एवं कालद्रव्यव्याख्यानमुख्यतया पञ्चमस्थले सूत्रद्वयं गतम्। इत्यष्टगाथासमुदायेन पञ्चभिः स्थलैरजीवद्रव्यव्याख्यानेन द्वितीयान्तराधिकारः समाप्तः। पृष्ठ ५८ पंक्ति १३

वारत्पूर्णिमा वि. सं. १९६४ संशोधक—श्रीजवाहरलाल साहित्यशास्त्री.



रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला

श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचितः

बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहः ।

संस्कृतटीकया हिन्दीभाषानुवादेन च सहितः

(अनुवादकस्य मङ्गलाचरणम् ।)

श्रीवीरं जिनमानम्य जीवाजीवावबोधकम् ।
द्रव्यसङ्ग्रहग्रन्थस्य देशभाषां करोम्यहम् ॥ १ ॥

(टीकाकारस्य मङ्गलाचरणम् ।)

प्रणम्य परमात्मानं सिद्धं त्रैलोक्यवन्दितम् ।
स्वाभाविकचिदानन्दस्वरूपं निर्मलाव्ययम् ॥ १ ॥
शुद्धजीवादिद्रव्याणां देशकं च जिनेश्वरम् ।
द्रव्यसङ्ग्रहसूत्राणां वृत्तिं वक्ष्ये समासतः ॥ २ ॥ युग्मम् ॥

भाषार्थः—सिद्ध, त्रैलोक्यसे वंदित, स्वभावसे उत्पन्न जो ज्ञान और सुख है उस स्वरूप, कर्ममलसे रहित तथा अविनाशी ऐसे परमात्माको, (सिद्ध परमेष्ठीको), और शुद्ध-जीव आदि षट्द्रव्योंका उपदेश देनेवाले श्रीजिनेन्द्रभगवानको प्रणाम करके मैं (ब्रह्मदेव) द्रव्यसंग्रहनामक शास्त्रके सूत्रोंकी वृत्ति (टीका) को संक्षेपसे कहूंगा ॥ १ । २ ॥

अथ मालवदेशे धारानामनगराधिपतिराजभोजदेवाभिधानकलिकालचक्रवर्तिसम्बन्धिनः श्रीपालमण्डलेश्वरस्य सम्बन्धिन्याश्रमनामनगरे श्रीमुनिसुव्रततीर्थकरचैत्यालये शुद्धात्मद्रव्यसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादविपरीतनारकादिदुःखभयभीतस्य परमात्मभावनोत्पन्नसुखसुधारसपिपासितस्य भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियस्य भव्यवरपुण्डरीकस्य भाण्डागाराद्यनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्तं श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैः पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसङ्ग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेषतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्द्रव्यसङ्ग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन वृत्तिः प्रारभ्यते ।

*

अब मैं (श्रीब्रह्मदेव) मालवा नामक देशमें धारा नामक नगरके स्वामी राजा भोजदेवनामक कलिकालचक्रवर्त्ती संवन्धी जो श्रीपाल मंडलेश्वर थे, उनसंबंधी आश्रम नाम नगरमें श्रीमुनिसुव्रत तीर्थंकरके चैत्यालयमें शुद्ध ऐसा जो आत्मारूप द्रव्य है, उसके ज्ञानसे उत्पन्न ऐसा जो सुखरूपी अमृतरस, उसके आस्वाद से विपरीत ऐसे जो नरकगति आदि संबंधी दुःख हैं, उनके भयसे डरा हुआ, परमात्माकी भावनासे उत्पन्न सुखरूपी अमृतरसका पानकरनेको (पीनेको) इच्छा रखनेवाला, भेद अभेद रत्नत्रय अर्थात् व्यवहार और निश्चय इन दो भेदोंका धारक जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय है उसकी भावना है प्यारी जिसके, भव्यजनशिरोमणी तथा भांडागार (खजाना) आदि अनेक नियोगोंका (कामोंका) स्वामी ऐसा जो श्रीसोमनामक राजश्रेष्ठी (राजाका शेठ) था उसके निमित्त श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवने पहिले छव्वीस २६ गाथासूत्रोंसे लघुद्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ रचकर तत्पश्चात् विशेषतत्त्वोंके जाननेके लिये जो वृहद्द्रव्यसंग्रह नामक शास्त्र निर्मित किया उस वृहद्द्रव्यसंग्रहग्रंथकी अधिकारशुद्धिपूर्वकतासे अर्थात् पहिले अधिकारोंकी छांट करके तत्पश्चात् वृत्तिको अर्थात् व्याख्या (विशेषवर्णन) को प्रारंभ करता हूं।

तत्रादौ "जीवमजीवं दव्वं" इत्यादिसप्तविंशतिगाथापर्यन्तं षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादकनामा प्रथमोऽधिकारः। तदनन्तरं "आसववंधण" इत्याद्येकादशगाथापर्यन्तं सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादनमुख्यतया द्वितीयो महाधिकारः। ततःपरं "सम्मदंसणणाणं" इत्यादिविंशतिगाथापर्यन्तं मोक्षमार्गकथनमुख्यत्वेन तृतीयोऽधिकारश्च। इत्यष्टाधिकपञ्चाशद्गाथाभिरधिकारत्रयं ज्ञातव्यम्॥

उस वृहद्द्रव्यसंग्रहनामक शास्त्रमें प्रथम ही "जीवमजीवं दव्वं" इस गाथाको आदिमें लेकर "जावदियं आयासं" इस सत्ताईसवीं गाथापर्यन्त जीव १ पुद्गल २ धर्म ३ अधर्म ४ आकाश ५ और काल ६ इन छहों द्रव्योंका तथा जीव १ पुद्गल २ धर्म ३ अधर्म ४ और आकाश ५ इन पांचों अस्तिकायोंका निरूपण करनेवाला षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादक नामा प्रथम अधिकार है। इसके पश्चात् "आसववंधणसंवर" इस गाथाको आदिमें लेकर "सुहअसुहभावजुत्ता" इस अड़तीसवीं गाथापर्यन्त जीव १ अजीव २ आस्रव ३ बंध ४ संवर ५ निर्जरा ६ और मोक्ष ७, इन सातों तत्त्वोंका और जीव १ अजीव २ आस्रव ३ बंध ४ संवर ५ निर्जरा ६ मोक्ष ७ पुण्य ८ और पाप ९, इन नवों पदार्थोंका मुख्यतासे कथन करनेवाला सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादक नामा द्वितीय महा अधिकार है। इसके अनन्तर "सम्मदंसणणाणं" इस गाथासूत्रको आदिमें लेकर वीस २० गाथाओंपर्यन्त मुख्य-

१ प्रथम और द्वितीय अधिकारके मध्यमें "परिणामिजीवमुत्तं" इत्यादि दो गाथाओंसे प्रथम अधिकारकी चूलिका भी है।

तासे मोक्षमार्गका कथन करनेवाला मोक्षमार्गप्रतिपादक नामा तृतीय अधिकार है। इस-प्रकार अट्ठावन गाथाओंसे तीन अधिकार जानने चाहियें।

तत्राप्यादौ प्रथमाधिकारे चतुर्दशगाथापर्यन्तं जीवद्रव्यव्याख्यानम्। ततःपरं "अज्जीवो पुण णेओ" इत्यादिगाथाष्टकपर्यन्तमजीवद्रव्यकथनम्। ततःपरं "एवं छब्भेयमिदं" एवं सूत्रपञ्चकपर्यन्तं पञ्चास्तिकायविवरणम्। इति प्रथमाधिकारमध्येऽन्तराधिकारत्रयमवबोद्धव्यम्॥

उन तीनों अधिकारोंमें भी आदिका जो प्रथम अधिकार है उसमें चौदह १४ गाथाओंपर्यन्त जीवद्रव्यका व्याख्यान करनेवाला जीवद्रव्यप्रतिपादक नामा प्रथम अन्तराधिकार है। इसके अनन्तर "अज्जीवो पुणणेओ" इस गाथाको आदिमें लेकर "णिक्कम्मा अट्ठगुणा" इस गाथापर्यन्त आठ गाथाओंसे अजीवद्रव्यका वर्णन करनेवाला अजीवद्रव्य-प्रतिपादक नामा द्वितीय अन्तराधिकार है। तत्पश्चात् "एवं छब्भेयमिदं" इसको आदिमें लेकर "जावदियं आयासं" इस गाथापर्यन्त पांच सूत्रोंसे पांचों अस्तिकायोंका निरूपण करनेवाला पञ्चास्तिकायप्रतिपादक नामा तृतीय अन्तराधिकार है। इस प्रकार प्रथम अधिकारमें तीन अन्तराधिकार समझने चाहियें।

तत्रापि चतुर्दशगाथासु मध्ये नमस्कारमुख्यत्वेन प्रथमगाथा। जीवादिनवाऽधिकारसूचनरूपेण "जीवो उवओगमओ" इत्यादिद्वितीयसूत्रगाथा। तदनन्तरं नवाधिकारविवरणरूपेण द्वादशसूत्राणि भवन्ति। तत्राप्यादौ जीवसिद्ध्यर्थं "तिक्काले चदुपाणा" इतिप्रभृतिसूत्रमेकम्, तदनन्तरं ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयकथनार्थं "उवओगो दुवियप्पो" इत्यादिगाथात्रयम्, ततःपरममूर्त्तत्वकथनेन "वण्णरसपंच" इत्यादिसूत्रमेकम्, ततोऽपि कर्मकर्तृत्वप्रतिपादनरूपेण "पुग्गलकम्मादीणं" इतिप्रभृतिसूत्रमेकम्, तदनन्तरं भोक्तृत्वनिरूपणार्थं "ववहारा सुहदुक्खं" इत्यादिसूत्रमेकम्, ततःपरं स्वदेहप्रमितिसिद्ध्यर्थं "अणुगुरुदेहपमाणो" इतिप्रभृतिसूत्रमेकम्, ततोऽपि संसारिजीवस्वरूपकथनेन "पुढविजलतेउवाओ" इत्यादिगाथात्रयम्, तदनन्तरं "णिक्कम्मा अट्ठगुणा" इतिप्रभृतिगाथापूर्वार्धेन सिद्धस्वरूपकथनम्, उत्तरार्धेन पुनरूर्द्ध्वगतिस्वभावः। इति नमस्कारादिचतुर्दशगाथामेलापकेन प्रथमाऽधिकारे समुदायपातनिका।

अब प्रथम अधिकारके प्रथम अन्तराधिकारमें जो चौदह गाथा हैं उनमें नमस्कारकी मुख्यतासे प्रथम गाथा है। जीव आदि नव ९ अधिकारोंके सूचनरूपसे "जीवो उवओगमओ" इत्यादि रूप द्वितीयसूत्रगाथा है। इसके अनन्तर नौ ९ अधिकारोंका विशेपवर्णन करने रूपसे बारह १२ सूत्र हैं। उन १२ सूत्रोंमें भी प्रथम ही जीवकी सिद्धिके लिये "तिक्काले-चदुपाणा" इत्यादि एक सूत्र है। इसके पश्चात् ज्ञान और दर्शन इन दोनों उपयोगोंका कथन करनेके लिये "उवओगो दुवियप्पो" इत्यादि तीन गाथासूत्र हैं। इसके अनन्तर अमूर्तताका कथन करनेरूपसे "वण्णरसपंचगंधा" इत्यादि एक गाथासूत्र है। तत्पश्चात् जीवके कर्मकर्तृताका प्रतिपादन करनेरूपसे "पुग्गलकम्मादीणं" इत्यादि एक

गाथासूत्र है। इसके अनन्तर जीवके कर्मफलोंका भोक्तापनेका कथन करनेके लिये "अणुगुरुदेहपमाणो" इत्यादि एक गाथासूत्र है। और इसके अनन्तर संसारीजीवके स्वरूपका कथन करनेरूपसे "पुढविजलतेउवाओ" इत्यादि तीन गाथासूत्र हैं। इसके पश्चात् "णिकम्मा अट्ठगुणा" इत्यादि गाथाके पूर्वार्धसे जीवके सिद्धस्वरूपका कथन किया गया है; और उत्तरार्द्धसे जीवके ऊर्ध्वगमनस्वभावका वर्णन किया गया है। इस प्रकार नमस्कारगाथाको आदि लेकर जो चौदह गाथासूत्र हैं, उनका मेल करनेसे प्रथम अधिकारमें समुदायपातनिका है॥

अथेदानीं गाथापूर्वार्द्धेन सम्बन्धाऽभिधेयप्रयोजनानि कथयाम्युत्तरार्द्धेन च मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारं करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति।

अब गाथाके पूर्वार्द्धसे संवन्ध, अभिधेय तथा प्रयोजनका कथन करता हूं, और गाथाके उत्तरार्द्धसे मंगलके लिये इष्टदेवताको नमस्कार करता हूं, इस अभिप्रायको मनमें धारण करके भगवान् श्रीनेमिचन्द्रस्वामी इस प्रथमसूत्रका प्रतिपादन करते हैं।

गाथा। जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा॥ १॥

गाथाभावार्थः—मैं (श्रीनेमिचन्द्र) जिस जिनवरोंमें प्रधानने जीव और अजीव द्रव्यका कथन किया, उस देवेन्द्रादिकोंके समूहसे वंदित तीर्थंकर परमदेवको सदा मस्तकसे नमस्कार करताहूं॥ १॥

व्याख्या—'वंदे' इत्यादिक्रियाकारकसम्बन्धेन पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। 'वंदे' एकदेशशुद्धनिश्चयनयेन स्वशुद्धात्माराधनलक्षणभावस्तवनेन, असद्भूतव्यवहारनयेन तत्प्रतिपादकवचनरूपद्रव्यस्तवनेन च 'वन्दे' नमस्करोमि। परमशुद्धनिश्चयनयेन पुनर्वन्द्यवन्दकभावो नास्ति। स कः कर्त्ता, अहं नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवः। कथं वन्दे? "सव्वदा" सर्वकालम्। केन? "सिरसा" उत्तमाङ्गेन। "तं" कर्म्मतापन्नं वीतरागसर्वज्ञम्। तं किंविशिष्टम्? 'देविंदविंदवंदं' मोक्षपदाभिलाषिदेवेन्द्रादिवन्द्यम्, "भवणालयचालीसा विंतरदेवाण होंति वत्तीसा। कप्पामरचउवीसा चंदो सूरो णरो तिरिओ॥ १॥" इति गाथाकथितलक्षणेन्द्राणां शतेन वन्दितं देवेन्द्रवृन्दवन्द्यम्। "जेण" येन भगवता किं कृतं? "णिद्दिट्ठं" निर्दिष्टं कथितं प्रतिपादितम्। किं "जीवमजीवं दव्वं" जीवाजीवद्रव्यद्वयम्। तद्यथा,—सहजशुद्धचैतन्यादिलक्षणं जीवद्रव्यं, तद्विलक्षणं पुद्गलादिपञ्चभेदमजीवद्रव्यं च, तथैव चिच्चमत्कारलक्षणशुद्धजीवास्तिकायादिपञ्चास्तिकायानां, परमचिज्ज्योतिःस्वरूपशुद्धजीवादिसप्ततत्त्वानां, निर्दोषपरमात्मादिनवपदार्थानां च स्वरूपमुपदिष्टम्। पुनरपि कथम्भूतेन भगवता? "जिणवरवसहेण" जितमिथ्यात्वरागादित्वेन एकदेशजिनाः असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयस्तेषां वराः गणधरदेवास्तेषां जिनवराणां वृषभः प्रधानो जिनवरवृषभस्तीर्थकरपरमदेवस्तेन जिनवर वृषभेणेति॥

व्याख्यार्थः—'वंदे' इत्यादिपदोंका क्रियाकारकभावसंवन्धसे पदखंडनारूपसे अर्थात् खंडान्वयकी रीतिद्वारा व्याख्यान किया जाता है। "वंदे" एकदेशमें शुद्ध ऐसा जो

निश्चयनय है उसकी अपेक्षासे तो निज-शुद्ध आत्माका आराधन करनेवाले भावस्तवनसे और असद्भूतव्यवहारनयकी अपेक्षासे उस निज-शुद्ध-आत्माका प्रतिपादन करनेवाले वचनरूप द्रव्यस्तवनसे नमस्कार करताहूं। और परमशुद्धनिश्चयनयसे वन्द्यवन्दक भाव नहीं है अर्थात् एकदेशशुद्धनिश्चयनय और असद्भूतव्यवहारनयकी अपेक्षासे ही श्रीजिनेन्द्र वन्दना करनेयोग्य हैं और मैं वन्दना करनेवाला हूं। और परमशुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षासे वन्द्य-वन्दक भाव नहीं है। क्योंकि श्रीजिनेन्द्र और मैं इन दोनोंका आत्मा समान ही है। वह नमस्कार करनेवाला कौन है? मैं द्रव्यसंग्रहग्रन्थका कर्त्ता श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव हूं। कब और कैसे नमस्कार करता हूं? "सव्वदा" सब कालमें "शिरसा" उत्तम अंग जो मस्तक है उससें नमस्कार करता हूं। किसको नमस्कार करता हूं? "तं" वन्दन क्रियाके कर्मपनेको प्राप्त हुए श्रीवीतरागसर्वज्ञको (श्रीजिनेन्द्रको) कैसे श्रीजिनेन्द्रको? "देविंद-विंदवंदं" मोक्षपदको चाहनेवाले जो देवेन्द्रादि हैं उनसे वन्दितको अर्थात् "भवनवासियोंके ४० इन्द्र, व्यन्तरदेवोंके ३२ इन्द्र, कल्पवासीदेवोंके २४ इन्द्र, ज्योतिष्कदेवोंके चन्द्र और सूर्य ये २ इन्द्र, मनुष्योंका १ इन्द्र (चक्रवर्त्ती) और तिर्यञ्चोंका १ इन्द्र (सिंहविशेष) ऐसे सव मिलकर सौ १००इन्द्र हैं। १।" इस गाथामें कहे हुए लक्षणके धारक सौ१००इन्द्रोंसे वंदितको। जिस भगवान्ने क्या किया है? "णिद्दिट्ठं" कहा है। किसको कहा है? "जीवमजीवं दव्वं" जीव और अजीव इस द्रव्यद्वयको कहा है। अर्थात् सहज-शुद्ध चैतन्य आदि लक्षणका धारक जीव द्रव्य है, और इससे विलक्षण (भिन्न लक्षणका धारक) पुद्गल १ धर्म २ अधर्म ३ आकाश ४ और काल ५ इन पांच भेदोंका धारक अजीव द्रव्य है। तथा इसीप्रकार चित्-चमत्काररूप लक्षणका धारक जो शुद्ध जीव अस्तिकाय है, उसको आदिमें लेकर पांच अस्तिकायोंका, परमज्ञानरूप ज्योतिका धारक जो शुद्ध जीवतत्त्व है, उसको आदिमें लेकर सात तत्त्वोंका, और दोपरहित जो परमात्मा (जीव) है, उसको आदि लेकर नौ ९, पदार्थोंका स्वरूप कहा है। फिर कैसे भगवान्ने कहा है कि—"जिणवरवसहेण" मिथ्यात्व और राग आदिको जीतनेसे असंयतसम्यग्दृष्टी आदिक एकदेशी जिन हैं, उनमें जो वर (श्रेष्ठ) हैं वे जिनवर अर्थात् गणधरदेव हैं, उन जिनवरों (गणधरों) में भी जो प्रधान हों, वे जिनवरवृषभ अर्थात् तीर्थंकरपरमदेव हैं उनने कहा है।

अत्राध्यात्मशास्त्रे यद्यपि सिद्धपरमेष्ठिनमस्कार उचितस्तथापि व्यवहारनयमाश्रित्य प्रत्युपकारस्मरणार्थमर्हत्परमेष्ठिनमस्कार एव कृतः। तथाचोक्तं— "श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः। इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः॥ १॥" अत्र गाथापरार्द्धेन— "नास्तिकत्वपरीहारः शिष्टाचारप्रपालनम्। पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नः शास्त्रादौ तेन संस्तुतिः॥२॥" इति श्लोककथितफलचतुष्टयं समीक्षमाणा ग्रन्थकाराः शास्त्रादौ त्रिधा देवतायै त्रिधा[1] नमस्कारं कुर्वन्ति। इत्यादिमङ्गलव्याख्यानं सूचितम्। मङ्गलमित्युपलक्षणम्। उक्तं च— "मंगलनि-

१. मनोवचनकायैः।

मित्तहेउं परिमाणं णाम तह य कत्तारं । वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थ आयरिओ ॥ ॥ १ ॥" "वक्खाणउ" व्याख्याताम् । स कः ? "आयरिओ" आचार्यः । कं ? "सत्थं" शास्त्रं "पच्छा" पश्चात् । किं कृत्वा पूर्वं ? "वागरिय" व्याकृत्य व्याख्याय । कान्? "छप्पि" षडप्यऽधिकारान् । कथंभूतान् ? "मंगलनिमित्तहेउं परिमाणं णाम तह य कत्तारं" मङ्गलं निमित्तं हेतुं परिमाणं नाम कर्तृसंज्ञामिति । इति गाथाकथितक्रमेण मंगलाद्यधिकारषट्कमपि ज्ञातव्यम् ॥

इस अध्यात्मशास्त्रमें यद्यपि सिद्ध परमेष्ठियोंको नमस्कार करना योग्य है तौ भी व्यवहारनयका अवलम्बन करके अपनेप्रति श्रीजिनेन्द्रके उपकारको स्मरण करनेके लिये अर्हत्परमेष्ठीको ही नमस्कार किया है । सो ही कहा है कि "अर्हत्परमेष्ठीके प्रसादसे कल्याण (मोक्ष) मार्गकी सिद्धि होती है । इस कारण उत्तम मुनियोंने शास्त्रकी आदिमें अर्हत् परमेष्ठीके गुणोंकी स्तुति करनेका कथन किया है । १ । और यहां गाथाके उत्तरार्द्धसे "नास्तिकताका त्याग १ शिष्ट (उत्तम) पुरुषोंके आचरणका पालन २ पुण्यकी प्राप्ति ३ और विघ्नकी रहितता ४ इन चार लाभोंके लिये शास्त्रकी आदिमें श्रीजिनेन्द्रकी स्तुति की जाती है । १ ।" इस प्रकार श्लोकमें कहे हुए जो चार फल हैं, उनको उत्तम रीतिसे देखते हुए शास्त्रकार अभीष्ट, अधिकृत तथा अभिमत ऐसे तीन प्रकारके देवताके अर्थ मन वचन और काय इन तीनों द्वारा नमस्कार करते हैं । इस प्रकार मंगलका व्याख्यान किया । यहां मंगल यह उपलक्षण पद है । सो ही कहा है कि, प्रथम ही "आचार्य मंगलाचरण १ शास्त्रके बनानेका निमित्तकारण २ शास्त्रका प्रयोजन ३ शास्त्रका परिमाण (श्लोकसंख्या) ४ शास्त्रका नाम ५ और शास्त्रका कर्त्ता ६ इन छः ६ अधिकारोंकी व्याख्या करके फिर शास्त्रका व्याख्यान करै । १ ।" इस गाथामें कहे हुए क्रमसे मंगल आदि ६ अधिकारोंको भी जानने चाहियें ।

गाथापूर्वार्द्धेन तु सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि सूचितानि । कथमिति चेत्—विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मस्वरूपादिविवरणरूपो वृत्तिग्रन्थो व्याख्यानम् । व्याख्येयं तु तत्प्रतिपादकसूत्रम् । इति व्याख्यानव्याख्येयसम्बन्धो विज्ञेयः । यदेव व्याख्येयसूत्रमुक्तं तदेवाभिधानं वाचकं प्रतिपादकं भण्यते, अनन्तज्ञानाद्यनन्तगुणाधारपरमात्मादिस्वभावोऽभिधेयो वाच्यः प्रतिपाद्यः । इत्यभिधानाभिधेयस्वरूपं बोद्धव्यम् । प्रयोजनं तु व्यवहारेण षड्द्रव्यादिपरिज्ञानम्, निश्चयेन निजनिरञ्जनशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्ननिर्विकारपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादरूपं स्वसंवेदनज्ञानम् । परमनिश्चयेन पुनस्तत्फलरूपा केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाविनाभूता निजात्मोपादानसिद्धानन्तसुखावाप्तिरिति । एवं नमस्कारगाथा व्याख्याता ॥ १ ॥

और गाथाके पूर्वार्धसे सम्बन्ध, अभिधेय तथा प्रयोजनको सूचित किया है । कैसे सूचित किया है ? ऐसा प्रश्न करो तो उत्तर यह है कि, निर्मल—ज्ञान और दर्शनरूप स्वभावका धारक जो परमात्मा है, उसके स्वरूपको विस्तारसे कहनेवाला जो वृत्ति (इस द्रव्यसंग्रहकी टीका) रूप ग्रन्थ है, वह तो व्याख्यान है, और परमात्मस्वरूपका प्रतिपादक जो गाथा

सूत्ररूप द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ है वह व्याख्येय (व्याख्या करने योग्य) है । इस प्रकार व्याख्यानव्याख्येयरूप तो **सम्बन्ध** जानना चाहिये । और जो व्याख्या करने योग्य द्रव्यसंग्रहका सूत्र कहा गया है वही अभिधान अर्थात् वाचक (कहनेवाला) कहलाता है । और अनन्तज्ञान आदि अनन्तगुणोंका आधार (धारक) जो परमात्मा आदिका स्वभाव है वह अभिधेय है अर्थात् कथनकरनेयोग्य विषय है । इस प्रकार **अभिधानाभिधेयका** स्वरूप जानना चाहिये । व्यवहारनयकी अपेक्षासे 'षट्द्रव्य आदिका जानना' यह इस ग्रंथका प्रयोजन है । और निश्चयनयसे अपने निर्लेप शुद्ध आत्माके ज्ञानसे उत्पन्न जो विकाररहित परमआनंदरूप लक्षणका धारक सुख है, उस सुखरूपी अमृतरसका आस्वादन करनेरूप जो निज आत्माके जाननेरूप ज्ञान है, वह इस ग्रंथका प्रयोजन है । और परमनिश्चयसे उस आत्मज्ञानके फलरूप-केवलज्ञानआदि अनंतगुणोंके विना न होनेवाली और निज आत्मारूप उपादान कारणसे सिद्ध होनेवाली ऐसी जो अनंतसुखकी प्राप्ति है, वह इस द्रव्यसंग्रह ग्रन्थका प्रयोजन है । इस प्रकार प्रथम जो नमस्कार गाथा है, उसका व्याख्यान किया गया ॥ १ ॥

अथ नमस्कारगाथायां प्रथमं यदुक्तं जीवद्रव्यं तत्सम्बन्धे नवाधिकारान् संक्षेपेण सूचयामीति अभिप्रायं मनसि सम्प्रधार्य कथनसूत्रमिति निरूपयति ।

अब मैं नमस्कारगाथामें जो पहिले जीवद्रव्यका कथन किया गया है, उस जीवद्रव्यके संबंधमें नौ अधिकारोंको संक्षेपसे सूचित करता हूं । इस अभिप्रायको मनमें धारण करके आचार्य जीव आदि नौ अधिकारोंको कहनेवाले इस अग्रिम सूत्रका निरूपण करते हैं ॥

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥ २ ॥

गाथाभावार्थः—जो उपयोगमय है, अमूर्त्त है, कर्त्ता है, निज शरीरके वरावर है, भोक्ता है, संसारमें स्थित है, सिद्ध है और स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करनेवाला है, वह जीव है ॥ २ ॥

व्याख्या । "जीवो" शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यान्तवर्जितस्वपरप्रकाशकाविनश्वरनिरुपाधिशुद्धचैतन्यलक्षणनिश्चयप्राणेन यद्यपि जीवति, तथाप्यशुद्धनयेनानादिकर्मवन्धवशादशुद्धद्रव्यभावप्राणैर्जीवतीति जीवः । "उवओगमओ" शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनोपयोगमयस्तथाप्यशुद्धनयेन क्षायोपशमिकज्ञानदर्शननिर्वृत्तत्वात् ज्ञानदर्शनोपयोगमयो भवति । "अमुत्ति", यद्यपि व्यवहारेण मूर्तकर्म्माधीनत्वेन स्पर्शरसगन्धवर्णवत्या मूर्त्या सहितत्वान्मूर्त्तस्तथापि परमार्थेनामूर्त्तातीन्द्रियशुद्धबुद्धैकस्वभावत्वादमूर्त्तः । "कत्ता" यद्यपि भूतार्थनयेन निष्क्रियटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावोऽयं जीवस्तथाप्यभूतार्थनयेन मनोवचनकायव्यापारोत्पादककर्म्मसहितत्वेन शुभाशुभकर्म्मकर्त्तृत्वात् कर्त्ता । "सदेहपरिमाणो" यद्यपि निश्चयेन सहजशुद्धलोकाकाशप्रमितासङ्ख्येयप्रदेशस्तथापि व्यवहारेणानादिकर्म्मबन्धाधीनत्वेन शरीरनामकर्मोदयजनितोपसंहारविस्ताराधीनत्वात् घटादिभाजनस्थप्रदीपवत् स्वदेहपरिमाणः ।

"भोत्ता" यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वात्मोत्थसुखामृतभोक्ता, तथाप्यशुद्धनयेन तथाविधसुखामृतभोजनाभावाच्छुभाशुभकर्मजनितसुखदुःखभोक्तृत्वाद्भोक्ता। "संसारत्थो" यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन निःसंसारनित्यानन्दैकस्वभावस्तथाप्यशुद्धनयेन द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपञ्चप्रकारसंसारे तिष्ठतीति संसारस्थः। "सिद्धो" व्यवहारेण स्वात्मोपलब्धिलक्षणसिद्धत्वप्रतिपक्षभूतकर्मोदयेन यद्यप्यसिद्धस्तथापि निश्चयनयेनानन्तज्ञानानन्तगुणस्वभावत्वात् सिद्धः। "सो" स एवं गुणविशिष्टो जीवः। "विस्ससोड्ढगई" यद्यपि व्यवहारेण चतुर्गतिजनककर्मोदयवशेनोर्ध्वाधस्तिर्यग्गतिस्वभावस्तथापि निश्चयेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणावाप्तिलक्षणमोक्षगमनकाले विस्रसा स्वभावेनोर्ध्वगतिश्चेति। अत्र पदखण्डनारूपेण शब्दार्थः कथितः, शुद्धाशुद्धनयद्वयविभागेन नयार्थोऽप्युक्तः। इदानीं मतार्थः कथ्यते। जीवसिद्धिश्चार्वाकं प्रति, ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणं नैयायिकं प्रति, अमूर्त्तजीवस्थापनं भट्टचार्वाकद्वयं प्रति, कर्मकर्तृत्वस्थापनं सांख्यं प्रति, स्वदेहप्रमितिस्थापनं नैयायिकमीमांसकसांख्यत्रयं प्रति, कर्मभोक्तृत्वव्याख्यानं बौद्धं प्रति, संसारस्थव्याख्यानं सदाशिवं प्रति, सिद्धत्वव्याख्यानं भट्टचार्वाकद्वयं प्रति, ऊर्ध्वगतिस्वभावकथनं माण्डलिकग्रन्थकारं प्रति, इति मतार्थो ज्ञातव्यः। आगमार्थः पुनः "अस्त्यात्मानादिबद्धः" इत्यादि प्रसिद्ध एव। शुद्धनयाश्रितं जीवस्वरूपमुपादेयं, शेषं च हेयम्। इति हेयोपादेयरूपेण भावार्थोऽप्यवबोद्धव्यः। एवं शब्दनयमतागमभावार्थो यथासम्भवं व्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यः। इति जीवादिनवाधिकारसूचनसूत्रगाथा।

व्याख्यार्थः—"जीवो" यद्यपि यह जीव शुद्धनिश्चयनयसे आदि मध्य और अन्तसे रहित, निज तथा परका प्रकाशक, उपाधिरहित और शुद्ध ऐसा जो चैतन्य (ज्ञान) रूप निश्चय प्राण है, उससे जीता है, तथापि अशुद्धनिश्चयनयसे अनादिकर्मबन्धनके वशसे अशुद्ध जो द्रव्यप्राण और भावप्राण हैं, उनसे जीता है इसलिये जीव है "उवओगमओ" यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे परिपूर्ण तथा निर्मल ऐसे जो ज्ञान और दर्शनरूप दो उपयोग हैं उनस्वरूप जीव है तथापि अशुद्धनयसे क्षायोपशमिक-ज्ञान और दर्शनसे रचा हुआ है, इसकारण ज्ञानदर्शनोपयोगमय है। "अमुत्ति" यद्यपि जीव व्यवहारनयसे मूर्त्तकर्मोंके आधीन होनेसे स्पर्श, रस, गंध और वर्णवाली मूर्त्तिसे सहित होनेके कारण मूर्त्त है तथापि निश्चयनयसे अमूर्त्त, इन्द्रियोंके अगोचर, शुद्ध और बुद्धरूप स्वभावका धारक होनेसे अमूर्त्त है। "कत्ता" यद्यपि यह जीव निश्चयनयसे क्रियारहित, टंकोत्कीर्ण (निरुपाधि), ज्ञायकैकस्वभावका धारक है तथापि व्यवहारनयसे मन, वचन तथा कायके व्यापारको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंसे सहित होनेके कारण शुभ और अशुभ कर्मोंका करनेवाला है, इसलिये कर्त्ता है। "सदेहपरिमाणो" यद्यपि जीव निश्चयसे स्वभावसे उत्पन्न शुद्ध लोकाकाशके समान असंख्यात प्रदेशोंका धारक है तथापि शरीरनामकर्मके उदयसे उत्पन्न संकोच तथा विस्तारके आधीन होनेसे घट आदि भाजनोंमें स्थित दीपककी तरह निजदेहके परिमाण है। "भोत्ता" यद्यपि जीव शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे रागादिविकल्परूप उपाधियोंसे शून्य

है और अपनी आत्मासे उत्पन्न जो सुखरूपी अमृत है उसका भोगनेवाला है तथापि अशुद्धनयसे उसप्रकारके सुखरूप अमृतभोजनके अभावसे शुभकर्मसे उत्पन्न सुख और अशुभकर्मसे उत्पन्न जो दुःख हैं उनका भोगनेवाला होनेके कारण भोक्ता है। "संसारत्थ" संसारमें स्थित है अर्थात् संसारी है। यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनयसे संसाररहित है और नित्य आनंदरूप एक स्वभावका धारक है तथापि अशुद्धनयसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन भेदोंसे पांचप्रकारके संसारमें रहता है इसकारण संसारस्थ है। "सिद्धो" सिद्ध है। यद्यपि यह जीव व्यवहारनयसे निज आत्माकी प्राप्ति सरूप जो सिद्धत्व है उसके प्रतिपक्षी कर्मोंके उदयसे असिद्ध है तथापि निश्चयनयसे अनन्त ज्ञान और अनन्त गुण स्वभावका धारक होनेसे सिद्ध है। "सो" वह (इन पहले कहे हुए गुणोंका धारक जीव) "विस्ससोड्ढगई" स्वभावसे ऊर्द्धगमन करनेवाला है। यद्यपि व्यवहारसे चार गतियोंको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंके उदयके वशसे ऊंचा, नीचा तथा तिरछा गमन करनेवाला है तथापि निश्चयसे केवल ज्ञान आदि अनंत गुणोंकी प्राप्ति स्वरूप जो मोक्ष है उसमें जानेके समय स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करनेवाला है। यहां पर पदखंडना रूपसे (खंडान्वयकी रीतिसे) शब्दका अर्थ कहा और शुद्ध तथा अशुद्ध इन दोनों नयोंके विभागसे नयका अर्थ भी कहा है। अब मतका अर्थ कहते हैं। चार्वाकके प्रति जीवकी सिद्धि की गई है, नैयायिकके प्रति जीवका ज्ञान तथा दर्शन उपयोगमय लक्षण है यह कथन है, भट्ट तथा चार्वाकके प्रति जीवका अमूर्त स्थापन है, सांख्यके प्रति आत्मा कर्मका कर्त्ता है ऐसा व्याख्यान है, आत्मा अपने शरीर प्रमाण है यह स्थापन नैयायिक, मीमांसक और सांख्य इन तीनोंके प्रति है, आत्मा कर्मोंका भोक्ता है यह कथन बौद्धके प्रति है, आत्मा संसारस्थ है ऐसा व्याख्यान सदाशिवके प्रति है, आत्मा सिद्ध है यह कथन भट्ट और चार्वाकके प्रति है, जीवका ऊर्द्धगमन करना स्वभाव है यह कथन इन सब मतोंके ग्रंथकारोंके प्रति है। ऐसा मतका अर्थ जानना चाहिये। और अनादिकालसे कर्मोंसे बँधा हुआ आत्मा है इत्यादि आगमका अर्थ तो प्रसिद्धही है। शुद्धनयके आश्रित जो जीवका स्वरूप है वह तो उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है और बाकी सब हेय है। इस प्रकार हेयोपादेयरूपसे भावार्थ भी समझना चाहिये। ऐसे शब्दनयके मतसे आगमका भावार्थ यथासंभव व्याख्यानके समयमें सब जगह जानना चाहिये। इस प्रकार जीव आदि नव अधिकारोंको सूचन करनेवाली गाथा समाप्त हुई ॥ २ ॥

अतःपरं द्वादशगाथाभिर्नवाधिकारान् विवृणोति, तत्रादौ जीवस्वरूपं कथयति।

अब इसके आगे द्वादश १२ गाथाओंसे नव अधिकारोंका विवरण करते हैं, उनमें प्रथम ही जीवका स्वरूप कहते हैं।

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स॥ ३॥

गाथाभावार्थः—तीनकालमें इन्द्रिय, बल, आयु, और आनपान इन चारों प्राणोंको जो धारण करता है वह व्यवहारनयसे जीव है और निश्चयनयसे जिसके चेतना है वही जीव है॥ ३॥

व्याख्या—"तिक्काले चदुपाणा" कालत्रये चत्वारः प्राणा भवन्ति। ते के "इंदियबलमाउआणपाणो य" अतीन्द्रियशुद्धचैतन्यप्राणात्प्रतिशत्रुपक्षभूतः क्षायोपशमिक इन्द्रियप्राणः, अनन्तवीर्यलक्षणबलप्राणादनन्तैकभागप्रमिता मनोवचनकायबलप्राणाः, अनाद्यनन्तशुद्धचैतन्यप्राणविपरीततद्विलक्षणः सादिः सान्तश्चायुः प्राणः, उच्छ्वासपरावर्त्तोत्पन्नखेदरहितविशुद्धचित्प्राणाद्विपरीतसदृश आनपानप्राणः। "ववहारा सो जीवो" इत्थंभूतैश्चतुर्भिर्द्रव्यभावप्राणैर्यथासंभवं जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा यो व्यवहारनयात्स जीवः। द्रव्येन्द्रियादिर्द्रव्यप्राणा अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण, भावेन्द्रियादिः क्षायोपशमिकभावप्राणाः पुनरशुद्धनिश्चयेन। सत्ताचैतन्यबोधादिः शुद्धभावप्राणाः निश्चयनयेनेति "णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स" शुद्धनिश्चयनयतः सकाशादुपादेयभूता शुद्धचेतना यस्य स जीवः, एवं

वच्छक्खभवसारिच्छ, सग्गणिरयपियराय।
चुल्लयहंडिय पुणमडउ, नव दिट्ठंता जाय॥ १॥

इति दोहककथितनवदृष्टान्तैश्चार्वाकमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं जीवसिद्धिव्याख्यानेन गाथा गता।

व्याख्यार्थः—"**तिक्काले चदुपाणा**" तीनकालमें जीवके चार प्राण होते हैं. वे कौनसे "**इंदियबलमाउआणपाणो य**" इंद्रियोंके अगोचर जो शुद्ध चैतन्य प्राण है उसके प्रति शत्रुपक्षभूत क्षायोपशमिक (क्षयोपशमसे उत्पन्न) इंद्रिय प्राण है, अनन्त वीर्यरूप जो बलप्राण है उसके अनन्त भागोंमेंसे एक भागके प्रमाण मनोबल, वचनबल और कायबलरूप प्राण हैं, अनादि, अनन्त तथा शुद्ध जो चैतन्य (ज्ञान) प्राण है उससे विपरीत (उलटा) एवं विलक्षण सादि (आदिसहित) और अन्तसहित आयु प्राण है, श्वासोच्छ्वासके आवागमनसे उत्पन्न खेदसे रहित जो शुद्ध चित् प्राण है उससे विपरीत आनप्राण अर्थात् श्वासोच्छ्वास प्राण है। "**ववहारा सो जीवो**" इस पूर्वोक्तप्रकार रूप चार द्रव्यप्राणों और भावप्राणोंसे जो जीता है, जीवेगा वा पहले जिया है वह व्यवहारनयसे जीव है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे द्रव्येन्द्रिय आदि द्रव्य प्राण हैं, और भावेन्द्रिय आदि क्षायोपशमिक भावप्राण अशुद्ध निश्चयनयसे हैं, तथा सत्ता, चैतन्य बोध आदि शुद्धभाव प्राण जो हैं वे निश्चयनयसे हैं। "**णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स**" शुद्धनिश्चयनयके मतसे उपादेयभूत (ग्रहण करने योग्य) शुद्धचेतना जिसके हो वह जीव

माना गया है । " इस प्रकार " वेच्छ रक्ख भवसारिच्छसग्गाणिरय पियराय । चुल्लय हंडि-यपुणमडउ नव दिट्ठंता जाय १ " इस दोहेमें कहे हुए नव दृष्टान्तोंद्वारा चार्वाकमतानुयायी शिष्योंको समझानेके लिये जीवकी सिद्धिके व्याख्यानसे यह गाथा समाप्त हुई ॥ ३ ॥

अथ गाथात्रयपर्यन्तं ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयं कथ्यते । तत्र प्रथमगाथायां मुख्यवृत्त्या दर्शनोपयोगव्याख्यानं करोति । यत्र मुख्यत्वमिति वदति तत्र यथासंभवमन्यदपि विवक्षितं लभ्यत इति ज्ञातव्यम् ।

अब तीन गाथापर्यन्त ज्ञान तथा दर्शनरूप दो उपयोगोंका वर्णन करते हैं । उनमें भी प्रथम गाथामें मुख्यतासे दर्शनोपयोगका व्याख्यान करते हैं । जहांपर यह कथन हो कि अमुक विषयका मुख्यता (प्रधानता)से वर्णन करते हैं, वहांपर गौणतासे अन्य विषयका भी यथासंभव कथन मिलेगा यह जानना चाहिये ।

उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च दंसणं चदुधा ।
चक्खु अचक्खु ओही दंसणमध केवलं णेयं ॥ ४ ॥

गाथार्थः—दर्शन और ज्ञान इन भेदोंसे उपयोग दो प्रकारका है । उनमें चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन इन भेदोंसे दर्शनोपयोग चार प्रकारका जानना चाहिये ॥ ४ ॥

व्याख्या—"उवओगो दुवियप्पो" उपयोगो द्विविकल्पः "दंसणणाणं च" निर्विकल्पकं दर्शनं सविकल्पकं ज्ञानं, च पुनः "दंसणं चदुधा" दर्शनं चतुर्धा भवति "चक्खु अचक्खु ओही दंसणमध केवलं णेयं" चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनमथ अथो केवलदर्शनमिति विज्ञेयम् । तथाहि—आत्मा हि जगत्त्रयकालत्रयवर्त्तिसमस्तवस्तुसामान्यग्राहकसकलविमलकेवलदर्शनस्वभावस्तावत् पश्चादनादिकर्मबन्धाधीनः सन् चक्षुर्दर्शनावरणक्षयोपशमाद्बहिरङ्गद्रव्येन्द्रियालम्बनाच्च मूर्त्तसत्तासामान्यं निर्विकल्पं संव्यवहारेण प्रत्यक्षमपि निश्चयेन परोक्षरूपेणैकदेशेन यत्पश्यति तच्चक्षुर्दर्शनम् । तथैव स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमत्वात्स्वकीयस्वकीयबहिरङ्गद्रव्येन्द्रियालम्बनाच्च मूर्त्तं सत्तासामान्यं विकल्परहितं परोक्षरूपेणैकदेशेन यत्पश्यति तदचक्षुर्दर्शनम् । तथैव च मनइन्द्रियावरणक्षयोपशमात्सहकारिकारणभूताष्टदलपद्माकारद्रव्यमनोऽवलम्बनाच्च मूर्त्तामूर्त्तसमस्तवस्तुगतसत्तासामान्यं विकल्परहितं परोक्षरूपेण यत्पश्यति तन्मानसमचक्षुर्दर्शनम् । स एवात्मा यदवधिदर्शनावरणक्षयोपशमान्मूर्त्तवस्तुगतसत्तासामान्यं निर्विकल्परूपेणैकदेशप्रत्यक्षेण यत्पश्यति तदवधिदर्शनम् । यत्पुनः सहजशुद्धसदानन्दैकरूपपरमात्मतत्त्वसंवित्तिप्राप्तिबलेन केवलदर्शनावरणक्षये सति मूर्त्तामूर्त्तसमस्तवस्तुगतसत्तासामान्यं विकल्परहितं सकलप्रत्यक्षरूपेणैकसमये पश्यति तदुपादेयभूतं क्षायिकं केवलदर्शनं ज्ञातव्यमिति ।

व्याख्यार्थः—दर्शन और ज्ञान इन भेदोंसे उपयोग दो प्रकारका है । उनमें दर्शन तो

---

१ इस दोहेका भावार्थ समझमें नहीं आया. अनुवादक व संशोधक.

निर्विकल्पक है और ज्ञान सविकल्पक है और दर्शनोपयोग चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन तथा केवलदर्शन इन भेदोंसे चार प्रकारका होता है, यह जानना चाहिये। इसका विशेष वर्णन इस प्रकार है कि प्रथम तो आत्मा तीनलोक और भूत, भविष्य तथा वर्त्तमानरूप तीनों कालोंमें रहनेवाले संपूर्ण द्रव्यसामान्यको ग्रहण करनेवाला जो पूर्ण निर्मल केवलदर्शन स्वभाव है उसका धारक है, पश्चात् (फिर) अनादि कर्मबंधके आधीन होके चक्षुर्दर्शनावरणके क्षयोपशमसे अर्थात् नेत्रद्वारा जो दर्शन होता है उस दर्शनको रोकनेवाले कर्मके क्षयोपशमसे तथा वहिरंग द्रव्येन्द्रियके आलम्बनसे मूर्त्त सत्तासामान्यको जो कि संव्यवहारसे प्रत्यक्ष है तो भी निश्चयसे परोक्षरूप है उसको एक देशसे विकल्परहित जैसे हो तैसे जो देखता है वह चक्षुर्दर्शन है वैसेही स्पर्शन, रसन, घ्राण तथा श्रोत्रेन्द्रियके आवरणके क्षयोपशमसे और निज २ वहिरंग द्रव्येन्द्रियके आलम्बनसे मूर्त्त सत्तासामान्यको परोक्षरूप एकदेशसे जो विकल्परहित देखता है वह अचक्षुर्दर्शन है और इसीप्रकार मन इन्द्रियके आवरणके क्षयोपशमसे तथा सहकारी कारणभूत जो आठ पांखड़ीके कमलके आकार द्रव्य मन है उसके अवलम्बनसे मूर्त्त तथा अमूर्त्त ऐसे समस्त द्रव्योंमें विद्यमान सत्तासामान्यको परोक्षरूपसे विकल्परहित जो देखता है वह मानस अचक्षुर्दर्शन है और वही आत्मा जो अवधिदर्शनावरणके क्षयोपशमसे मूर्त्तवस्तुमें प्राप्त सत्तासामान्यको एकदेशप्रत्यक्षसे विकल्परहित देखता है वह अवधिदर्शन है और जो सहज शुद्ध चिदानन्द रूप एक स्वरूपका धारक परमात्मा है उसके तत्त्वज्ञानके बलसे केवल दर्शनावरणके क्षय होनेपर मूर्त्त अमूर्त्त समस्त वस्तुमें प्राप्त सत्तासामान्यको सकल प्रत्यक्षरूपसे एकसमयमें विकल्परहित जो देखता है उसको दर्शनावरणकर्मके क्षयसे उत्पन्न और ग्रहण करने योग्य केवलदर्शन जानना चाहिये ॥ ४ ॥

अथाष्टविकल्पं ज्ञानोपयोगं प्रतिपादयति ।

अब आठ विकल्प (भेद) सहित जो ज्ञानोपयोग है, उसका कथन करते हैं ।

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदिओही अणाणणाणाणि ।
मणपज्जवकेवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च ॥ ५ ॥

गाथाभावार्थः—कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ऐसे आठ प्रकारका ज्ञान है । इनमें कुअवधि, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल ये चार प्रत्यक्ष हैं और शेष चार परोक्ष हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—"णाणं अट्ठवियप्पं" ज्ञानमष्टविकल्पं भवति । "मदिसुदिओहीअणाणणाणाणि" अत्राष्टविकल्पमध्ये मतिश्रुतावधयो मिथ्यात्वोदयवशाद्विपरीताभिनिवेशरूपाण्यज्ञानानि भवन्ति, तान्येव शुद्धात्मादितत्त्वविषये विपरीताभिनिवेशरहितत्वेन सम्यग्दृष्टिजीवस्य सम्यग्ज्ञानानि भवन्ति । "मणपज्जवकेवलमवि" मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानमप्येवमष्टविधं ज्ञानं

भवति, "पच्चक्खपरोक्खभेयं च" प्रत्यक्षपरोक्षभेदं च अवधिमनःपर्ययद्वयमेकदेशप्रत्यक्षं, विभङ्गावधिरपि देशप्रत्यक्षं, केवलज्ञानं सकलप्रत्यक्षं शेषचतुष्टयं परोक्षमिति । इतो विस्तारः—आत्मा हि निश्चयनयेन सकलविमलाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयकेवलज्ञानरूपस्तावत् । स च व्यवहारेणानादिकर्मबन्धप्रच्छादितः सन्मतिज्ञानावरणीयक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमाच्च वहिरङ्गपञ्चेन्द्रियमनोऽवलम्बनाच्च मूर्त्तामूर्त्तं वस्त्वेकदेशेन विकल्पाकारेण परोक्षरूपेण सांव्यवहारिकप्रत्यक्षरूपेण वा यज्जानाति तत्क्षायोपशमिकं मतिज्ञानम् । किञ्च छद्मस्थानां वीर्यान्तरायक्षयोपशमः केवलिनां तु निरवशेषक्षये ज्ञानं चारित्राद्युत्पत्तौ सहकारी सर्वत्र ज्ञातव्यः । संव्यवहारलक्षणं कथ्यते—समीचीनो व्यवहारः संव्यवहारः । प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणः संव्यवहारो भण्यते । संव्यवहारे भवं सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम् । यथा घटरूपमिदं मया दृष्टमित्यादि । तथैव श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमान्नोइन्द्रियावलम्बनाच्च प्रकाशोपाध्यायादिबहिरङ्गसहकारिकारणाच्च मूर्त्तामूर्त्तवस्तुलोकालोकव्याप्तिज्ञानरूपेण यदस्पष्टं जानाति तत्परोक्षं श्रुतज्ञानं भण्यते । किञ्च विशेषः—शब्दात्मकं श्रुतज्ञानं परोक्षमेव तावत्, स्वर्गापवर्गादिबहिर्विषयपरिच्छित्तिपरिज्ञानं विकल्परूपं तदपि परोक्षं, यत्पुनरभ्यन्तरे सुखदुःखविकल्परूपोऽहमनन्तज्ञानादिरूपोऽहमिति वा तदीषत्परोक्षम्, यच्च निश्चयभावश्रुतज्ञानं तच्च शुद्धात्माभिमुखसुखसंवित्तिस्वरूपं स्वसंवित्त्याकारेण सविकल्पमपीन्द्रियमनोजनितरागादिविकल्पजालरहितत्वेन निर्विकल्पम्, अभेदनयेन तदेवात्मशब्दवाच्यं वीतरागसम्यक्चारित्राविनाभूतं केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमपि संसारिणां क्षायिकज्ञानाभावात् क्षायोपशमिकमपि प्रत्यक्षमभिधीयते । अत्राह शिष्यः—आद्ये परोक्षमिति तत्त्वार्थसूत्रे मतिश्रुतद्वयं परोक्षं भणितं तिष्ठति कथं प्रत्यक्षं भवतीति । परिहारमाह—तदुत्सर्गव्याख्यानम्, इदं पुनरपवादव्याख्यानं, यदि तदुत्सर्गव्याख्यानं न भवति तर्हि मतिज्ञानं कथं तत्त्वार्थे परोक्षं भणितं तिष्ठति । तर्कशास्त्रे सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षं कथं जातं । यथा अपवादव्याख्यानेन मतिज्ञानं परोक्षमपि प्रत्यक्षज्ञानं तथा स्वात्माभिमुखं भावश्रुतज्ञानमपि परोक्षं सत्प्रत्यक्षं भण्यते । यदि पुनरेकान्तेन परोक्षं भवति तर्हि सुखदुःखादिसंवेदनमपि परोक्षं प्राप्नोति न च तथा । तथैव च स एवात्मा अवधिज्ञानावरणीयक्षयोपशमान्मूर्त्तं वस्तु यदेकदेशप्रत्यक्षेण सविकल्पं जानाति तदवधिज्ञानम् । यत्पुनर्मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमाच्च स्वकीयमनोऽवलम्बनेन परकीयमनोगतं मूर्त्तमर्थमेकदेशप्रत्यक्षेण सविकल्पं जानाति तदिह मतिज्ञानपूर्वकं मनःपर्ययज्ञानम् । तथैव निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणलक्षणैकाग्रध्यानेन केवलज्ञानावरणादिघातिचतुष्टयक्षये सति यत्समुत्पद्यते तदेव समस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावग्राहकं सर्वप्रकारोपादेयभूतं केवलज्ञानमिति ।

व्याख्यार्थः—"णाणं अट्ठवियप्पं" ज्ञान आठ प्रकारका है । "मदिसुदिओही अणाणणाणाणि" उन आठ प्रकारके भेदोंके मध्यमें मति, श्रुत तथा अवधि ये तीन मिथ्यात्वके उदयके वशसे विपरीत अभिनिवेशरूप अज्ञान होते हैं (इसीसे कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि [विभंगावधि]) ये इनके नाम हैं तथा वेही मति, श्रुत तथा अवधि ज्ञान शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वके विषयमें विपरीत अभिनिवेशके अभावके कारण सम्यग्दृष्टि जीवके सम्य-

ज्ञान हो जाते हैं (इस रीतिसे मति आदि तीन अज्ञान और तीन ज्ञान उभयस्वरूप होनेसे ज्ञानके ६ भेद हुए) तथा "मणपज्जवकेवलमवि" मनःपर्यय और केवलज्ञान ये दोनों मिलके ज्ञानके आठ भेद हुए। "पच्चक्खपरोक्खभेयं च" इन आठोंमें अवधि और मनःपर्यय ये दोनों तथा विभंगावधि तो देशप्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष हैं, शेष (बाकीके) कुमति, कुश्रुत, मति और श्रुत ये चार परोक्ष हैं। अब यहांसे विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं। जैसे—आत्मा निश्चयनयसे संपूर्णरूपसे विमल तथा अखंड जो एक प्रत्यक्षज्ञानस्वरूप केवलज्ञान है उस ज्ञानस्वरूप है और वही आत्मा व्यवहारनयसे अनादिकालके कर्मबंधसे आच्छादित होकर, मतिज्ञानके आवरणके क्षयोपशमसे तथा वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे और बहिरंग पांच इन्द्रिय तथा मनके अवलम्बनसे मूर्त्त और अमूर्त्तवस्तुको एक देशसे विकल्पाकार परोक्षरूपसे अथवा सांव्यवहारिक प्रत्यक्षरूपसे जो जानता है वह क्षायोपशमिक मतिज्ञान है। अब यहांपर विशेष यह जानना चाहिये कि छद्मस्थोंके तो वीर्यान्तरायका क्षयोपशम सर्वत्र ज्ञान चारित्र आदिकी उत्पत्तिमें सहकारी कारण है और केवलियोंके वीर्यान्तरायका सर्वथा क्षय जो है वह ज्ञान चारित्र आदिकी उत्पत्तिमें सर्वत्र सहकारी कारण है। अब सांव्यवहारिक प्रत्यक्षका लक्षण लिखते हैं—समीचीन अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप जो व्यवहार है वह संव्यवहार कहाता है, संव्यवहारमें जो हो सो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है; जैसे—यह घटका रूप मैंने देखा इत्यादि। ऐसेही श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे और नोइन्द्रियके अवलम्बसे प्रकाश और अध्यापक आदि सहकारी कारणके संयोगसे मूर्त्त तथा अमूर्त्त वस्तुको लोक तथा अलोककी व्याप्तिरूप ज्ञानसे जो अस्पष्ट जानता है उसको परोक्ष श्रुतज्ञान कहते हैं और इसमें भी विशेष यह है कि शब्दात्मक (शब्दरूप) जो श्रुतज्ञान है वह तो परोक्ष ही है तथा स्वर्ग, मोक्ष आदि बाह्य विषयमें बोध करानेवाला विकल्परूप जो ज्ञान है वह भी परोक्ष है और जो आभ्यंतरमें सुख दुःख विकल्परूप है अथवा मैं अनन्त ज्ञान आदिरूप हूं इत्यादि ज्ञान है वह ईषत् (किंचित्) परोक्ष है तथा जो भावश्रुत ज्ञान है वह शुद्ध आत्माके अभिमुख (सन्मुख) होनेसे सुखसंवित्ति (ज्ञान) स्वरूप है और वह निज आत्मज्ञानके आकारसे सविकल्प है तो भी इन्द्रिय तथा मनसे उत्पन्न जो विकल्पसमूह हैं उनसे रहित होनेके कारण निर्विकल्प है और अभेद नयसे वही आत्मज्ञान इस शब्दसे कहा जाता है। तथा वह रागरहित जो सम्यक्चारित्र है उसके विना नहीं होता है। यद्यपि यह केवल ज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष है तथापि संसारियोंको क्षायिक ज्ञानकी प्राप्ति न होनेसे क्षायोपशमिक होनेपर भी प्रत्यक्ष कहलाता है। यहांपर शिष्य आशंका करता है कि हे गुरो, "आद्ये परोक्षम्" इस तत्त्वार्थ सूत्रमें मति और श्रुत इन दोनों ज्ञानोंको परोक्ष कहा है फिर आप इसको प्रत्यक्ष कैसे कहते हो? । अब शंकाका परिहार इस प्रकार करते

हैं कि "आद्ये परोक्षम्" इस सूत्रमें जो श्रुतको परोक्ष कहा है सो उत्सर्ग व्याख्यान है और यह जो हमने कहा है कि भाव श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष है सो उस उत्सर्गका बाधक जो अपवाद है उसकी अपेक्षासे है । यदि तत्त्वार्थसूत्रमें उत्सर्गका कथन न होता तो तत्त्वार्थसूत्रमें मतिज्ञान परोक्ष कैसे कहा गया है ? । और यदि वह सूत्रमें परोक्षही कहा गया है तो तर्कशास्त्रमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कैसे हुआ ? इसलिये जैसे अपवाद व्याख्यानसे परोक्षरूप भी मतिज्ञानको प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है वैसेही निज आत्माके सन्मुख जो भावश्रुत ज्ञान है वह परोक्ष है तोभी उसको प्रत्यक्ष कहते हैं । और यदि एकान्तसे ये मति, श्रुत दोनों परोक्षही होवें तो सुख दुःख आदिका जो संवेदन (ज्ञान) है वह भी परोक्षही होगा और वह संवेदन परोक्ष नहीं है । इसी रीतिसे वही आत्मा अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे मूर्त्त वस्तुको जो एकदेश प्रत्यक्ष द्वारा सविकल्प जानता है वह अवधिज्ञान है । और जो मनःपर्यय ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे अपने मनके अवलम्बनद्वारा परके मनमें प्राप्त हुए मूर्त्त पदार्थको एकदेश प्रत्यक्षसे सविकल्प जानता है वह यहांपर मतिज्ञानपूर्वक मनःपर्यय ज्ञान कहलाता है । इसी प्रकार अपना शुद्ध जो आत्मद्रव्य है उसका भले प्रकार श्रद्धान करना, जानना और आचरण करना इन रूप जो एकाग्र ध्यान उससे केवल ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंका नाश होनेपर जो उत्पन्न होता है वह एक समयमें समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावको ग्रहण करनेवाला और सब प्रकारसे उपादेयभूत (ग्रहण करने योग्य) केवल ज्ञान है ॥ ५ ॥

अथ ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयव्याख्यानस्य नयविभागेनोपसंहारः कथ्यते ।

अब ज्ञान तथा दर्शन इन दोनों उपयोगोंके व्याख्यानका नयके विभागसे उपसंहार कहते हैं—

गाथा । अट्ठ चदु णाण दंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं ।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ॥ ६ ॥

गाथाभावार्थः—आठ प्रकारके ज्ञान और चार प्रकारके दर्शनका जो धारक है वह जीव है । यह व्यवहार नयसे सामान्य जीवका लक्षण है और शुद्ध नयसे शुद्ध जो ज्ञान, दर्शन है वह जीवका लक्षण कहा गया है ।

व्याख्या । "अट्ठ चदु णाण दंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं" अष्टविधं ज्ञानं चतुर्विधं दर्शनं सामान्यं जीवलक्षणं भणितम् । सामान्यमिति कोऽर्थः संसारिजीवमुक्तजीवविवक्षा नास्ति, अथवा शुद्धाशुद्धज्ञानदर्शनविवक्षा नास्ति । तदपि कथमितिचेद् विवक्षाया अभावः सामान्यलक्षणमिति वचनात्, कस्मात्सामान्यं जीवलक्षणं भणितं "ववहारा" व्यवहारात् व्यवहारनयात् । अत्र केवलज्ञानदर्शनं प्रति शुद्धसद्भूतशब्दवाच्योऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारः, छद्मस्थज्ञानदर्शनापरिपूर्णापेक्षया पुनरशुद्धसद्भूतशब्दवाच्य उपचरितसद्भूतव्यवहारः, कुमति-

कुश्रुतविभङ्गत्रये पुनरुपचरितासद्भूतव्यवहारः। "सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं" शुद्धं-निश्चयनयात्पुनः शुद्धमखण्डं केवलज्ञानदर्शनद्वयं जीवलक्षणमिति। किञ्च ज्ञानदर्शनोपयोगविवक्षायामुपयोगशब्देन विवक्षितार्थपरिच्छित्तिलक्षणोऽर्थग्रहणव्यापारो गृह्यते। शुभाशुभ-शुद्धोपयोगत्रयविवक्षायां पुनरुपयोगशब्देन शुभाशुभशुद्धभावनैकरूपमनुष्ठानं ज्ञातव्यमिति। अत्र सहजशुद्धनिर्विकारपरमानन्दैकलक्षणस्य साक्षादुपादेयभूतस्याक्षयसुखस्योपादानका-रणत्वात्केवलज्ञानदर्शनद्वयमुपादेयमिति। एवं नैयायिकं प्रति गुणगुणिभेदैकान्तनिराकर-णार्थमुपयोगव्याख्यानेन गाथात्रयं गतम्॥ ६॥

व्याख्यार्थः—"अट्ठ चदु णाण दंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं" आठ प्रकारका ज्ञान तथा चार प्रकारका दर्शन जो है सो सामान्य रूपसे जीवका लक्षण कहा है। यहांपर सामान्य इस कथनका यह तात्पर्य है कि इस लक्षणमें संसारी जीव व मुक्त जीवकी विवक्षा नहीं है, अथवा शुद्ध अशुद्ध ज्ञानदर्शनकी भी विवक्षा नहीं है। सो कैसे है? यदि ऐसी शंका करो तो उत्तर यह है कि जीवका सामान्य लक्षण है ऐसा वचन कहनेसे विवक्षाका अभाव है। यह जीवका सामान्य लक्षण किस अपेक्षासे है? इसका उत्तर यह है कि **"ववहारा"** अर्थात् व्यवहार नयकी अपेक्षासे है। यहां केवल ज्ञान, दर्शनके प्रति तो शुद्ध सद्भूत शब्दसे वाच्य (कहने योग्य) अनुपचरित सद्भूत व्यवहार है और छद्मस्थ ज्ञान दर्शनकी अपेक्षासे तो अशुद्ध सद्भूत शब्दसे वाच्य उपचरित सद्भूत व्यवहार है, तथा कुमति, कुश्रुत, व विभंग (कु अवधि) इन तीनोंमें उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है **"सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं"** और शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध अखंड केवल ज्ञान तथा दर्शन ये दोनोंही जीवके लक्षण हैं। और भी यहां ज्ञान दर्शनरूप उपयोगकी विवक्षामें उपयोग शब्दसे विवक्षित (कथन करनेको अभिमत) जो पदार्थ है उस पदार्थके ज्ञानरूप वस्तुके ग्रहणरूप व्यापारका ग्रहण किया जाता है और शुभ, अशुभ तथा शुद्ध इन तीनों उपयोगोंकी विवक्षामें तो उपयोग शब्दसे शुभ, अशुभ तथा शुद्ध भावना एकरूप अनुष्ठान जानना चाहिये। यहांपर सहज शुद्ध निर्विकार परमानंदरूप एक लक्षणका धारक साक्षात् उपादेय (ग्राह्य) भूत जो अक्षय सुख है उसके उपादान कारण होनेसे केवल ज्ञान और केवल दर्शन ये दोनों उपादेय हैं। इस प्रकार नैयायिकके प्रति गुण, गुणी अर्थात् ज्ञान और आत्मा इन दोनोंका एकान्तरूपसे भेदके निराकरणके लिये उपयोगके व्याख्यानद्वारा तीन गाथा समाप्त हुईं॥ ६॥

अथामूर्तातीन्द्रियनिजात्मद्रव्यसंवित्तिरहितेन मूर्त्तपञ्चेन्द्रियविषयासक्तेन च यदुपार्जितं मूर्त्तं कर्म तदुदयेन व्यवहारेण मूर्त्तोऽपि निश्चयेनामूर्त्तो जीव इत्युपदिशति।

अब अमूर्त्त तथा अतीन्द्रिय जो आत्मद्रव्यका ज्ञान है उससे रहित तथा मूर्त्त जो पांचों इन्द्रियोंके विषय हैं उनमें आसक्त जीवने जो मूर्त्त कर्म उपार्जन किया है

उसके उदयसे व्यवहार नयकी अपेक्षासे जीव मूर्त्त है तो भी निश्चयसे अमूर्त है ऐसा उपदेश देते हैं।

गाथा। वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति वंधादो ॥ ७ ॥

गाथाभावार्थः—निश्चयसे जीवमें पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध, और आठ स्पर्श नहीं हैं इसलिये जीव अमूर्त है और वंधसे व्यवहारकी अपेक्षा करके जीव मूर्त्त है ॥ ७ ॥

व्याख्या। "वण्ण रस पञ्च गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे णो संति" श्वेतपीतनीलारुणकृष्णसंज्ञाः पञ्च वर्णाः; तिक्तकटुककषायाम्लमधुरसंज्ञाः पञ्च रसाः, सुगन्धदुर्गन्धसंज्ञौ द्वौ गन्धौ, शीतोष्णस्निग्धरूक्षमृदुकर्कशगुरुलघुसंज्ञा अष्टौ स्पर्शाः; "णिच्छया" शुद्धनिश्चयनयात् शुद्धबुद्धैकस्वभावे शुद्धजीवे न सन्ति। "अमुत्ति तदो" ततः कारणादमूर्त्तः, यद्यमूर्त्तस्तर्हि तस्य कथं कर्मबन्ध इति चेत् "ववहारा मुत्ति" अनुपचरितासद्भूतव्यवहारान्मूर्त्तो यतस्तदपि कस्मात् "वंधादो" अनन्तज्ञानाद्युपलम्भलक्षणमोक्षविलक्षणादनादिकर्मबन्धनादिति। तथा चोक्तं-कथंचिन्मूर्त्तामूर्त्तजीवलक्षणम्-"वंधं पडिएयत्तं लक्खणदो हवदि तस्स भिन्नत्तं। तम्हा अमुत्तिभावो णेगंतो होदि जीवस्स। १।" अयमत्रार्थः—यस्यैवामूर्त्तस्यात्मनः प्राप्त्यभावादनादिसंसारे भ्रमितोऽयं जीवः स एवामूर्त्तो मूर्त्तपञ्चेन्द्रियविषयत्यागेन निरन्तरं ध्यातव्यः। इति भट्टचार्वाकमतं प्रत्यमूर्त्तजीवस्थापनमुख्यत्वेन सूत्रं गतम् ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थः—"वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे णो संति" श्वेत, नील, पीत (पीला), रक्त (लाल) तथा कृष्ण (काला) ये पांच वर्ण; चरपरा, कडुवा, कषायला, खट्टा और मीठा ये पांच रस; सुगन्ध और दुर्गन्ध नामक दो गंध तथा ठंडा, गरम, चिकना, रूखा, मुलायम, कठोर (कड़ा), भारी और हलका यह आठ प्रकारका स्पर्श शुद्ध निश्चय नयसे शुद्ध, बुद्ध एक स्वभावका धारक जो शुद्ध जीव है उसमें नहीं है। "अमुत्ति तदो" इस हेतुसे यह जीव अमूर्त्ति है अर्थात् मूर्त्तिरहित है। शंका—यदि जीव मूर्त्तिरहित है तो मूर्त्तिसे शून्य जीवके कर्मका वंध कैसे होता है? उत्तर—"ववहारा मुत्ति" यद्यपि अमूर्त्त है तथापि अनुपचरित असद्भूत व्यवहारसे मूर्त्त है। शंका—यह मूर्त्त भी किस कारणसे है? उत्तर "वंधादो" अनंत ज्ञान आदिकी प्राप्ति रूप जो मोक्ष है उस मोक्षसे विपरीत अनादि कर्मोंके वंधनसे है। और कथंचित् मूर्त्त तथा अमूर्त्तका लक्षण कहा भी है, जैसे—"वंधके प्रति जीवकी एकता है और लक्षणसे उसकी भिन्नता है इसलिये जीवके अमूर्त्तभाव एकान्तसे नहीं है। १।" यहांपर तात्पर्य यह है कि जिस अमूर्त्त आत्माकी प्राप्तिके अभावसे इस जीवने संसारमें परिभ्रमण किया है उसी अमूर्त्त शुद्धस्वरूप आत्माको मूर्त्त पांचों इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग कर, ध्याना चाहिये। इस प्रकार भट्ट और चार्वाकके मतके प्रति जीवको मुख्यतासे अमूर्त्त स्थापन करनेवाला सूत्र समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

अथ निष्क्रियामूर्त्तटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावेन कर्मादिकर्तृत्वरहितोऽपि जीवो व्यवहारादिनयविभागेन कर्त्ता भवतीति कथयति ।

अब क्रियारहित, अमूर्त, टंकोत्कीर्ण (शुद्ध), ज्ञानरूप एक स्वभावसे जीव यद्यपि कर्म आदिके कर्त्तापनेसे रहित है तथापि व्यवहार आदि नयके विभागसे कर्त्ता होता है ऐसा कथन करते हैं ।

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो ।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥ ८ ॥

गाथाभावार्थः—आत्मा व्यवहारसे पुद्गल कर्म आदिका कर्त्ता है, निश्चयसे चेतन कर्मका कर्त्ता है और शुद्ध नयसे शुद्ध भावोंका कर्त्ता है ॥ ८ ॥

व्याख्या । अत्र सूत्रे भिन्नप्रक्रमरूपव्यवहितसम्बन्धेन मध्यपदं गृहीत्वा व्याख्यानं क्रियते। "आदा" आत्मा "पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु" पुद्गलकर्मादीनां कर्त्ता व्यवहारतस्तु पुनः, तथाहि मनोवचनकायव्यापारक्रियारहितनिजशुद्धात्मतत्त्वभावनाशून्यः सन्ननुपचरितासद्भूतव्यवहारेण ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणामादिशब्देनौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयाहारादिषट्पर्याप्तियोग्यपुद्गलपिण्डरूपनोकर्मणां तथैवोपचरितासद्भूतव्यवहारेण बहिर्विषयघटपटादीनां च कर्त्ता भवति । "णिच्छयदो चेदणकम्माणादा" निश्चयनयतश्चेतनकर्मणां तद्यथा रागादिविकल्पोपाधिरहितनिष्क्रियपरमचैतन्यभावनारहितेन यदुपार्जितं रागाद्युत्पादकं कर्म तदुदये सति निष्क्रियनिर्मलस्वसंवित्तिमलभमानो भावकर्मशब्दवाच्यरागादिविकल्परूपचेतनकर्मणामशुद्धनिश्चयेन कर्त्ता भवति । अशुद्धनिश्चयस्यार्थः कथ्यते—कर्मोपाधिसमुत्पन्नत्वादशुद्धः, तत्काले तप्तायःपिण्डवत्तन्मयत्वाच्च निश्चयः, इत्युभयमेलापकेनाशुद्धनिश्चयो भण्यते । "सुद्धणया सुद्धभावाणं" शुभाशुभयोगत्रयव्यापाररहितेन शुद्धबुद्धैकस्वभावेन यदा परिणमति तदानन्तज्ञानसुखादिशुद्धभावानां छद्मस्थावस्थायां भावनारूपेण विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन कर्त्ता, मुक्तावस्थायां तु शुद्धनयेनेति । किन्तु शुद्धाशुद्धभावानां परिणममानानामेव कर्तृत्वं ज्ञातव्यम्, न च हस्तादिव्यापाररूपाणामिति । यतो हि नित्यनिरञ्जननिष्क्रियनिजात्मस्वरूपभावनारहितस्य कर्मादिकर्तृत्वं व्याख्यातम्, ततस्तत्रैव निजशुद्धात्मनि भावना कर्त्तव्या । एवं सांख्यमतं प्रत्येकान्ताकर्तृत्वनिराकरणमुख्यत्वेन गाथा गता ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थः—इस सूत्रमें भिन्न प्रक्रमरूप व्यवहित संबंधसे मध्य (बीचके) पदको ग्रहण करके व्याख्यान किया जाता है । "आदा" आत्मा "पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु" व्यवहार नयकी अपेक्षासे पुद्गल कर्म आदिका कर्त्ता है। जैसे—मन, वचन तथा शरीरके व्यापाररूप क्रियासे रहित निज शुद्ध आत्मतत्त्वकी जो भावना है उस भावनासे शून्य होकर उपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मोंका तथा आदिशब्दसे औदारिक, वैक्रियक और आहारकरूप तीन शरीर तथा आहार आदि ६ पर्याप्तियोंके योग्य जो पुद्गल पिंडरूप नो (ईषत्) कर्म हैं उनका तथा उसी प्रकार उपचरित

असद्भूत व्यवहारसे बाह्य विषय घट, पट आदिका भी यह जीव कर्त्ता है। "णिच्छयणयदो चेदणकम्माणादा" और निश्चय नयकी अपेक्षासे तो यह आत्मा चेतन कर्मोंका कर्त्ता है। सो ऐसे है कि राग आदि विकल्परूप उपाधिसे रहित निष्क्रिय, परमभावनासे रहित ऐसे जीवने जो राग आदिको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका उपार्जन किया उन कर्मोंका उदय होनेपर निष्क्रिय और निर्मल आत्मज्ञानको नहीं प्राप्त होता हुआ यह जीव भावकर्म इस शब्दसे वाच्य जो रागादि विकल्परूप चेतन कर्म हैं उनका अशुद्ध निश्चय नयसे कर्त्ता होता है। अब अशुद्ध निश्चयका अर्थ कहते हैं। कर्मरूप उपाधिसे उत्पन्न होनेसे अशुद्ध कहलाता है और उस समय अग्निमें तपे हुए लोहके गोलेके समान तन्मय (उसीरूप) होनेसे निश्चय कहा जाता है, इस रीतिसे अशुद्ध और निश्चय इन दोनोंको मिलाके अशुद्ध निश्चय कहा जाता है। "सुद्धणया सुद्धभावाणं" जीव जब शुभ तथा अशुभ मनो, वचन, और कायरूप तीनों योगोंके व्यापारसे रहित शुद्ध, बुद्ध, एक स्वभावसे परिणमता है तब अनंत ज्ञान, सुख आदि शुद्ध भावोंका छद्मस्थ अवस्थामें भावनारूप विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चय नयसे कर्त्ता होता है और मुक्त अवस्थामें तो शुद्ध निश्चय नयसे अनंत ज्ञानादि शुद्ध भावोंका कर्त्ता है। यहां विशेष यह है कि शुद्ध अशुद्ध भावोंका जो परिणमन है उन्हीं-का कर्तृत्व जीवमें जानना चाहिये और हस्त आदिके व्यापाररूप परिणमनोंको न समझना चाहिये। क्योंकि नित्य, निरंजन, निष्क्रिय ऐसे अपने आत्मस्वरूपकी भावनासे रहित जो जीव है उसीके कर्म आदिका कर्तृत्व कहा गया है। इसलिये उस निज शुद्ध आत्मामें ही भावना करनी चाहिये। ऐसे सांख्यमतके प्रति "एकान्तसे जीव कर्त्ता नहीं है" इस मतके निराकरणकी मुख्यतासे गाथा समाप्त हुई ॥ ८ ॥

अथ यद्यपि शुद्धनयेन निर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतस्य भोक्ता तथाप्यशुद्धनयेन सांसारिकसुखदुःखस्यापि भोक्तात्मा भवतीत्याख्याति ।

अब यद्यपि आत्मा शुद्ध नयसे विकाररहित परम आनंदरूप एक लक्षणका धारक जो सुखरूपी अमृत है उसको भोगनेवाला है तथापि अशुद्ध नयसे संसारमें उत्पन्न हुए जो सुख दुःख हैं उनका भी भोगनेवाला है ऐसा कथन करते हैं।

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि ।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ॥ ९ ॥

गाथाभावार्थः—आत्मा व्यवहारसे सुख दुःखरूप पुद्गल कर्मोंके फलको भोगता है और निश्चय नयसे आत्मा चेतन स्वभावको भोगता है ॥ ९ ॥

व्याख्या। "ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि" व्यवहारात्सुखदुःखरूपं पुद्गलकर्मफलं प्रभुङ्क्ते। स कः कर्त्ता "आदा" आत्मा "णिच्छयणयदो चेदणभावं आदस्स" निश्चयनयतश्चेतनभावं भुङ्क्ते "खु" स्फुटं कस्य सम्बन्धिनमात्मनः स्वस्येति। तद्यथा—आत्मा हि

निजशुद्धात्मसंवित्तिसमुद्भूतपारमार्थिकसुखसुधारसभोजनमलभमान उपचरितासद्भूतव्यवहारेणेष्टानिष्टपञ्चेन्द्रियविषयजनितसुखदुःखं भुङ्क्ते तथैवानुपचरितासद्भूतव्यवहारेणाभ्यन्तरे सुखदुःखजनकं द्रव्यकर्मरूपं सातासातोदयं भुङ्क्ते। स एवाशुद्धनिश्चयनयेन हर्षविषादरूपं सुखदुःखं च भुङ्क्ते। शुद्धनिश्चयनयेन तु परमात्मस्वभावसम्यग्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानोत्पन्नसदानन्दैकलक्षणं सुखामृतं भुङ्क्ते इति। अत्र यस्यैव स्वाभाविकसुखामृतस्य भोजनाभावादिन्द्रियसुखं भुञ्जानः सन् संसारे परिभ्रमति तदेवातीन्द्रियसुखं सर्वप्रकारेणोपादेयमित्यभिप्रायः। एवं कर्त्ता कर्मफलं न भुङ्क्ते इति बौद्धमतनिषेधार्थं भोक्तृत्वव्याख्यानरूपेण सूत्रं गतम् ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थः—"ववहारा सुह दुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि" व्यवहार नयकी अपेक्षासे सुख तथा दुःखरूप पुद्गल कर्मफलोंको भोगता है। वह कर्मफलोंका भोक्ता कौन है कि "आदा" अर्थात् आत्मा। "णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स" और निश्चय नयसे तो स्फुट रीतिसे चेतन भावका ही भोक्ता आत्मा है और वह चेतन भाव किस संवन्धी है कि अपना ही संबंधी है, वह ऐसे कि निज शुद्ध आत्माके ज्ञानसे उत्पन्न जो पारमार्थिक सुखरूप अमृत रस है उसके भोजनको नहीं प्राप्त होता हुआ जो आत्मा है वह उपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे इष्ट तथा अनिष्ट पांचों इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न सुख तथा दुःखको भोगता है, ऐसेही अनुपचरित असद्भूत व्यवहारसे अन्तरंगमें सुख तथा दुःखको उत्पन्न करनेवाला जो द्रव्यकर्मरूप सात (सुखरूप) असात (दुःखरूप) उदय है उसको भोगता है, और वही आत्मा अशुद्ध निश्चय नयसे हर्ष तथा विषादरूप सुख दुःखको भोगता है, और शुद्ध निश्चय नयसे तो परमात्मस्वभावका जो सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण, उससे उत्पन्न अविनाशी आनंदरूप एक लक्षणका धारक जो सुखामृत है उसको भोगता है। यहांपर जिस स्वभावसे उत्पन्न हुए सुखामृतके भोजनके अभावसे ही आत्मा इंद्रियोंके सुखोंको भोगताहुआ संसारमें परिभ्रमण करता है; वही जो स्वभावसे उत्पन्न इन्द्रियोंके अगोचर सुख है सो सव प्रकारसे ग्रहण करने योग्य है ऐसा अभिप्राय है। इस प्रकार "कर्त्ता कर्मके फलको नहीं भोगता है" यह जो बौद्धका मत है उसका खंडन करनेके लिये जीव कर्मफलका भोक्ता है इस व्याख्यानरूप जो सूत्र (गाथा) है सो समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

अथ निश्चयेन लोकप्रमितासंख्येयप्रदेशमात्रोऽपि व्यवहारेण देहमात्रो जीव इत्यावेदयति।

अब यद्यपि आत्मा निश्चय नयसे लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशोंका धारक है तथापि व्यवहारसे देहप्रमाण है यह कथन करते हैं।

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा ॥ १० ॥

गाथाभावार्थः—व्यवहार नयसे समुद्घात अवस्थाके विना यह जीव संकोच तथा

विस्तारसे छोटे और बड़े शरीरके प्रमाण रहता है और निश्चय नयसे जीव असंख्यात प्रदेशोंका धारक है ॥ १० ॥

व्याख्या । "अणुगुरुदेहपमाणो" निश्चयेन स्वदेहाद्भिन्नस्य केवलज्ञानाद्यनन्तगुणराशेरभिन्नस्य निजशुद्धात्मस्वरूपस्योपलब्धेरभावात्तथैव देहममत्वमूलभूताहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञाप्रभृतिसमस्तरागादिविभावानामासक्तिसद्भावाच्च यदुपार्जितं शरीरनामकर्म तदुदये सति अणुगुरुदेहप्रमाणो भवति । स कः कर्त्ता "चेदा" चेतयिता जीवः । कस्मात् "उवसंहारप्पसप्पदो" उपसंहारप्रसर्पतः शरीरनामकर्मजनितविस्तारोपसंहारधर्माभ्यामित्यर्थः । कोऽत्र दृष्टान्तः, यथा प्रदीपो महद्भाजनप्रच्छादितस्तद्भाजनान्तरं सर्वं प्रकाशयति लघुभाजनप्रच्छादितस्तद्भाजनान्तरं प्रकाशयति । पुनरपि कस्मात् "असमुहदो" असमुद्घातात् वेदनाकषायविक्रियामरणान्तिकतैजसाहारककेवलिसंज्ञसप्तसमुद्घातवर्ज्जनात् । तथा चोक्तं सप्तसमुद्घातलक्षणम्—"वेयणकसायविउव्वियमारणंतिउसमुद्घादो । तेजाहारो छट्ठो सत्तमउ केवलीणं तु ।१।" तद्यथा "मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स । णिग्गमणं देहादो हवदि समुद्घादयं णाम ॥ १ ॥" तीव्रवेदनानुभवान्मूलशरीरमत्यक्त्वा आत्मप्रदेशानां वहिर्निर्गमनमिति वेदनासमुद्घातः ।१। तीव्रकषायोदयान्मूलशरीरमत्यक्त्वा परस्य घातार्थमात्मप्रदेशानां वहिर्गमनमिति कषायसमुद्घातः ।२। मूलशरीरमपरित्यज्य किमपि विकर्तुमात्मप्रदेशानां वहिर्गमनमिति विक्रियासमुद्घातः ।३। मरणान्तसमये मूलशरीरमपरित्यज्य यत्र कुत्रचिद्बद्धमायुस्तत्प्रदेशं स्फुटितुमात्मप्रदेशानां वहिर्गमनमिति मरणान्तिकसमुद्घातः ।४। स्वस्य मनोनिष्टजनकं किञ्चित्कारणान्तरमवलोक्य समुत्पन्नक्रोधस्य संयमनिधानस्य महामुनेर्मूलशरीरमत्यज्य सिन्दूरपुञ्जप्रभो दीर्घत्वेन द्वादशयोजनप्रमाणः सूच्यङ्गुलसङ्ख्येयभागमूलविस्तारो नवयोजनाग्रविस्तारः काहलाकृतिपुरुषो वामस्कन्धान्निर्गत्य वामप्रदक्षिणेन हृदये निहितं विरुद्धं वस्तु भस्मसात्कृत्य तेनैव संयमिना सह स च भस्म व्रजति द्वीपायनवत्, असावशुभस्तेजःसमुद्घातः, लोकं व्याधिदुर्भिक्षादिपीडितमवलोक्य समुत्पन्नकृपस्य परमसंयमनिधानस्य महर्षेर्मूलशरीरमत्यज्य शुभ्राकृतिः प्रागुक्तदेहप्रमाणः पुरुषो दक्षिणप्रदक्षिणेन व्याधिदुर्भिक्षादिकं स्फोटयित्वा पुनरपि स्वस्थाने प्रविशति, असौ शुभरूपस्तेजःसमुद्घातः । समुत्पन्नपदपदार्थभ्रान्तेः परमर्द्धिसंपन्नस्य महर्षेर्मूलशरीरमत्यज्य शुद्धस्फटिकाकृतिरेकहस्तप्रमाणः पुरुषो मस्तकमध्यान्निर्गत्य यत्र कुत्रचिदन्तर्मुहूर्त्तमध्ये केवलज्ञानिनं पश्यति तद्दर्शनाच्च स्वाश्रयस्य मुनेः पदपदार्थनिश्चयं समुत्पाद्य पुनः स्वस्थाने प्रविशति, असावाहारसमुद्घातः । सप्तमः केवलिनां दण्डकपाटप्रतरपूरणः सोऽयं केवलिसमुद्घातः । नयविभागः कथ्यते । "ववहारा" अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयात् "णिच्छयणयदो असंखदेसो वा" निश्चयनयतो लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशप्रमाणः वा शब्देन तु स्वसंवित्तिसमुत्पन्नकेवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे ज्ञानापेक्षया व्यवहारनयेन लोकालोकव्यापकः न च प्रदेशापेक्षया नैयायिकमीमांसकसांख्यमतवत् । तथैव पञ्चेन्द्रियमनोविषयविकल्परहितसमाधिकाले स्वसंवेदनलक्षणबोधसद्भावेऽपि वहिर्विषयेन्द्रियबोधाभावाज्जडः न च सर्वथा सांख्यमतवत् । तथा रागादिविभावपरिणामापेक्षया शून्योऽपि भवति न चानन्तज्ञानाद्यपेक्षया बौद्धमतवत् । किञ्च अणुमात्रशरीरशब्देनात्र उत्सेधघनाङ्गुलासंख्येयभागप्रमितं लब्ध्यपूर्णसूक्ष्मनिगोदशरीरं ग्राह्यं न च पुद्गलपरमाणुः । गुरुशरीर-

शब्देन च योजनसहस्रपरिमाणं महामत्स्यशरीरं मध्यमावगाहेन मध्यमशरीराणि च। इदमत्र तात्पर्यं—देहममत्वनिमित्तेन देहं गृहीत्वा संसारे परिभ्रमति तेन कारणेन देहादिममत्वं त्यक्त्वा निर्मोहनिजशुद्धात्मनि भावना कर्त्तव्येति। एवं स्वदेहमात्रव्याख्यानेन गाथा गता ॥ १० ॥

व्याख्यार्थः—"अणुगुरुदेहपमाणो" निश्चय नयसे अपने देहसे भिन्न तथा केवलज्ञान आदि अनन्त गुणोंकी राशिसे अभिन्न जो अपना शुद्ध आत्मस्वरूप है उसकी प्राप्तिके अभावसे तथा इसी प्रकार देहकी ममताके मूल कारणस्वरूप आहार, भय, मैथुन, परिग्रह रूप जो संज्ञा उनको आदि ले जो समस्त राग आदि विभाव हैं उनमें आसक्तिके होनेसे जो जीवने शरीर नाम कर्म उपार्जन किया उसका उदय होनेसे सूक्ष्म (छोटा) तथा गुरु (बड़ा) जो देह उसके प्रमाण होता है। वह शरीर प्रमाण होनेवाला कौन है? "चेदा" चेतनावाला यह जीव है। किस निमित्तसे? "उवसंहारपसप्पदो" उपसंहार तथा प्रसर्पण स्वभावसे अर्थात् संकोच तथा विस्तार स्वभावसे। तात्पर्य यह कि शरीर नाम कर्मसे उत्पन्न जो विस्तार तथा संकोचरूप जीवके धर्म हैं उनसे यह जीव देहप्रमाण होता है। इसमें दृष्टान्त क्या है कि जैसे दीपक किसी बड़े पात्रमें रख दिया जाता है तो वह उस पात्रके अभ्यन्तर (अन्तर्गत) जो पदार्थ हैं उन सबको प्रकाशित करता है और जो छोटे पात्रमें रख दिया जाता है तो उस पात्रके अन्तर्गत जो पदार्थ हैं उनको प्रकाशित करता है। फिर किस निमित्तसे यह जीव देहप्रमाण है? "असमुहदो" समुद्घातके न होनेसे अर्थात् वेदना, कषाय, विक्रिया, मरणान्तिक, तैजस, आहारक और केवली नामक जो सात समुद्घात हैं उनको छोड़नेसे अर्थात् समुद्घात अवस्थामें तो जीव देहप्रमाण नहीं रहता है और असमुद्घात दशामें देह प्रमाणही रहता है और सप्त (सात) समुद्घातोंका लक्षण इस प्रकार कहा है कि "वेदना १ कषाय २ विक्रिया ३ मरणान्तिक ४ तैजस ५ आहार ६ और सातवां केवली ये सात समुद्घात हैं" सो ऐसे हैं कि "अपने मूल शरीरको न छोड़कर जो आत्माके प्रदेश देहसे निकलकर उत्तरदेहके प्रति गमन करते हैं उसको समुद्घात कहते हैं" इन सातों समुद्घातोंको क्रमसे दर्शाते हैं। जैसे—तीव्र वेदना (पीडा) के अनुभवसे मूल शरीरका त्याग न करके जो आत्माके प्रदेशोंका शरीरसे बाहर जाना सो वेदना समुद्घात है। १। तथा तीव्र क्रोधादिक कषायोंके उदयसे मूल अर्थात् धारण किये हुए शरीरको न छोड़कर जो आत्माके प्रदेश दूसरेको मारनेके लिये शरीरके बाहर जाते हैं उसको कषाय समुद्घात कहते हैं। २। किसी प्रकारका विकार (कामादिजनित विकार) उत्पन्न करने वा करानेके अर्थ मूल शरीरको न त्यागकर जो आत्माके प्रदेशोंका बाहर जाना है उसको विकुर्वणा अथवा विक्रिया समुद्घात कहते हैं। ३। तथा मरणान्त समयमें मूल शरीरको न त्याग करके जहां कहीं इस आत्माने आयु बंध किया है वहांपर जो प्रदेशोंका शरीरसे बाह्य गमन करना सो मरणान्तिक समुद्घात है। ४। अपने मनको अनिष्ट (बुरा) उत्पन्न करनेवाले किसी

कारणको देखकर उत्पन्न हुआ है क्रोध जिसके ऐसा जो संयमका निधान महामुनि उसके वाम (बायें) कंधेसे सिंदूरके ढेरकीसी कान्तिवाला, बारह योजन लम्बा, सूच्यंगुलके संख्येय भाग प्रमाण मूल विस्तार और नव योजनके अग्र विस्तारको धारण करनेवाला काहल ( ) के आकारका धारक पुरुष निकल करके वाम प्रदक्षिणा देकर मुनिके हृदयमें स्थित जो विरुद्ध पदार्थ है उसको भस्म करके और उसी मुनिके साथ आप भी भस्म होजाय; जैसे द्वीपायन मुनिके शरीरसे पुतला निकलके द्वारिकाको भस्म कर उसीने द्वीपायन मुनिको भस्म किया और वह पुतला आप भी भस्म होगया उसीकी तरह जो हो सो अशुभ तैजस समुद्घात है । तथा जगत्को रोग अथवा दुर्भिक्ष आदिसे पीडित देखकर उत्पन्न हुई है कृपा जिसके ऐसा जो परमसंयमनिधान महाऋषि उसके मूल शरीरको नहीं त्यागकर पूर्वोक्त देहके प्रमाणको धारण करनेवाला अच्छी सौम्य आकृतिका धारक पुरुष दक्षिण स्कंधसे निकलकर दक्षिण प्रदक्षिणाकर रोग दुर्भिक्ष आदिको दूर कर फिर अपने स्थानमें प्रवेश कर जाय यह शुभ रूप तैजस समुद्घात है । ५ । उत्पन्न हुई है पद और पदार्थमें भ्रान्ति (संशय) जिसके ऐसा जो परम ऋद्धिका धारक महर्षि उसके मस्तकमेंसे मूल शरीरको न छोड़कर निर्मल स्फटिक (बिल्लोर) की आकृति (रंग) को धारण करनेवाला एक हाथका पुरुष निकलकर अन्तर्मुहूर्त्तके बीचमें जहां कहीं भी केवलीको देखता है और उन केवलीके दर्शनसे अपना आश्रय जो मुनि उसके पद और पदार्थका निश्चय उत्पन्न कर फिर अपने स्थानमें प्रवेश कर जाय सो यह आहार समुद्घात है । ६ । केवलियोंके जो दंड कपाट प्रतर पूरण होता है सो सातवां केवलि समुद्घात है । ७ । अब नयोंका विभाग कहते हैं । "ववहारा" यह जो गुरुलघुदेहप्रमाणता जीवकी दर्शाई गई है वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे है तथा "णिच्छयणयदो असंखदेसो वा" निश्चय-नयसे लोकाकाश प्रमाण जो असंख्येय प्रदेश हैं उन प्रमाण अर्थात् लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशोंका धारक यह आत्मा है और "असंखदेसो वा" यहां जो गाथाके अंतमें वा शब्द दिया गया है उस वा शब्दसे ग्रंथकर्त्ताने यह सूचित किया है कि स्वसंवित्ति (आत्मज्ञान) से उत्पन्न हुआ जो केवलज्ञान उसकी उत्पत्तिके प्रस्तावमें अर्थात् केवल ज्ञानावस्थामें ज्ञानकी अपेक्षासे व्यवहारनयद्वारा आत्माको लोक और अलोकमें व्यापक माना है और जैसे नैयायिक, मीमांसक तथा सांख्य मतवाले आत्माको प्रदेशोंकी अपेक्षासे व्यापक मानते हैं वैसा नहीं । इसी प्रकार पांचों इन्द्रियों और मनके विषयोंके जो विकल्प उनसे रहित जो समाधिकाल (ध्यानका समय) है उसमें आत्मज्ञानरूप ज्ञानके विद्यमान होनेपर भी बाह्य विषयरूप जो इन्द्रियज्ञान है उसके अभावसे आत्मा जड माना गया है और सांख्यमतकी तरह आत्मा सर्वथा जड नहीं है । ऐसे ही आत्मा राग, द्वेष आदि जो विभाव परिणाम हैं उनकी अपेक्षासे अर्थात् उनके न होनेसे शून्य भी होता है, परंतु

बौद्धकी भांति अनन्त ज्ञान आदिकी अपेक्षासे शून्य नहीं है । और भी अणुमात्र शरीर आत्मा है, यहांपर अणु शब्दसे उत्सेध घनांगुलके असंख्यातवें भाग परिमाण जो लब्धि अपूर्ण (अपर्याप्तक) सूक्ष्म निगोद शरीर है उसका ग्रहण करना चाहिये और पुद्गल परमाणुका ग्रहण न करना चाहिये । और गुरु शरीर यहांपर गुरु शब्दसे एक हजार योजन परिमाण जो महामत्स्यका शरीर है उसको ग्रहण करना चाहिये और मध्यम अवगाहसे मध्यम शरीरोंका ग्रहण है । तात्पर्य इस गाथाका यहां यह है कि जीव देहके ममत्वरूप निमित्त कारणसे देहको ग्रहण कर संसारमें परिभ्रमण करता है इस कारण देह आदिके ममत्वको छोड़कर निर्मोह जो अपना शुद्ध आत्मा है उसमें भावना करनी चाहिये । इस प्रकार जीव स्वदेह मात्र है इस कथनसे यह गाथा समाप्त हुई ॥ १० ॥

अतः परं गाथात्रयेण नयविभागेन संसारिजीवस्वरूपं तदवसाने शुद्धजीवस्वरूपं च कथयति । तद्यथा—

अब तीन गाथाओंके द्वारा नयके विभागसे संसारी जीवका स्वरूप तथा उसके अंतमें शुद्ध जीवका स्वरूप कहते हैं । वह निम्नलिखित प्रकार है—

पुढविजलतेयवाओ वणप्फदी विविहथावरे इंदी ।
विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी ॥ ११ ॥

गाथाभावार्थः—पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति इन भेदोंसे नाना प्रकारके स्थावर जीव हैं और ये सब एक स्पर्शन इंद्रियके ही धारक हैं, तथा शंख आदिक दो, तीन, चार और पांच इन्द्रियोंके धारक त्रस जीव होते हैं ॥ ११ ॥

व्याख्या । "होंति" इत्यादिव्याख्यानं क्रियते । "होंति" अतीन्द्रियामूर्त्तनिजपरमात्मस्वभावानुभूतिजनितसुखामृतरसस्वभावमलभमानास्तुच्छमपीन्द्रियसुखमभिलषन्ति छद्मस्थाः, तदासक्ताः सन्त एकेन्द्रियादिजीवानां घातं कुर्वन्ति तेनोपार्जितं यत्त्रसस्थावरनामकर्म तदुदयेन जीवा भवन्ति । कथंभूता भवन्ति "पुढविजलतेयवाओवणप्फदी विविहथावरे इंदी" पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः कतिसंख्योपेता विविधा आगमकथितस्वकीयस्वकीयान्तर्भेदैर्बहुविधाः स्थावरनामकर्मोदयेन स्थावरा एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयेन स्पर्शनेन्द्रिययुक्ता एकेन्द्रिया न केवलमित्थंभूताः स्थावरा भवन्ति । "विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा" द्वित्रिचतुःपञ्चाक्षास्त्रसनामकर्मोदयेन त्रसजीवा भवन्ति । ते च कथंभूताः "संखादी" शङ्खादयः स्पर्शनरसनेन्द्रियद्वययुक्ताः शङ्खशुक्तिकृम्यादयो द्वीन्द्रियाः, स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रिययुक्ताः कुन्थुपिपीलिकायूकामत्कुणादयस्त्रीन्द्रियाः, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुरिन्द्रियचतुष्टययुक्ता दंशमशकमक्षिकाभ्रमरादयश्चतुरिन्द्रियाः, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियपञ्चयुक्ता मनुष्यादयः पञ्चेन्द्रिया इति । अयमत्रार्थः—विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मस्वरूपभावनोत्पन्नपारमार्थिकसुखमलभमाना इन्द्रियसुखासक्ता एकेन्द्रियादिजीवानां वधं कृत्वा त्रसस्थावरा भवन्तीत्युक्तं पूर्वं तस्मात्त्रसस्थावरोत्पत्तिविनाशार्थं तत्रैव परमात्मनि भावना कर्त्तव्येति ॥११॥

व्याख्यार्थः—अब 'होंति' इत्यादि पदोंकी व्याख्या की जाती है। "होंति" अतीन्द्रिय तथा मूर्त्तिरहित जो निजपरमात्माका स्वभाव है उसके अनुभवसे उत्पन्न जो सुखरूपी अमृतरस उसके स्वभावको नहीं प्राप्त करते हुए जीव तुच्छ (अल्प) जो इंद्रियोंसे उत्पन्न सुख है उसकी अभिलाषा करते हैं और अज्ञानतासे उस इंद्रियजनित सुखमें आसक्त होकर एकेन्द्रिय आदि जीवोंका घात करते हैं. उस घातसे उपार्जन किया जो त्रस तथा स्थावर नामकर्म उसके उदयसे होते हैं. "पुढविजलतेयवाऊवणप्फदीविविहथावरे इंदी" पृथिवी, जल, तेज, वायु, तथा वनस्पति जीव, कितने–अनेक प्रकारके अर्थात् शास्त्रमें कहे हुए जो अपने २ भेद हैं उनसे बहुत प्रकारके, स्थावर नाम कर्मके उदयसे स्थावर, एकेन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयसे स्पर्शन इन्द्रिय सहित एकेन्द्रिय होते हैं. केवल इस प्रकारके स्थावरही नहीं होते हैं; किन्तु "विगतिगचहुपंचक्खा तसजीवा" दो, तीन, चार, तथा पांच इन्द्रियोंके धारक त्रस नामकर्मके उदयसे त्रस जीव होते हैं. वे कैसे हैं कि "संखादी" शंख आदिक अर्थात् स्पर्शन और रसन इन दो इन्द्रियों सहित शंख, कृमि आदि दो इन्द्रियोंके धारक जीव हैं; स्पर्शन, रसन, तथा घ्राण (नासिका) इन तीन इंद्रियों सहित कुंथु, पिपीलिका (कीड़ी), यूका (जूं), मत्कुण (खटमल) आदि त्रींद्रिय हैं. स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु (नेत्र) इन चार इंद्रियों सहित दंश (डांसर), मशक (माछर), मक्षिका (मक्खी) और भौंरा आदि चतुरिंद्रिय जीव हैं; स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षुः और श्रोत्र (कर्ण) इन पांच इन्द्रियों सहित मनुष्य आदि पंचेंद्रिय हैं। यहांपर तात्पर्य यह है कि निर्मल ज्ञान तथा दर्शन स्वभावका धारक जो निज परमात्मस्वरूप उसकी भावनासे उत्पन्न जो पारमार्थिक सुख है उसको नहीं प्राप्त होते हुए जीव इंद्रियोंके सुखमें आसक्त होकर जो एकेन्द्रियादि जीवोंका वध करते हैं उससे त्रस तथा स्थावर होते हैं, ऐसा पहले कह चुके हैं इसलिये त्रस और स्थावरोंमें जो उत्पत्ति होती है उसके नाशके लिये उसी पूर्वोक्त प्रकारसे परमात्मामें भावना करनी चाहिये ॥ ११ ॥

तदेव त्रसस्थावरत्वं चतुर्दशजीवसमासरूपेण व्यक्तीकरोति।

अब उसी त्रस तथा स्थावरपनेको चतुर्दश १४ जीवसमासोंद्वारा व्यक्त (प्रकट) करते हैं।

समणा अमणा णेया पंचिंदिया णिम्मणा परे सव्वे।
वादरसुहमे इंदी सव्वे पज्जत्त इदराय ॥ १२ ॥

गाथाभावार्थः—पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी ऐसे दो प्रकारके जानने चाहियें और वे इंद्रिय, ते इंद्रिय, चौ इंद्रिय ये सब मनरहित (असंज्ञी) हैं. एकेन्द्रिय वादर और सूक्ष्म दो प्रकारके हैं और ये पूर्वोक्त सातों पर्याप्त तथा अपर्याप्त हैं. ऐसे १४ जीवसमास हैं ॥ १२ ॥

व्याख्या—"समणा अमणा" समस्तशुभाशुभविकल्पातीतपरमात्मद्रव्यविलक्षणं नानाविकल्पजालरूपं मनो भण्यते तेन सह ये वर्त्तन्ते ते समनस्काः, तद्विपरीता अमनस्का असंज्ञिनः "णेया" ज्ञेया ज्ञातव्याः। "पंचिंदिया" ते संज्ञिनस्तथैवासंज्ञिनश्च पञ्चेन्द्रियाः। एवं संज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्च एव, नारकमनुष्यदेवाः संज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव। "णिम्मणा परे सव्वे" निर्मनस्काः पञ्चेन्द्रियात्सकाशादपरे सर्वे द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः "वादरसुहमे इंदी" वादरसूक्ष्मा एकेन्द्रियास्तेऽपि यदष्टपत्रपद्माकारं द्रव्यमनस्तदाधारेण शिक्षालापोपदेशादिग्राहकं भावमनश्चेति तदुभयाभावादसंज्ञिन एव। "सव्वे पज्जत्त इदराय" एवमुक्तप्रकारेण संज्ञ्यसंज्ञिरूपेण पञ्चेन्द्रियद्वयं द्वित्रिचतुरिन्द्रियरूपेण विकलेन्द्रियत्रयं वादरसूक्ष्मरूपेणैकेन्द्रियद्वयं चेति सप्तभेदाः। "आहारसरीरिंदिय पज्जत्ती आणपाणभासमणाः। चत्तारिपंचछप्पियइंदियवियलसण्णिसण्णीणं। १।" इति गाथाकथितक्रममेण ते सर्वे प्रत्येकं स्वकीयस्वकीयपर्याप्तिसंभवात्सप्त पर्याप्ताः सप्तापर्याप्ताश्च भवन्ति। एवं चतुर्दशजीवसमासा ज्ञातव्यास्तेषां च "इंदियकाया ऊणिय पुण्णापुण्णे सुपुण्णगे आणा। वेइंदियादि पुण्णे सुवचिमणोसण्णि पुण्णेय। १। दस सण्णीणां पाणा सेसे गूणंति मण्णवे ऊणा। पज्जत्ते मिदरेसुपसत्तडुगेसेसगेगूणा। २।" इति गाथाद्वयकथितक्रमेण यथासंभवमिन्द्रियादिदशप्राणाश्च विज्ञेयाः। अत्रैतेभ्यो भिन्नं निजशुद्धात्मतत्त्वमुपादेयमिति भावार्थः॥ १२॥

व्याख्यार्थः—"समणा अमणा" संपूर्ण शुभ तथा अशुभरूप जो विकल्प हैं उन विकल्पोंसे रहित जो परमात्मारूप द्रव्य है उससे विलक्षण नाना प्रकारके विकल्पजालोंरूप जो है उसको मन कहते हैं. उस मनसे सहित जो हैं उनको समनस्क (सेनी) कहते हैं और उनसे विरुद्ध अर्थात् पूर्वोक्त मनसे शून्य अमनस्क अर्थात् असंज्ञी (असेनी) "णेया" जानने चाहिये। "पंचिंदिया" पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी तथा असंज्ञी दोनो होते हैं परन्तु संज्ञी तथा असंज्ञी ये दोनों पंचेन्द्रिय तिर्यंचही होते हैं और नारक, मनुष्य तथा देव ये संज्ञी पंचेन्द्रिय ही होते हैं। "णिम्मणा परे सव्वे" पंचेन्द्रियसे भिन्न अन्य सब द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव मनरहित (असेनी) हैं। "वादरसुहमे इंदी" वादर (स्थूल) और सूक्ष्म जो एकेंद्रिय हैं वे भी आठ पांखड़ीके कमलके आकार जो द्रव्यमन और उस द्रव्यमनके आधारसे शिक्षा, वचन और उपदेश आदिका ग्राहक भावमन इन दोनोंके अभावसे असंज्ञी (मनरहित) ही हैं। "सव्वे पज्जत्तइदराय" इस पूर्वोक्त प्रकारसे संज्ञी असंज्ञीरूप दोनों पंचेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय रूप जो विकलत्रय और वादर, तथा सूक्ष्म भेदसे दोनों एकेन्द्रिय ऐसे ये सात भेद हुए। तथा "आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा तथा मन ये षट् (६) पर्याप्ती हैं, इनमेंसे जो एकेन्द्रिय जीव हैं उनको तो केवल आहार, शरीर, एक इंद्रिय, तथा श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियें होती हैं. संज्ञी पंचेन्द्रियोंके चार ये पूर्वोक्त, और भाषा तथा मन ये छहों पर्याप्तियें होती हैं और शेष जीवोंके मनरहित पांच पर्याप्तियें होती हैं." इस गाथामें कहे हुए क्रमसे वे सब हरएक अपनी २ पर्याप्तियोंके होनेसे सात तो पर्याप्त हैं और सात अपर्याप्त हैं. ऐसे चौदह

जीवसमास जानने चाहिये." "इनमें एकेन्द्रिय जीवके आयु, काय, एकेन्द्रिय तथा श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण हैं. द्वीन्द्रियोंके पूर्वोक्त चार, रसना इन्द्रिय और भाषा ये ६ प्राण हैं. त्रीन्द्रियोंके पूर्व ६ और घ्राण इन्द्रिय अधिक ऐसे सात प्राण हैं. चतुरिन्द्रियोंके पहले सात और चक्षु इन्द्रिय ऐसे ८ प्राण हैं, असंज्ञी पंचेन्द्रियोंके कर्ण इन्द्रिय अधिक होनेसे ९ प्राण हैं और संज्ञी पंचेन्द्रियोंके मनकी अधिकतासे १० प्राण हैं." इन दो गाथाओंद्वारा कहे हुए क्रमसे यथासंभव इन्द्रियादि दश प्राण समझने चाहिये। यहांपर कथनका अभिप्राय यह है कि इन पूर्वोक्त पर्याप्तियों तथा प्राणोंसे भिन्न जो अपना शुद्ध आत्मतत्त्व है उसको ग्रहण करना चाहिये ॥ १२ ॥

अथ शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावा अपि जीवाः पश्चादशुद्धनयेन चतुर्दशमार्गणास्थानचतुर्दशगुणस्थानसहिता भवन्तीति प्रतिपादयति।

अब शुद्ध पारिणामिक परम भावका ग्राहक जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है उससे सब जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभावके धारक हैं तो भी अशुद्धनयसे चौदह मार्गणास्थान और चौदह गुणस्थानोंसहित होते हैं ऐसा कथन करते हैं।

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया॥ १३॥

गाथाभावार्थः—संसारी जीव अशुद्ध नयसे चौदह मार्गणास्थानोंसे तथा चौदह गुणस्थानोंसे चौदह २ प्रकारके होते हैं और शुद्धनयसे तो सब संसारी जीव शुद्ध ही हैं।

व्याख्या। "मग्गणगुणठाणेहि य हवंति तह विण्णेया" यथा पूर्वसूत्रोदितचतुर्दशजीवसमासैर्भवन्ति मार्गणागुणस्थानैश्च तथा भवन्ति संभवन्तीति विज्ञेया ज्ञातव्याः। कतिसंख्योपेतैः "चउदसहि" प्रत्येकं चतुर्दशभिः। कस्मात् "असुद्धणया" अशुद्धनयात् सकाशात्। इत्थंभूताः के भवन्ति। "संसारी" सांसारिजीवाः। "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" त एव सर्वे संसारिणः शुद्धाः सहजशुद्धज्ञायकैकस्वभावाः। कस्मात् शुद्धनयात् शुद्धनिश्चयनयादिति। अथागमप्रसिद्धगाथाद्वयेन गुणस्थाननामानि कथयति। "मिच्छासासणमिस्सो अविरसमोच देसविरदोय। विरयापमत्तइयरो अपुव्व अणियट्टि सुहमोय।१। उवसंतखीणमोहो सजोगिकेवलिजिणो अजोगीया। चउदसगुणट्ठाणाणि य कमेण सिद्धाय णायव्वा। २।" इदानीं तेषामेव गुणस्थानानां प्रत्येकं संक्षेपलक्षणं कथ्यते। तथाहि-सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनरूपाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयनिजपरमात्मप्रभृतिषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन यस्य श्रद्धानं नास्ति स मिथ्यादृष्टिर्भवति। पाषाणरेखासदृशानन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभान्यतरोदयेन प्रथमऔपशमिकसम्यक्त्वात्पतितो मिथ्यात्वं नाद्यापि गच्छतीत्यन्तरालवर्त्ती सासादनः। निजशुद्धात्मादितत्त्वं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतं परप्रणीतं च मन्यते यः स दर्शनमोहनीयभेदमिश्रकर्मोदयेन दधिगुडमिश्रभा-

ववत् मिश्रगुणस्थानवर्त्ती भवति । अथ मतं-येनकेनाप्येकेन मम देवेन प्रयोजनं तथा सर्वे देवा वन्दनीया न च निन्दनीया इत्यादिवैनयिकमिथ्यादृष्टिः संशयमिथ्यादृष्टिर्वा तथा मन्यते तेन सह सम्यग्मिथ्यादृष्टेः को विशेष इति, अत्र परिहारः—"स सर्वदेवेषु सर्वसमयेषु च भक्तिपरिणामेन येन केनाप्येकेन मम पुण्यं भविष्यतीति मत्वा संशयरूपेण भक्तिं कुरुते निश्चयो नास्ति । मिश्रस्य पुनरुभयत्र निश्चयोऽस्तीति विशेषः । स्वाभाविकानन्तज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतं निजपरमात्मद्रव्यमुपादेयम्, इन्द्रियसुखादिपरद्रव्यं हि हेयमित्यर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहारनयसाध्यसाधकभावेन मन्यते परं किन्तु भूमिरेखादिसदृशक्रोधादिद्वितीयकषायोदयेन मारणनिमित्तं तलवरगृहीततस्करवदात्मनिन्दादिसहितः सन्निन्द्रियसुखमनुभवतीत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम् । यः पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दृष्टिः सन् भूमिरेखादिसमानक्रोधादिद्वितीयकषायोदयाभावे सत्यभ्यन्तरे निश्चयनयेनैकदेशरागादिरहितस्वाभाविकसुखानुभूतिलक्षणेषु बहिर्विषये पुनरेकदेशहिंसानृतास्तेयाब्रह्मपरिग्रहनिवृत्तिलक्षणेषु "दंसणवयसामाइयपोसहसचित्तराइभत्तेय । बंभारंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदोय । १ ।" इति गाथाकथितैकादशनिलयेषु वर्त्तते स पञ्चमगुणस्थानवर्त्ती श्रावको भवति । ५ । स एव सद्दृष्टिर्धूलिरेखादिसदृशक्रोधादितृतीयकषायोदयाभावे सत्यभ्यन्तरे निश्चयनयेन रागाद्युपाधिरहितस्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतानुभवलक्षणेषु वहिर्विषयेषु पुनः सामस्त्येन हिंसानृतस्तेयब्रह्मपरिग्रहनिवृत्तिलक्षणेषु च पञ्चमहाव्रतेषु वर्त्तते यदा तदा दुःस्वप्नादिव्यक्ताव्यक्तप्रमादसहितोऽपि षष्ठगुणस्थानवर्त्ती प्रमत्तसंयतो भवति । ६ । स एव जलरेखादिसदृशसंज्वलनकषायमन्दोदये सति निष्प्रमादशुद्धात्मसंवित्तिमलजनकव्यक्ताव्यक्तप्रमादरहितः सन्सप्तमगुणस्थानवर्त्ती अप्रमत्तसंयतो भवति । ७ । स एवातीतसंज्वलनकषायमन्दोदये सत्यपूर्वपरमाह्लादैकसुखानुभूतिलक्षणापूर्वकरणोपशमकक्षपकसंज्ञोऽष्टमगुणस्थानवर्त्ती भवति । ८ । दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षादिरूपसमस्तसङ्कल्पविकल्परहितनिजनिश्चलपरमात्मतत्त्वैकाग्रध्यानपरिणामेन कृत्वा येषां जीवानामेकसमये ये परस्परं पृथक्कर्त्तुं नायान्ति ते वर्णसंस्थानादिभेदेऽप्यनिवृत्तिकरणौपशमिकक्षपकसंज्ञा द्वितीयकषायाद्येकविंशतिभेदभिन्नचारित्रमोहप्रकृतीनामुपशमक्षपणसमर्था नवमगुणस्थानवर्त्तिनो भवन्ति । ९ । सूक्ष्मपरमात्मतत्त्वभावनावलेन सूक्ष्मक्लिष्टगतलोभकषायस्योपशमकाः क्षपकाश्च दशमगुणस्थानवर्त्तिनो भवन्ति । १० । परमोपशममूर्त्तिनिजात्मस्वभावसंवित्तिबलेन सकलोपशान्तमोहा एकादशगुणस्थानवर्त्तिनो भवन्ति । ११ । उपशमश्रेणिविलक्षणेन क्षपकश्रेणिमार्गेण निष्कषायशुद्धात्मभावनाबलेन क्षीणकषाया द्वादशगुणस्थानवर्त्तिनो भवन्ति । १२ । मोहक्षपणानन्तरमन्तर्मुहूर्त्तकालं स्वशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणैकत्ववितर्कविचारद्वितीयशुक्लध्याने स्थित्वा तदन्त्यसमये ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायत्रयं युगपदेकसमयेन निर्मूल्य मेघपञ्जरविनिर्गतदिनकर इव सकलविमलकेवलज्ञानकिरणैर्लोकालोकप्रकाशकास्त्रयोदशगुणस्थानवर्त्तिनो जिनभास्करा भवन्ति ।१३। मनोवचनकायवर्गणालम्बनकर्मादाननिमित्तात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणयोगरहिताश्चतुर्दशगुणस्थानवर्त्तिनोऽयोगिजिना भवन्ति । १४ । ततश्च निश्चयरत्नत्रयात्मककारणभूतसमयसारसंज्ञेन परमयथाख्यातचारित्रेण चतुर्दशगुणस्थानातीताः ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मरहिताः सम्यक्त्वाद्यष्टगुणान्तर्भूतनिर्नामगोत्राद्यनन्तगुणाः सिद्धा भवन्ति । अत्राह शिष्यः—केवलज्ञानोत्पत्तौ

मोक्षकारणभूतरत्नत्रयपरिपूर्णतायां सत्यां तस्मिन्नेव क्षणे मोक्षेण भाव्यं सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये कालो नास्तीति । परिहारमाह—यथाख्यातचारित्रं जातं परं किन्तु परमयथाख्यातं नास्ति । अत्र दृष्टान्तः। यथा चौरव्यापाराभावेऽपि पुरुषस्य चौरसंसर्गो दोषं जनयति तथा चारित्रविनाशकचारित्रमोहोदयाभावेऽपि सयोगिकेवलिनां निष्क्रियशुद्धात्माचरणविलक्षणो योगत्रयव्यापारश्चारित्रमलं जनयति, योगत्रयगते पुनरयोगिजिने चरमसमयं विहाय शेषाघातिकर्मतीव्रोदयश्चारित्रमलं जनयति, चरमसमये तु मन्दोदये सति चारित्रमलाभावान्मोक्षं गच्छति । इति चतुर्दशगुणस्थानव्याख्यानं गतम् । इदानीं मार्गणाः कथ्यन्ते। "गइइंदियं च काये जोए वेए कसाय णाणे य,। संयम दंसण लेस्सा भविआ समत्तसाणि आहारे । १ ।" इति गाथाकथितक्रमेण गत्यादिचतुर्दशमार्गणा ज्ञातव्याः । तद्यथा—स्वात्मोपलब्धिसिद्धिविलक्षणा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतिभेदेन चतुर्विधा गतिमार्गणा भवति । १ । अतीन्द्रियशुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूता ह्येकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदेन पञ्चप्रकारेन्द्रियमार्गणा । २ । अशरीरात्मतत्त्वविसदृशी पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायभेदेन षड्भेदा कायमार्गणा। ३ । निर्व्यापारशुद्धात्मपदार्थविलक्षणमनोवचनकाययोगभेदेन त्रिधा योगमार्गणा, अथवा विस्तरेण सत्यासत्योभयानुभवभेदेन चतुर्विधो मनोयोगो वचनयोगश्च, औदारिकौदारिकवैक्रियिकवैक्रियिकमिश्राहारकाहारकमिश्रकार्मणकायभेदेन सप्तविधो काययोगश्चेति समुदायेन पञ्चदशविधा वा योगमार्गणा । ४ । वेदोदयोद्भवरागादिदोषरहितपरमात्मद्रव्याद्भिन्ना स्त्रीपुंनपुंसकभेदेन त्रिधा वेदमार्गणा । ५ । निष्कषायशुद्धात्मस्वभावप्रतिकूलक्रोधलोभमायामानभेदेन चतुर्विधा कषायमार्गणा, विस्तरेण कषायनोकषायभेदेन पञ्चविंशतिविधा वा । ६ । मत्यादिसंज्ञापञ्चकं कुमत्याद्यज्ञानत्रयं चेत्यष्टविधा ज्ञानमार्गणा । ७ । सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातभेदेन चारित्रं पञ्चविधम्, संयमासंयमस्तथैवासंयमश्चेति प्रतिपक्षद्वयेन सह सप्तप्रकारा संयममार्गणा । ८ । चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदेन चतुर्विधा दर्शनमार्गणा ।९। कषायोदयरञ्जितयोगप्रवृत्तिविसदृशपरमात्मद्रव्यप्रतिपन्थिनी कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्लभेदेन षड्विधा लेश्यामार्गणा।१०। भव्याभव्यभेदेन द्विविधा भव्यमार्गणा । ।११। अत्राह शिष्यः—शुद्धपारिणामिकपरमभावरूपशुद्धनिश्चयेन गुणस्थानमार्गणास्थानरहिता जीवा इत्युक्तं पूर्वम्, इदानीं पुनर्भव्याभव्यरूपेण मार्गणामध्येऽपि पारिणामिकभावो भणित इति पूर्वापरविरोधः।अत्र परिहारमाह—पूर्वं शुद्धपारिणामिकभावापेक्षया गुणस्थानमार्गणानिषेधः कृतः, इदानीं पुनर्भव्याभव्यत्वद्वयमशुद्धपारिणामिकभावरूपं मार्गणामध्येऽपि घटते । ननु—शुद्धाशुद्धभेदेन पारिणामिकभावो द्विविधो नास्ति किन्तु शुद्ध एव । नैवं—यद्यपि सामान्यरूपेणोत्सर्गव्याख्यानेन शुद्धपारिणामिकभावः कथ्यते तथाप्यपवादव्याख्यानेनाशुद्धपारिणामिकभावोऽप्यस्ति । तथाहि—"जीवभव्याभव्यत्वानि च" इति तत्त्वार्थसूत्रे त्रिधा पारिणामिकभावो भणितः, तत्र—शुद्धचैतन्यरूपं जीवत्वमविनश्वरत्वेन शुद्धद्रव्याश्रितत्वाच्छुद्धद्रव्यार्थिकसंज्ञः शुद्धपारिणामिकभावो भण्यते, यत्पुनः कर्मजनितदशप्राणरूपं जीवत्वं, भव्यत्वम्, अभव्यत्वं चेति त्रयं, तद्विनश्वरत्वेन पर्यायाश्रितत्वात्पर्यायार्थिकसंज्ञस्त्वशुद्धपारिणामिकभाव उच्यते । अशुद्धत्वं कथमिति चेत्—यद्यप्येतदशुद्धपारिणामिकत्रयं व्यवहारेण संसारिजीवेऽस्ति तथापि "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" इति वचनाच्छुद्धनिश्चयेन नास्ति त्रयं, मुक्तजीवे

पुनः सर्वथैव नास्ति, इति हेतोरशुद्धत्वं भण्यते। तत्र शुद्धाशुद्धपारिणामिकमध्ये शुद्धपारिणामिकभावो ध्यानकाले ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति, कस्मात् ध्यानपर्यायस्य विनश्वरत्वात्, शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूपत्वादविनश्वरः, इति भावार्थः। औपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकसम्यक्त्वभेदेन त्रिधा सम्यक्त्वमार्गणा मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रसंज्ञविपक्षत्रयभेदेन सह षड्विधा ज्ञातव्या।१२।संज्ञित्वासंज्ञित्वविसदृशपरमात्मस्वरूपाद्भिन्ना संज्ञ्यसंज्ञिभेदेन द्विधा संज्ञिमार्गणा।१३।आहारकानाहारकजीवभेदेनाहारकमार्गणापि द्विधा।१४।इति चतुर्दशमार्गणास्वरूपं ज्ञातव्यम्। एवं "पुढविजलतेय वाऊ" इत्यादिगाथाद्वयेन, तृतीयगाथापादत्रयेण च "गुणजीवापज्जत्ती पाणासण्णायमग्गणा उया। उवओगो विय कमसो वीसं तु परूवणा भणिया।१।" इति गाथाप्रभृतिकथितस्वरूपं धवलजयधवलमहाधवलप्रबन्धाभिधानसिद्धान्तत्रयबीजपदं सूचितम्। "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" इति शुद्धात्मतत्त्वप्रकाशकं तृतीयगाथाचतुर्थपादेन पञ्चास्तिकायप्रवचनसारसमयसाराभिधानप्राभृतत्रयस्यापि बीजपदं सूचितमिति। अत्र गुणस्थानमार्गणादिमध्ये केवलज्ञानदर्शनद्वयं क्षायिकसम्यक्त्वमनाहारकशुद्धात्मस्वरूपं च साक्षादुपादेयं, यत्पुनश्च शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणलक्षणं कारणसमयसारस्वरूपं तत्तस्यैवोपादेयभूतस्य विवक्षितैकदेशशुद्धनयेन साधकत्वात्पारम्पर्येणोपादेयं, शेषं तु हेयमिति। यच्चाध्यात्मग्रन्थस्य बीजपदभूतं शुद्धात्मस्वरूपमुक्तं तत्पुनरुपादेयमेव। अनेन प्रकारेण जीवाधिकारमध्ये शुद्धाशुद्धजीवकथनमुख्यत्वेन सप्तमस्थले गाथात्रयं गतम्॥ १३॥

व्याख्यार्थः—"मग्गणगुणठाणेहि य हवंति तह विण्णेया" जिस प्रकार "समणा अमणा" इत्यादि पूर्व गाथामें कहे हुए चतुर्दश १४ जीवसमासोंसे जीवोंके चतुर्दश १४ भेद होते हैं उसी प्रकार मार्गणा और गुणस्थानोंसे भी होते हैं, ऐसा जानना चाहिये। कितनी संख्याके धारक मार्गणा और गुणस्थानोंसे होते हैं? **"चउदसहि"** प्रत्येक चतुर्दश १४ संख्याके धारकोंसे। किस अपेक्षासे? **"असुद्धणया"** अशुद्ध नयकी अपेक्षासे। चतुर्दश मार्गणा और चतुर्दश गुणस्थानोंसे अशुद्ध नयकी अपेक्षा चौदह चौदह प्रकारके होनेवाले कौन हैं? **"संसारी"** संसारी जीव हैं। **"सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया"** वेही सब संसारी जीव शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षासे शुद्ध अर्थात् स्वभावसे उत्पन्न जो शुद्ध ज्ञायक (जाननेवाला) रूप एक स्वभाव उसके धारक हैं। अब शास्त्रोंमें प्रसिद्ध जो दो गाथा हैं, उनके द्वारा गुणस्थानोंके नाम कहते हैं। **गाथार्थ—**"मिथ्यात्व १ सासादन २ मिश्र ३ अविरतसम्यक्त्व ४ देशविरत ५ प्रमत्तविरत ६ अप्रमत्तविरत ७ अपूर्वकरण ८ अनिवृत्तिकरण ९ सूक्ष्मसांपराय १०।१। उपशान्तमोह ११ क्षीणमोह १२ सयोगि केवलि जिन १ और अयोगि केवलि जिन १४ इस प्रकार क्रमानुसार चौदह गुणस्थान जानने चाहिये।२।" अब इन गुणस्थानोंमेंसे प्रत्येकका संक्षेप लक्षण कहते हैं:—जैसे स्वाभाविक शुद्ध केवल ज्ञान और केवल दर्शनरूप जो अखंड प्रत्यक्ष प्रतिभास है तादृश प्रत्यक्ष प्रतिभासमय जो निजपरमात्मा (अपना शुद्ध जीव)

वह है आदिमें जिसके ऐसे जो षट् द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थ उनमें तीन मूढता आदि पचीस २५ मल (दोष) रहितत्वपूर्वक वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए नयविभागसे जिस जीवके श्रद्धान नहीं है वह जीव मिथ्यादृष्टि होता है । १ । पाषाणरेखा (पत्थरमें की हुई लकीर) के समान जो अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं; उनमेंसे किसी एकके उदयसे प्रथम जो औपशमिक सम्यक्त्व है उससे जीव गिरके जबतक मिथ्यात्वको प्राप्त न हो तबतक सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनोंके बीचमें विद्यमान जो जीव है वह सासादन है । २ । जो अपने शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वको वीतराग सर्वज्ञका कहा हुआ भी मानता है और अन्य मतके आचार्योंद्वारा कहा हुआ भी मानता है वह दर्शनमोहनीय कर्मका भेद जो मिश्रकर्म है उसके उदयसे दही और गुड़ मिले हुए पदार्थकी भांति तीसरा जो मिश्र गुणस्थान है उसमें रहनेवाला जीव है । ३ । अब कोई शंका करे कि चाहे जिससे हो मुझे तो एक देवसे प्रयोजन है अथवा सब देवोंकी वन्दना करनी योग्य है, निन्दा किसीभी देवकी न करनी चाहिये" इस प्रकार वैनयिक मिथ्यादृष्टि और संशयमिथ्यादृष्टि मानता है तब उसके साथ मिश्रगुणस्थानवर्त्ती सम्यग् मिथ्यादृष्टिका क्या भेद है अर्थात् वैनयिक वा संशयमिथ्यादृष्टिमें और सम्यग्मिथ्यादृष्टिमें क्या भेद है जिससे उसको जुदा कहा? इस शंकाका खण्डन यह है कि—वैनयिक मिथ्यादृष्टि अथवा संशयमिथ्यादृष्टि तो संपूर्ण देवोंमें तथा सब शास्त्रोंमें किसी एककी भक्तिके परिणामसे मुझे पुण्य होगा अर्थात् इन सबकी सेवा करनेसे किसी एककी तो सेवा सफल होगी ऐसा मानकर संशयरूपसे भक्ति करता है; क्योंकि, उसको किसी देवमें निश्चय नहीं है कि यह सत्य है और मिश्रगुणस्थानवर्त्ती जीवके दोनोंमें निश्चय है । बस, यही विशेष है । जो स्वभावसे उत्पन्न जो अनन्त ज्ञान आदि अनन्त गुण हैं उनका आधारभूत निज परमात्मद्रव्य तो उपादेय है और इंद्रियोंके सुख आदि परद्रव्य हेय (त्याज्य) हैं ऐसे अर्हत् सर्वज्ञ देवसे प्रणीत निश्चय तथा व्यवहारनयको साध्य साधक भावसे मानता है, परन्तु भूमिकी रेखाके तुल्य क्रोध आदि द्वितीय कषायभेदके अर्थात् प्रत्याख्यानकषायके उदयसे मारनेके लिये कोतवालसे पकड़े हुए चोरकी भांति आत्मनिन्दादि सहित होकर इन्द्रियोंके सुखोंका अनुभव करता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थानवर्त्ती जीवका स्वरूप है । ४ । जो पूर्वोक्त प्रकारसे सम्यग्दृष्टि होकर भूमिरेखादिके समान प्रत्याख्यान क्रोध आदि कषायोंके उदयका अभाव होनेपर अंतरंगमें निश्चयनयसे एकदेशराग आदिसे रहित स्वाभाविक सुखके अनुभवलक्षण तथा बाह्यमें "हिंसा, झूंठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इनके एकदेशत्याग लक्षण पांच अणुव्रतोंमें और दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तविरत, रात्रिभक्त, ब्रह्मचर्य, आरंभविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत तथा उद्दिष्टविरत । १ ।" इस प्रकार गाथामें कहे हुए जो श्रावकके एकादश स्थान हैं

उनमें वर्त्तता है वह पंचम गुणस्थानवर्त्ती श्रावक जीव होता है । ५ । वही सम्यग्दृष्टि धूलिरेखा (माटीकी रेखा)के समान अप्रत्याख्यान क्रोध आदि तृतीय कषायोंके उदयका अभाव होनेपर निश्चयनयसे अंतरंगमें राग आदिकी उपाधिसे रहित जो निज शुद्ध आत्माका ज्ञान है उससे उत्पन्न सुखामृतके अनुभव लक्षणके धारक और बाह्य विषयोंमें संपूर्ण रूपसे हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहके त्यागरूप लक्षणके धारक पांच महाव्रतोंमें जब वर्त्तता है तब बुरे स्वप्न आदि प्रकट तथा अप्रकट प्रमाद सहित होता हुआ भी षष्ठ गुणस्थानमें रहनेवाला प्रमत्त संयत होता है । ६ । वही जलरेखाके तुल्य संज्वलन कषायका मंद उदय होनेपर प्रमादरहित जो शुद्ध आत्माका ज्ञान है उसमें मल (दोष) को उत्पन्न करनेवाले व्यक्त (प्रकट) तथा अव्यक्त (अप्रकट) इन दोनों प्रमादोंसे वर्जित होकर सप्तम गुणस्थानवर्त्ती अप्रमत्त संयत होता है । ७ । वही अतीत संज्वलन कषायका मन्द उदय होनेपर अपूर्व परम आल्हाद रूप सुखके अनुभवलक्षण अपूर्व करणमें औपशमिक क्षपक नामका धारक अष्टम गुणस्थानवर्त्ती होता है । ८ । देखे हुए, सुने हुए, और अनुभव किये हुए भोगोंकी वांछादिरूप संपूर्ण संकल्प तथा विकल्परहित अपने निश्चल परमात्मस्वरूपके एकाग्र ध्यानके परिणामसे जिन जीवोंके एक समयमें परस्पर पृथक्ता करनेमें नहीं आती वे वर्ण तथा अवयवरचनाका भेद होनेपर भी अनिवृत्तिकरणौपशमिक क्षपक संज्ञाके धारक, द्वितीय कषाय आदि इक्कीस २१ भेदोंसे भिन्न अर्थात् इक्कीस प्रकारकी चारित्रमोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंके उपशमन और क्षपणमें समर्थ नवम गुणस्थानवर्त्ती जीव हैं । ९ । सूक्ष्म परमात्मतत्त्वको भावनाके बलसे जो सूक्ष्म कृष्टिगत लोभ कषायके उपशामक और क्षपक हैं वे दशम गुणस्थानवर्त्ती हैं । १० । परम उपशममूर्त्ति निज आत्माके स्वभावके ज्ञानके बलसे संपूर्ण मोहको उपशान्त करनेवाले ग्यारहवें गुणस्थानवर्त्ती जीव होते हैं । ११ । उपशमश्रेणीसे विलक्षण (भिन्नरूप) जो क्षपक श्रेणीका मार्ग उसके द्वारा कषायोंसे रहित शुद्ध आत्माकी भावनाके बलसे क्षीण (नष्ट) हो गये हैं कषाय जिनके ऐसे बारहवें गुणस्थानवर्त्ती जीव होते हैं । १२ । मोहके नाश होनेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त कालमें ही निज शुद्ध आत्माके ज्ञानरूप एकत्व वितर्क विचार संज्ञक द्वितीय शुक्ल ध्यानमें स्थित होके उसके अंतिम समयमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय इन तीनोंको एक कालमें ही सर्वथा निर्मूल करके मेघपटलसे निकले हुए सूर्यके सदृश संपूर्ण रूपसे निर्मल केवलज्ञान किरणोंसे लोक तथा अलोकके प्रकाशक तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती जिन भास्कर (सूर्य) होते हैं । १३ । वेही मन, वचन और कायवर्गणाके आलम्बनसे कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण जो आत्माके प्रदेशोंका परिस्पन्द (संचलन)रूप योग है उससे रहित चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती अयोगी जिन होते हैं । १४ । और इसके पश्चात् निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रयका कारणभूत

समयसार संज्ञक जो परम यथाख्यात चारित्र है उससे पूर्वोक्त चौदह गुणस्थानोंसे रहित, ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्मोंसे वर्जित तथा सम्यक्त्व आदि अष्ट गुणोंमें गर्भित निर्नाम (नामरहित), निर्गोत्र (गोत्ररहित) आदि अनन्त गुणसहित सिद्ध होते हैं। अत्र यहां शिष्य शंका करता है कि केवल ज्ञानकी उत्पत्तिमें जब मोक्षके कारणभूत रत्नत्रयकी पूर्णता हो गई तो उसी समय मोक्ष होना चाहिये, आपने जो सयोगी और अयोगी दो गुणस्थान कहे हैं इनमें रहनेका कोई समय ही नहीं है। अब इस शंकाका परिहार कहते हैं कि केवलज्ञानोत्पत्तिसमयमें यथाख्यात चारित्र तो हो गया परन्तु परम यथाख्यात नहीं है। यहांपर दृष्टान्त यह है कि जैसे कोई मनुष्य चोरी नहीं करता है परन्तु उसको चोरके संसर्गका दोष लगता है उसी प्रकार सयोग केवलियोंके चारित्रका नाश करनेवाला जो चारित्रमोहका उदय है उसका अभाव है तथापि निष्क्रिय (क्रियारहित) शुद्ध आत्माके आचरणसे विलक्षण जो मन, वचन, कायरूप योगत्रयका व्यापार है वह चारित्रके दूषण उत्पन्न करता है और तीनों योगोंसे रहित जो अयोगी जिन हैं उनके अन्तसमयको छोड़कर शेष चार अघातिया कर्मोंका तीव्र उदय चारित्रमें दूषण उत्पन्न करता है और अन्त्य समयमें उन अघातिया कर्मोंका मन्द उदय होनेपर चारित्रमें दोषका अभाव हो जाता है इस कारण उसी समय अयोगी जिन मोक्षको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार चौदह गुणस्थानोंका व्याख्यान समाप्त हुआ। अब चौदह मार्गणाओंका कथन किया जाता है। "गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा तथा आहार। १।" इस गाथामें कथित क्रमसे गति आदि चतुर्दश मार्गणा जाननी चाहिये. वे इस प्रकार हैं, जैसे—निज आत्माकी प्राप्तिसे विलक्षण नारक, तिर्यग्, मनुष्य तथा देवगति भेदसे गतिमार्गणा चार प्रकारकी है। १। अतीन्द्रिय (इन्द्रियोंके अगोचर) जो शुद्ध आत्मतत्त्व है उसके प्रतिपक्षभूत एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय भेदसे इन्द्रियमार्गणा पांच प्रकारकी है। २। शरीररहित आत्मतत्त्वसे भिन्न स्वरूपकी धारक पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस कायभेदसे कायमार्गणा छे प्रकारकी होती है। ३। व्यापाररहित शुद्ध आत्मतत्त्वसे विलक्षण मनोयोग, वचनयोग तथा काययोग इन भेदोंसे योग मार्गणा तीन प्रकारकी है। अथवा विस्तारसे सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, सत्यासत्यमनोयोग और सत्यासत्यमनोयोगसे विलक्षण मनोयोग इन भेदोंसे चार प्रकारका मनोयोग है। ऐसेही सत्य, असत्य, सत्यासत्य तथा सत्यासत्यविलक्षण इन चार भेदोंसे वचनयोग भी चार प्रकारका है। एवम् औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र और कार्मण इन भेदोंसे काययोग सात प्रकारका है। सब मिलके योगमार्गणा पन्द्रह प्रकारकी हुई। ४। वेदके उदयसे उत्पन्न होनेवाले रागादि दोषोंसे रहित जो परमात्मद्रव्य है उससे भिन्न स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुं-

सकवेद इन भेदोंसे वेदमार्गणा तीन प्रकारकी है । ५ । कषायोंसे रहित शुद्ध आत्माके स्वभावसे प्रतिकूल (विरुद्ध) क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन भेदोंसे चार प्रकारकी कषायमार्गणा है । और विस्तारसे अनन्तानुवंधी, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान, तथा संज्वलन भेदसे कषाय १६ और हास्यादि भेदसे नोकषाय नव ९ सब मिलके पचीस २५ प्रकारकी कषायमार्गणा है । ६ । मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पांच ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि ये तीन अज्ञान ऐसे ८ प्रकारकी ज्ञानमार्गणा है । ७ । सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय तथा यथाख्यात भेदसे पांच प्रकारका चारित्र और संयमासंयम तथा असंयम ये दो प्रतिपक्ष ऐसे संयममार्गणा सात ७ प्रकारकी है । ८ । चक्षुः, अचक्षुः, अवधि और केवलदर्शन इन भेदोंसे दर्शनमार्गणा चार प्रकारकी है । ९ । कषायोंके उदयसे रंजित (रँगी हुई) जो काय आदि योगोंकी प्रवृत्ति है उससे भिन्न जो शुद्ध आत्मतत्त्व है उससे विरोध करनेवाली कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल इन भेदोंसे ६ प्रकारकी लेश्यामार्गणा है । १० । भव्य और अभव्य भेदसे भव्यमार्गणा दो प्रकारकी है । ११ । यहां शिष्य प्रश्न करता है कि "शुद्धपरिणामिक परमभावरूप जो शुद्ध निश्चयनय है उसकी अपेक्षासे जीव गुणस्थान तथा मार्गणास्थानोंसे रहित हैं" यह पूर्व प्रकरणमें आपने कहा है और अब यहां भव्य अभव्य रूपसे मार्गणामें भी आपने पारिणामिक भाव कहा सो यह पूर्वापरविरोध है । अब इस शंकाका परिहार (खंडन) कहते हैं कि पूर्वप्रसंगमें तो शुद्ध पारिणामिक भावकी अपेक्षासे गुणस्थान और मार्गणास्थानका निषेध किया है और यहां अशुद्ध पारिणामिक भाव रूपसे भव्य तथा अभव्य ये दोनों मार्गणामें भी कहे हैं सो नयभेदसे यह कथन घटता (संगत) ही है । अब कदाचित् यह कहो कि "शुद्ध अशुद्ध भेदसे पारिणामिक भाव दो प्रकारका नहीं है किन्तु पारिणामिक भाव शुद्ध ही है" सो योग्य नहीं; क्योंकि, यद्यपि सामान्यरूप उत्सर्गव्याख्यानसे पारिणामिक भाव शुद्ध है ऐसा कहा जाता है तथापि अपवाद व्याख्यानसे अशुद्ध पारिणामिक भाव भी है । इसी हेतुसे **"जीवभव्याभव्यत्वानि च"** (अ. २ सू. ७) इस तत्त्वार्थसूत्रमें जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व इन भेदोंसे पारिणामिक भावको तीन प्रकारका कहा है । उनमें शुद्ध चैतन्यरूप जो जीवत्व है वह अविनाशी होनेसे शुद्ध द्रव्यके आश्रित है इस कारणसे शुद्ध द्रव्यार्थिकनामा शुद्ध पारिणामिक भाव कहा जाता है । और जो कर्मसे उत्पन्न दश प्रकारके प्राणों स्वरूप है वह जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व भेदसे तीन प्रकारका है और ये तीनों विनाशशील होनेसे पर्यायके आश्रित हैं इसलिये पर्यायार्थिक संज्ञक अशुद्ध पारिणामिक भाव कहा जाता है । "इसकी अशुद्धता किस प्रकारसे कहते हो" ऐसा कहो तो उत्तर यह है कि यद्यपि ये तीनों अशुद्ध पारिणामिक व्यवहारनयसे संसारी जीवमें हैं तथापि **"सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया"** इस

वचनसे ये तीनों भाव शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे नहीं हैं, और मुक्त जीवमें तो सर्वथा ही नहीं हैं; इसी कारण उनकी अशुद्धता कही जाती है। उन शुद्ध तथा अशुद्ध पारिणामिक भावोंमेंसे जो शुद्ध पारिणामिक भाव है वह ध्यानके समयमें ध्येय (ध्यान करनेके योग्य) रूप होता है और ध्यानरूप नहीं होता। क्योंकि, ध्यान पर्याय विनाशशील है और ध्येयरूप सदा अविनाशी रहता है। कारण कि वह द्रव्यरूप है यह भावार्थ है। औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक सम्यक्त्वके भेदसे सम्यक्त्वमार्गणा तीन प्रकारकी है। तथा मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र इन तीनों विपक्ष भेदोंसहित छै प्रकारकी भी सम्यक्त्वमार्गणा जाननी चाहिये। १२। संज्ञित्व तथा असंज्ञित्वसे विलक्षण जो परमात्माका स्वरूप है उससे भिन्न संज्ञी तथा असंज्ञी भेदसे दो प्रकारकी संज्ञिमार्गणा है। १३। और आहारक तथा अनाहारक जीवके भेदसे आहारमार्गणा भी दो प्रकारकी समझनी चाहिये। १४। ऐसे चौदह मार्गणाओंका स्वरूप जानना योग्य है। इस रीतिसे "पुढविजलतेयवाऊ" इत्यादि दो गाथाओंसे और तीसरी गाथा जो "णिकम्मा अट्ठगुणा" इत्यादि है उसके तीन पादोंसे "गुण जीवा पज्जत्ती पाणासण्णायमग्गणाउय। उवओगो विय कमसो वीसं तु परूवणा भणिया" इत्यादि गाथामें कहा हुआ स्वरूप धवल, जयधवल और महाधवल प्रबंध नामक जो तीन सिद्धान्त हैं उनके बीज पदकी सूचना ग्रंथकारने की और "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" इस तृतीय गाथाके चौथे पादद्वारा शुद्ध आत्मतत्त्वको प्रकाश करनेवाले जो पंचास्तिकाय, प्रवचनसार तथा समयसार नामक तीन प्राभृत (पाहुड़) हैं उनका भी बीजपद सूचित किया। इन गुणस्थान और मार्गणाओंके मध्यमें केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों तथा क्षायिक सम्यक्त्व और अनाहारक शुद्ध आत्माका स्वरूप ये तो साक्षात् उपादेय हैं और जो शुद्ध आत्माका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण करनेरूप लक्षणका धारक कारण समयसार है वह उसी पूर्वोक्त उपादेय भूतका विवक्षित एकदेश शुद्धनयसे साधक है इसलिये परंपरासे उपादेय है, इनके विना सब त्याज्य हैं; और जो अध्यात्मग्रंथका बीज पदभूत शुद्ध आत्माका स्वरूप है वह तो उपादेय ही है। इस प्रकारसे जीवाधिकारके मध्यमें शुद्ध तथा अशुद्ध जीवके कथनकी मुख्यतारूप जो सप्तम स्थल है उसमें तीन गाथा समाप्त हुईं॥ १३॥

अथेदानीं गाथापूर्वार्द्धेन सिद्धस्वरूपमुत्तरार्द्धेन पुनरूर्ध्वगतिस्वभावं च कथयति।

अब इसके पश्चात् गाथाके पूर्वार्द्धसे तो सिद्धोंके स्वरूपका और उत्तरार्द्धसे उनका जो उर्द्धगमन स्वभाव है उसका कथन करते हैं।

णिकम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता॥ १४॥

गाथाभावार्थः—जो जीव ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठ

गुणोंके धारक हैं तथा अन्तिम शरीरसे कुछ कम हैं वे सिद्ध हैं और ऊर्ध्वगमन स्वभावसे लोकके अग्रभागमें स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद और व्यय इन दोनोंसे युक्त हैं ॥१४॥

व्याख्या। सिद्धाः सिद्धा भवन्तीति क्रियाध्याहारः। किं विशिष्टाः "णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो" निष्कर्माणोऽष्टगुणाः किञ्चिदूनाश्चरमदेहतः सकाशादिति सूत्रपूर्वार्द्धेन सिद्धस्वरूपमुक्तम्। ऊर्ध्वगमनं कथ्यते "लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता" ते च सिद्धा लोकाग्रस्थिता नित्या उत्पादव्ययाभ्यां संयुक्ताः। अतो विस्तरः। कर्मारिविध्वंसकस्वशुद्धात्मसंवित्तिबलेन ज्ञानावरणादिमूलोत्तरगतसमस्तकर्मप्रकृतिविनाशकत्वादष्टकर्मरहिताः "सम्मत्तणाणदंसणवीरियसुहुमं तहेव अवगहणं। अगुरुलहुअव्वावाहं अट्ठगुणा हुंति सिद्धाणं। १।" इति गाथाकथितक्रमेण तेषामष्टकर्मरहितानामष्टगुणाः कथ्यन्ते। तथाहि—केवलज्ञानादिगुणास्पदनिजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं यत्पूर्वं तपश्चरणावस्थायां भावितं तस्य फलभूतं समस्तजीवादितत्त्वविषये विपरीताभिनिवेशरहितपरिणतिरूपं परमक्षायिकसम्यक्त्वं भण्यते। पूर्वं छद्मस्थावस्थायां भावितस्य निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानस्य फलभूतं युगपल्लोकालोकसमस्तवस्तुगतविशेषपरिच्छेदकं केवलज्ञानम्। निर्विकल्पस्वशुद्धात्मसत्तावलोकनरूपं यत्पूर्वं दर्शनं भावितं तस्यैव फलभूतं युगपल्लोकालोकसमस्तवस्तुगतसामान्यग्राहकं केवलदर्शनम्। कस्मिंश्चित्स्वरूपचलनकारणे जाते सति घोरपरीषहोपसर्गादौ निजनिरञ्जनपरमात्मध्याने पूर्वं धैर्यमवलम्बितं तस्यैव फलभूतमनन्तपदार्थपरिच्छित्तिविषये खेदरहितत्वमनन्तवीर्यम्। सूक्ष्मातीन्द्रियकेवलज्ञानविषयत्वात्सिद्धस्वरूपस्य सूक्ष्मत्वं भण्यते। एकदीपप्रकाशे नानादीपप्रकाशवदेकसिद्धक्षेत्रे सङ्करव्यतिकरदोषपरिहारेणानन्तसिद्धावकाशदानसामर्थ्यमवगाहनगुणो भण्यते। यदि सर्वथा गुरुत्वं भवति तदा लोहपिण्डवदधः पतनं, यदि च सर्वथा लघुत्वं भवति तदा वाताहतार्कतूलवत्सर्वदैव भ्रमणमेव स्यान्न च तथा तस्मादगुरुलघुत्वगुणोऽभिधीयते। सहजशुद्धस्वरूपानुभवसमुत्पन्नरागादिविभावरहितसुखामृतस्य यदेकदेशसंवेदनं कृतं पूर्वं तस्यैव फलभूतमव्याबाधमनन्तसुखं भण्यते। इति मध्यमरुचिशिष्यापेक्षया सम्यक्त्वादिगुणाष्टकं भणितम्। मध्यमरुचिशिष्यं प्रति पुनर्विशेषभेदनयेन निर्गतित्वं, निरिन्द्रियत्वं, निष्कायत्वं, निर्योगत्वं, निर्वेदत्वं, निष्कषायत्वं, निर्नामत्वं, निर्गोत्रत्वं, निरायुषत्वमित्यादिविशेषगुणास्तथैवास्तित्ववस्तुत्वप्रमेयत्वादिसामान्यगुणाः स्वागमाविरोधेनानन्ता ज्ञातव्याः। संक्षेपरुचिशिष्यं प्रति पुनर्विवक्षिताभेदनयेनानन्तज्ञानादिचतुष्टयम्, अनन्तज्ञानदर्शनसुखत्रयं, केवलज्ञानदर्शनद्वयं, साक्षादभेदनयेन शुद्धचैतन्यमेवैको गुण इति। पुनरपि कथंभूताः सिद्धाः चरमशरीरात् किञ्चिदूना भवन्ति तत् किञ्चिदूनत्वं शरीरोपाङ्गजनितनासिकादिच्छिद्राणामपूर्णत्वे सति यस्मिन्नेव क्षणे सयोगिचरमसमये त्रिंशत्प्रकृत्युदयविच्छेदमध्ये शरीरोपाङ्गनामकर्मविच्छेदो जातस्तस्मिन्नेव क्षणे जातमिति ज्ञातव्यम्। कश्चिदाह यथा प्रदीपस्य भाजनाद्यावरणे गते प्रकाशस्य विस्तारो भवति तथा देहाभावे लोकप्रमाणेन भाव्यमिति। तत्र परिहारमाह—प्रदीपसंबन्धी योऽसौ प्रकाशविस्तारः पूर्वं स्वभावेनैव तिष्ठति पश्चादावरणं जातं जीवस्य तु लोकमात्रासंख्येयप्रदेशत्वं स्वभावो भवति यस्तु प्रदेशानां संबन्धी विस्तारः स स्वभावो न भवति कस्मादिति चेत् पूर्वं लोकमात्रप्रदेशा विस्तीर्णा निरावरणास्तिष्ठन्ति पश्चात् प्रदीपवदावरणं जातमेव। तन्न किन्तु पूर्वमेवानादिसन्तानरूपेण

शरीरेणावृतास्तिष्ठन्ति ततः कारणात्प्रदेशानां संहारो न भवति, विस्तारश्च शरीरनामकर्माधीन एव न च स्वभावस्तेन कारणेन शरीराभावे विस्तारो न भवति। अपरमप्युदाहरणं दीयते—यथा हस्तचतुष्टयप्रमाणवस्त्रं पुरुषेण मुष्टौ बद्धं तिष्ठति पुरुषाभावे सङ्कोचविस्तारौ वा न करोति, निष्पत्तिकाले सार्द्रं मृन्मयभाजनं वा शुष्कं सज्जलाभावे सति; तथा जीवोऽपि पुरुषस्थानीयजलस्थानीयशरीराभावे विस्तारसंकोचौ न करोति। यत्रैव मुक्तस्तत्रैव तिष्ठतीति ये केचन वदन्ति तन्निषेधार्थं पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथा गतिपरिणामाच्चेति हेतुचतुष्टयेन तथैवाविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाम्बुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्चेति दृष्टान्तचतुष्टयेन च स्वभावोर्द्ध्वगमनं ज्ञातव्यं तच्च लोकाग्रपर्यन्तमेव न च परतो धर्मास्तिकायाभावादिति। नित्या इति विशेषणं तु मुक्तात्मनां कल्पशतप्रमितकाले गते जगति शून्ये जाते सति पुनरागमनं भवतीति सदाशिववादिनो वदन्ति तन्निषेधार्थं विज्ञेयम्। उत्पादव्ययसंयुक्तत्वं विशेषणं सर्वथैवापरिणामित्वनिषेधार्थमिति। किञ्च विशेषः निश्चलाविनश्वरशुद्धात्मस्वरूपाद्भिन्नं सिद्धानां नारकादिगतिषु भ्रमणं नास्ति कथमुत्पादव्ययत्वमिति। तत्र परिहारः। आगमकथितागुरुलघुषट्स्थानपतितहानिवृद्धिरूपेण येऽर्थपर्यायास्तदपेक्षया अथवा येन येनोत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण प्रतिक्षणं ज्ञेयपदार्थाः परिणमन्ति तत्परिच्छित्त्याकारेणानीहितवृत्त्या सिद्धज्ञानमपि परिणमति तेन कारणेनोत्पादव्ययत्वम्, अथवा व्यञ्जनपर्यायापेक्षया संसारपर्यायविनाशः, सिद्धपर्यायोत्पादः, शुद्धजीवद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति। एवं नयविभागेन नवाधिकारैर्जीवद्रव्यं ज्ञातव्यम्, अथवा तदेव बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मभेदेन त्रिधा भवति। तद्यथा—स्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नवास्तवसुखात्प्रतिपक्षभूतेनेन्द्रियसुखेनासक्तो बहिरात्मा, तद्विलक्षणोऽन्तरात्मा। अथवा देहरहितनिजशुद्धात्मद्रव्यभावनालक्षणभेदज्ञानरहितत्वेन देहादिपरद्रव्येष्वेकत्वभावनापरिणतो बहिरात्मा, तस्मात्प्रतिपक्षभूतोऽन्तरात्मा। अथवा हेयोपादेयविचारकचित्तनिर्दोषपरमात्मनो भिन्ना रागादयो दोषाः शुद्धचैतन्यलक्षण आत्मन्युक्तलक्षणेषु चित्तदोषात्मसु त्रिषु वीतरागसर्वज्ञप्रणीतेषु अन्येषु वा पदार्थेषु यस्य परस्परसापेक्षनयविभागेन श्रद्धानं ज्ञानं च नास्ति स बहिरात्मा, तस्माद्विसदृशोऽन्तरात्मेति रूपेण बहिरात्मान्तरात्मनोर्लक्षणं ज्ञातव्यम्। परमात्मलक्षणं कथ्यते—सकलविमलकेवलज्ञानेन येन कारणेन समस्तं लोकालोकं जानाति व्याप्नोति तेन कारणेन विष्णुर्भण्यते। परमब्रह्मसंज्ञनिजशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नसुखामृततृप्तस्य सत उर्वशीरम्भातिलोत्तमाभिर्देवकन्याभिरपि यस्य ब्रह्मचर्यव्रतं न खण्डितं स परमब्रह्म भण्यते। केवलज्ञानादिगुणैश्वर्ययुक्तस्य सतो देवेन्द्रादयोऽपि तत्पदाभिलाषिणः सन्तो यस्याज्ञां कुर्वन्ति स ईश्वराभिधानो भवति। केवलज्ञानशब्दवाच्यं गतं ज्ञानं यस्य स सुगतः, अथवा शोभनमविनश्वरं मुक्तिपदं गतः सुगतः। "शिवं परमकल्याणं निर्वाणं ज्ञानमक्षयम्। प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः। १।" इति श्लोककथितलक्षणः शिवः। कामक्रोधादिदोषजयेनानन्तज्ञानादिगुणसहितो जिनः। इत्यादिपरमागमकथिताष्टोत्तरसहस्रसंख्यनामवाच्यः परमात्मा ज्ञातव्यः। एवमेतेषु त्रिविधात्मसु मध्ये मिथ्यादृष्टिभव्यजीवे बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण तिष्ठति, अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण भाविनैगमनयापेक्षया व्यक्तिरूपेण च। अभव्यजीवे पुनर्बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेणैव न च भाविनैगमनयेनेति। यद्यभव्यजीवे परमात्मा शक्तिरूपेण

वर्त्तते तर्हि कथमभव्यत्वमिति चेत् परमात्मशक्तेः केवलज्ञानादिरूपेण व्यक्तिर्न भविष्यतीत्यभव्यत्वं शक्तिः पुनः शुद्धनयेनोभयत्र समाना । यदि पुनः शक्तिरूपेणाप्यभव्यजीवे केवलज्ञानं नास्ति तदा केवलज्ञानावरणं न घटते । भव्याभव्यद्वयं पुनरशुद्धनयेनेति भावार्थः । एवं यथा मिथ्यादृष्टिसंज्ञे बहिरात्मनि नयविभागेन दर्शितमात्मत्रयं तथा शेषगुणस्थानेष्वपि। तद्यथा—बहिरात्मावस्थायामन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च विज्ञेयम्, अन्तरात्मावस्थायां तु बहिरात्मा भूतपूर्वन्यायेन घृतघटवत्, परमात्मस्वरूपं तु शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च । परमात्मावस्थायां पुनरन्तरात्मबहिरात्मद्वयं भूतपूर्वनयेनेति । अथ त्रिधात्मानं गुणस्थानेषु योजयति । मिथ्या सासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्यन्यूनाधिकभेदेन बहिरात्मा ज्ञातव्यः, अविरतगुणस्थाने तद्योग्याशुभलेश्यापरिणतो जघन्यान्तरात्मा, क्षीणकषायगुणस्थाने पुनरुत्कृष्टः, अविरतक्षीणकषाययोर्मध्ये मध्यमः, सयोग्ययोगिगुणस्थानद्वये विवक्षितैकदेशशुद्धनयेन सिद्धसदृशः परमात्मा, सिद्धस्तु साक्षात्परमात्मेति । अत्र बहिरात्मा हेयः, उपादेयभूतस्यानन्तसुखसाधकत्वादन्तरात्मोपादेयः, परमात्मा पुनः साक्षादुपादेय इत्यभिप्रायः । एवं षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादकप्रथमाधिकारमध्ये नमस्कारादिचतुर्दशगाथाभिर्नवभिरन्तरस्थलैर्जीवद्रव्यकथनरूपेण प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थः—"सिद्धा" सिद्ध होते हैं इस रीतिसे यहां "भवन्ति" इस क्रियाका अध्याहार करना चाहिये । किन विशेषणोंसे विशिष्ट सिद्ध होते हैं **"णिकम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो"** कर्मोंसे रहित आठ गुणोंसे सहित तथा अन्तिम शरीरसे किंचित् ऊन (कुछ छोटे) ऐसे सिद्ध होते हैं । इस प्रकार सूत्रके पूर्वार्द्धसे सिद्धोंका स्वरूप कहा । अब उनका ऊर्ध्वगमन स्वभाव कहते हैं । **"लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवयेहिं संजुत्ता"** और वे सिद्धलोकके अग्रभागमें स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद और व्यय इनसे संयुक्त हैं ॥ अब यहांसे विस्तारपूर्वक इस गाथाकी व्याख्या करते हैं:—कर्मरूपी शत्रुओंके विध्वंस करनेमें समर्थ अपने शुद्ध आत्माके बलसे ज्ञानावरण आदि समस्त मूल प्रकृति और उत्तरप्रकृतियोंके विनाशक होनेसे अष्टविध कर्मोंसे रहित सिद्ध होते हैं । तथा "सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्म, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध ये आठ गुण सिद्धोंके होते हैं." इस गाथोक्त क्रमसे उन अष्टकर्मरहित सिद्धोंके आठ गुण कहे जाते हैं । अब उन गुणोंको विस्तारसे दर्शाते हैं:—केवलज्ञान आदि गुणोंका स्थानरूप जो निज शुद्ध आत्मा है वही ग्राह्य है इस प्रकारकी रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व जो कि पहले तपश्चरण करनेकी अवस्थामें उत्पादित किया था उसका फलभूत, समस्त जीव आदि तत्त्वोंके विषयमें विपरीत अभिनिवेश (जो पदार्थ जिसरूप है उसके विरुद्ध आग्रह)से शून्य परिणामरूप परम क्षायिक सम्यक्त्व नामा प्रथम गुण सिद्धोंके कहा जाता है । पूर्व कालमें छद्मस्थ अवस्थामें भावनागोचर किये हुए विकाररहित स्वानुभवरूप ज्ञानका फलभूत एकही

समयमें लोक तथा अलोकके संपूर्ण पदार्थोंमें प्राप्त हुए विशेषोंको जाननेवाला दूसरा केवलज्ञाननामा गुण है । संपूर्ण विकल्पोंसे शून्य निजशुद्ध आत्माकी सत्ताका अवलोकन (दर्शन) रूप जो पहले दर्शन भावित किया था उसी दर्शनका फलभूत, एक कालमें ही लोक अलोकके संपूर्ण पदार्थोंमें प्राप्त हुए सामान्यको ग्रहण करानेवाला केवलदर्शन नामा तृतीय गुण है । अतिघोर परीषह तथा उपसर्ग आदिके आनेके समयमें जो पहले अपने निरंजन परमात्माके ध्यानमें धैर्यका अवलम्बन किया उसीका फलभूत अनन्त पदार्थोंके ज्ञानमें खेदके अभावरूप लक्षणका धारक चतुर्थ अनन्तवीर्यनामक गुण है । सूक्ष्म अतीन्द्रिय केवलज्ञानका विषय होनेसे सिद्धोंके स्वरूपको सूक्ष्म कहते हैं । यह सूक्ष्मत्व पंचम गुण है । एक दीपके प्रकाशमें जैसे अनेक दीपोंके प्रकाशका समावेश हो जाता है उसी प्रकार एक सिद्धके क्षेत्रमें संकर तथा व्यतिकर दोषके परिहार पूर्वक जो अनन्त सिद्धोंको अवकाश देनेका सामर्थ्य है वही छठा अवगाहन गुण कहा जाता है । यदि सिद्धस्वरूप सर्वथा गुरु (भारी) हो तो लोहपिंडके समान उसका अधःपतन (नीचे गिरना) ही होता रहै और यदि सर्वथा लघु (हलका) हो तो वायुसे ताडित आक वृक्षकी रुईके समान उसका निरन्तर भ्रमण ही होता रहै, परन्तु सिद्धस्वरूप ऐसा नहीं है इसलिये सातवां अगुरुलघुगुण कहा जाता है । स्वभावसे उत्पन्न और शुद्ध जो आत्मस्वरूप है उससे उत्पन्न तथा राग आदि विभावोंसे रहित ऐसे सुखरूपी अमृतका जो एकदेश अनुभव पहले किया उसीका फलरूप अव्याबाध अनन्त सुख नामक अष्टम गुण सिद्धोंमें कहा जाता है । ये जो सम्यक्त्व आदि अष्ट गुण कहे गये हैं सो मध्यमरुचिके धारक शिष्योंके लिये हैं और विस्तारमें मध्यमरुचिके धारक शिष्यके प्रति तो विशेष भेदनयका अवलम्बन करनेसे गतिरहितता, इन्द्रियरहितता, शरीररहितत्व, योगरहितत्व, वेदरहितता, कषायरहितत्व, नामरहितत्व, गोत्ररहितत्व तथा आयुरहितत्व आदि विशेष गुण और इसी प्रकार अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि सामान्य गुण ऐसे अपने जैनागमके अनुसार अनन्त गुण जानने चाहिये । और संक्षेपरुचि शिष्यके प्रति तो विवक्षित अभेद नयसे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य ये चार गुण अथवा अनन्त ज्ञान, दर्शन सुखरूप तीन गुण वा केवल ज्ञान और केवल दर्शन ये दो गुण हैं और साक्षात् अभेदनयसे शुद्ध चैतन्य यह एक ही गुण सिद्धोंका है । पुनः वे सिद्ध कैसे हैं इसलिये कहते हैं कि वे सिद्ध चरम (अन्तके) शरीरसे कुछ छोटे होते हैं और वह जो किंचित् ऊनता है सो शरीराङ्गोपाङ्गकर्मसे उत्पन्न नासिका आदि छिद्रोंके अपूर्ण होनेपर जिस क्षणमें सयोगीके अन्त समयमें त्रिंशत् प्रकृतियोंके उदयका नाश हुआ उनमें शरीरांगोपांग कर्मका भी विच्छेद होगया अतः उसी समय हुआ है यह जानना चाहिये । अब यहां कोई शंका करता है कि जैसे दीपकके आवरण करनेवाले पात्र आदिके हटालेनेसे उस

दीपकके प्रकाशका विस्तार हो जाता है उसी प्रकार देहका अभाव होनेपर सिद्धोंका आत्मा लोकप्रमाण होना चाहिये । अब इसका परिहार कहते हैं—जो यह दीपकसंबंधी प्रकाशका विस्तार है वह तो पहले स्वभावसे ही दीपकमें रहता है और पीछे उस दीपकके आवरण होता है; और जीवके तो लोकमात्र असंख्यात प्रदेशत्व स्वभाव है और जो प्रदेशोंका विस्तार है वह स्वभाव नहीं है. कदाचित् यह कहो कि जीवके पहले लोकमात्र प्रदेश विस्तृत हुए आवरणरहित रहते हैं और फिर जैसे प्रदीपके आवरण होता है वैसेही जीव-प्रदेशोंके भी आवरण हुआ है; सो नहीं, किन्तु जीवके प्रदेश तो पूर्वकालसे ही अनादिकालसे सन्तानरूप चले आये हुए शरीरसे आवरणसहितही रहते हैं । इस हेतुसे जीवके प्रदेशोंका संहार तथा विस्तार शरीर नामक नामकर्मके आधीनही है और जीवका स्वभाव नहीं है इस कारणसे जीवके शरीरका अभाव होनेपर प्रदेशोंका विस्तार नहीं होता है । इस विषयमें और भी उदाहरण देते हैं कि जैसे पुरुषकी मुट्ठीमें चार हाथका वस्त्र बँधा हुआ है, अब वह वस्त्र यदि पुरुष हो तब हीं तो उसकी प्रेरणासे संकोच व विस्तार कर सकता है और पुरुषके अभावमें संकोच तथा विस्तार नहीं कर सकता; जैसा उस पुरुषने छोड़ा वैसाही रहता है । अथवा गीला मृत्तिकाका भाजन बनते समय तो संकोच तथा विस्तारको प्राप्त हो जाता है और जब वह शुष्क हो जाता है तब जलका अभाव होनेसे संकोच व विस्तारको नहीं प्राप्त होता है इसी प्रकार जीव भी पुरुषके स्थानभूत अथवा जलके स्थानभूत शरीरके अभावमें संकोच विस्तारको नहीं प्राप्त होता है । अब कितनेही कहते हैं कि "जीव जिस स्थानमें कर्मोंसे मुक्त होता है वहांही रहता है." इसके निषेधके लिये कहते हैं । पूर्वप्रयोगसे, असंग होनेसे, बंधका नाश होनेसे तथा गतिके परिणामसे ऐसे इन चार हेतुओंसे जीवका ऊर्ध्व गमन जानना चाहिये अथवा भ्रमते हुए कुलाल (कुंभकार)के चाककी सदृश, मृत्तिकाके लेपरहित तुंबीके सदृश, एरंडके बीजके तुल्य, अथवा अग्निकी शिखाके समान, इन चार दृष्टांतोंसे जीवके स्वभावसे ऊर्ध्व गमन जानना चाहिये और वह ऊर्ध्व गमन भी लोकके अग्रभागतक ही होता है और इसके आगे नहीं; क्योंकि, वहां धर्मास्तिकायका अभाव है । सिद्ध नित्य हैं । यहांपर जो नित्य विशेषण है सो सदाशिववादी यह कहते हैं कि "१०० कल्प प्रमाण समय व्यतीत होनेपर जब जगत् शून्य हो जाता है तब फिर उन मुक्त जीवोंका संसारमें आगमन होता है." इस मतका निषेध करनेके लिये है ऐसा समझना चाहिये । सिद्ध उत्पाद तथा व्ययसे युक्त हैं । यहां जो उत्पाद व्यय संयुक्तपना सिद्धोंका विशेषण कहा है वह सर्वथा अपरिणामिताके निषेधके लिये है । यहांपर विशेष यह है कि कोई शंका करै कि सिद्ध तो निरन्तर निश्चल तथा विनाशरहित जो शुद्ध आत्माका स्वरूप है उसीमें रमते हैं, उससे भिन्न जो नरक आदि गतियोंमें भ्रमण करना है वह सिद्धोंके नहीं है इसलिये सिद्धोंमें

उत्पाद तथा व्यय कैसे मानते हो? इस शंकाका परिहार यह है कि आगममें कहे हुए जो अगुरुलघु आदि षट् स्थानोंमें पड़े हुए हानिवृद्धि स्वरूपसे अर्थ पर्याय हैं उनकी अपेक्षासे उत्पाद व्यय है। अथवा जिस जिस उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूपसे प्रति समय ज्ञेय पदार्थ परिणमते हैं उन उनकी परिच्छित्तिके आकारसे निरिच्छक (इच्छारहित) वृत्तिसे सिद्धोंका ज्ञान भी परिणमता है इस कारणसे उत्पाद व्यय है। अथवा सिद्धोंमें व्यंजन पर्यायकी अपेक्षासे संसार पर्यायका नाश, सिद्ध पर्यायका उत्पाद तथा शुद्ध जीव द्रव्यपनेसे ध्रौव्य है। ऐसे नय विभागसे नौ अधिकारोंद्वारा जीव द्रव्यका स्वरूप जानना चाहिये। अथवा वही जीवात्मा वहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा इन भेदोंसे तीन प्रकारका होता है। वह इस प्रकार है—निजशुद्ध आत्माके ज्ञानसे उत्पन्न जो पारमार्थिक (यथार्थ) सुख उससे विरुद्ध जो इन्द्रियसुख उससे आसक्त वहिरात्मा है; उससे विलक्षण अन्तरात्मा है। अथवा देहरहित जो निजशुद्ध आत्मा रूप द्रव्य, उस आत्मद्रव्यकी भावनारूप जो भेद ज्ञान है, उससे रहित होनेके कारण देह आदिपर (अन्य) द्रव्योंमें जो एकत्व भावनासे परिणत है अर्थात् देह आदिमें यह भावना करता है कि देह आदि मैं ही हूं वह वहिरात्मा है। और इस वहिरात्मासे विरुद्ध अर्थात् निजशुद्ध आत्माहीको आत्मा जाननेवाला अन्तरात्मा है। अथवा हेय तथा उपादेयका विचार करनेवाला जो चित्त तथा निर्दोष परमात्मासे भिन्न राग आदि दोष और शुद्ध चैतन्यरूप लक्षणका धारक आत्मा ऐसे इन पूर्वोक्त लक्षणोंके धारक जो चित्त, दोष और आत्मा हैं इन तीनोंमें अथवा वीतराग सर्वज्ञकथित अन्य पदार्थोंमें जिसके परस्पर अपेक्षाके धारक नयोंके विभागसे श्रद्धान और ज्ञान नहीं है वह वहिरात्मा है और उस वहिरात्मासे भिन्न लक्षणका धारक अन्तरात्मा है. इस प्रकार वहिरात्मा और अन्तरात्माका लक्षण जानना चाहिये। अब परमात्माका लक्षण कहते हैं—संपूर्ण तथा निर्मल ऐसे केवलज्ञान द्वारा जिस कारणसे समस्त लोक अलोकको जानता है अर्थात् व्याप्त होता है, इस हेतुसे वह परमात्मा विष्णु कहाता है। परब्रह्म नामक निजशुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न सुखामृतसे तृप्त होनेसे उर्वशी, तिलोत्तमा तथा रंभा आदि देवकन्याओंने भी जिसके ब्रह्मचर्य व्रतको खंडित न किया वह परम ब्रह्म कहलाता है। केवल ज्ञान आदि गुणरूप ऐश्वर्य युक्त होनेसे जिसके पदकी अभिलाषा (चाह) करते हुए देवोंके इन्द्र आदि भी जिसकी आज्ञाका पालन करते हैं, इसलिये वह परमात्मा ईश्वर इस नामका धारक होता है। केवल ज्ञान इस शब्दसे वाच्य (कहने योग्य) है सु (उत्तम) गत (ज्ञान) जिसका वह सुगत है। अथवा सु कहिये शोभायमान अविनश्वर (नाशरहित) मुक्तिके स्थानको जो प्राप्त हुआ सो सुगत है। तथा "शिव कहिये शान्त, अक्षय और परम कल्याणरूप निर्वाण मुक्तिपदको जिसने प्राप्त किया वह शिव कहलाता है। १।" इस श्लोकमें कहे हुए लक्षणका धारक होनेसे

वह परमात्मा शिव है। काम, क्रोध आदि दोषोंको जीतनेसे अनन्त ज्ञान आदि गुणोंका धारक जिन कहाता है; इत्यादि परमागममें कहे हुए एक हजार आठ नामोंसे वाच्य (कहने योग्य) जो है उसको परमात्मा जानना चाहिये। इस प्रकार इन पूर्वोक्त तीनों आत्माओंके मध्यमें जो मिथ्यादृष्टि भव्य जीव है उसमें बहिरात्मा तो व्यक्तिरूपसे रहता है और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूपसेही रहते हैं। और भावी नैगमनयकी अपेक्षासे व्यक्तिरूपसे भी रहते हैं। और मिथ्यादृष्टि अभव्यजीवमें तो बहिरात्मा व्यक्तिरूपसे और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूपसे ही रहते हैं। और भावी नैगमनयकी अपेक्षासे अन्तरात्मा तथा परमात्मा अभव्यमें व्यक्तिरूपसे नहीं रहते। कदाचित् यह कहो कि, यदि अभव्य जीवमें परमात्मा शक्तिरूपसे रहता है तो अभव्यत्व कैसे हो सकता है? तो इस शंकाका उत्तर यह है कि अभव्य जीवमें परमात्माकी जो शक्ति है उसकी केवल ज्ञान आदि रूपसे व्यक्ति न होगी इसलिये उसमें अभव्यत्व है और शुद्ध नयसे परमात्माकी शक्ति तो मिथ्यादृष्टि भव्य और अभव्य इन दोनोंमें समानही है। और यदि अभव्य जीवमें शक्तिरूपसे भी केवल ज्ञान नहीं हो तो केवल ज्ञानावरण कर्म नहीं सिद्ध होते। तथा भव्य अभव्य ये दोनों अशुद्ध नयसे हैं यह भावार्थ है। इस प्रकार जैसे मिथ्यादृष्टि नामक बहिरात्मामें नयविभागसे तीनों आत्माओंका प्रदर्शन किया उसी प्रकार बाकीके जो तेरह गुणस्थान हैं उनमें भी देखना चाहिये। वे इस प्रकार हैं:—बहिरात्माकी दशामें अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूपसे रहते हैं और भावी नैगमनयसे व्यक्तिरूपसे भी रहते हैं ऐसा जानना चाहिये। और अन्तरात्माकी अवस्थामें तो बहिरात्मा भूतपूर्व न्यायसे घृतके घटके समान और परमात्माका स्वरूप शक्तिरूपसे तथा भावी नैगम नयकी अपेक्षासे व्यक्तिरूपसे समझना चाहिये। और परमात्माकी अवस्थामें अन्तरात्मा तथा बहिरात्मा ये दोनों भूतपूर्व नयसे जानने चाहिये। अब तीनों प्रकारके आत्माओंको गुणस्थानोंमें योजित करते हैं— मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीनों गुणस्थानोंमें तारतम्य न्यूनाधिक भावसे बहिरात्मा जानना चाहिये, अविरत नाम चतुर्थ गुणस्थानमें उसके योग्य अशुभ लेश्याओंसे परिणत जघन्य अन्तरात्मा है और क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानमें उत्कृष्ट अन्तरात्मा है। अविरत और क्षीणकषाय अर्थात् चतुर्थ तथा बारहवें गुणस्थानोंके मध्यमें जो सात गुणस्थान हैं उनमें मध्यम अन्तरात्मा है तथा सयोगी और अयोगी इन दोनों गुणस्थानोंमें विवक्षित एकदेश शुद्धनयसे सिद्धके सदृश परमात्मा है और सिद्ध तो साक्षात् परमात्मा ही है। यहां बहिरात्मा तो हेय है और उपादेयभूत अनन्त सुखका साधक होनेसे अन्तरात्मा उपादेय है तथा परमात्मा साक्षात् उपादेय है, यह अभिप्राय है। इस प्रकार षट् द्रव्य और पंच अस्तिकायका प्रतिपादन करनेवाले प्रथम अधिकारमें नमस्कार गाथाको आदि ले

चौदह गाथाओंसे नव ९ अन्तर (मध्य) स्थलोंद्वारा जीव द्रव्यके कथन रूपसे प्रथम अन्तर अधिकार समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

अतःपरं यद्यपि शुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मद्रव्यमुपादेयं भवति तथापि हेयरूपस्याजीवद्रव्यस्य गाथाष्टकेन व्याख्यानं करोति। कस्मादिति चेत्—हेयतत्त्वपरिज्ञाने सति पश्चादुपादेयस्वीकारो भवतीति हेतोः। तद्यथा—

अब इसके पश्चात् यद्यपि शुद्ध बुद्ध एक स्वभावका धारक परमात्मा द्रव्यही उपादेय है तथापि हेयरूप जो अजीव द्रव्य है उसका आठ (गाथाओंद्वारा व्याख्यान निरूपण) करते हैं। क्योंकि, पहले हेयतत्त्वका ज्ञान होनेपर पीछे उपादेय पदार्थका स्वीकार होता है। वह इस प्रकार है,—

अज्जीवो पुण णेओ पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसाहु ॥ १५ ॥

गाथाभावार्थः—और पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल इन पांचोंको अजीव द्रव्य जानना चाहिये. इनमें पुद्गल तो मूर्त्तिमान् है. क्योंकि, रूप आदि गुणोंका धारक है. और शेप (बाकी)के चारों अमूर्त्त हैं ॥ १५ ॥

व्याख्या। "अज्जीवो पुण णेओ" अजीवः पुनर्ज्ञेयः। सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनद्वयं शुद्धोपयोगः, मतिज्ञानादिरूपो विकलोऽशुद्धोपयोग इति द्विविधोपयोगः, अव्यक्तसुखदुःखानुभवनरूपा कर्मफलचेतना, तथैव मतिज्ञानादिमनःपर्ययपर्यन्तमशुद्धोपयोग इति, स्वेहापूर्वेष्टानिष्टविकल्परूपेण विशेषरागद्वेषपरिणमनं कर्मचेतना, केवलज्ञानरूपा शुद्धचेतना इत्युक्तलक्षणोपयोगश्चेतना च यत्र नास्ति स भवत्यजीव इति विज्ञेयः। पुनः पश्चाज्जीवाधिकारानन्तरं "पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं कालो" स च पुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्यभेदेन पञ्चधा। पूरणगलनस्वभावत्वात्पुद्गल इत्युच्यते। गतिस्थित्यवगाहवर्त्तनालक्षणा धर्माधर्माकाशकालाः, "पुग्गलमुत्तो" पुद्गलो मूर्त्तः। कस्मात् "रूवादिगुणो" रूपादिगुणसहितो यतः। "अमुत्ति सेसा हु" रूपादिगुणाभावादमूर्त्ता भवन्ति पुद्गलाच्छेपाश्चत्वार इति। तथाहि यथा अनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यगुणचतुष्टयं सर्वजीवसाधारणं तथा रूपरसगन्धस्पर्शगुणचतुष्टयं सर्वपुद्गलसाधारणं, यथा च शुद्धबुद्धैकस्वभावसिद्धजीवे अनन्तचतुष्टयमतीन्द्रियं तथैव शुद्धपुद्गलपरमाणुद्रव्ये रूपादिचतुष्टयमतीन्द्रियं, यथा रागादिस्नेहगुणेन कर्मबन्धावस्थायां ज्ञानादिचतुष्टयस्याशुद्धत्वं तथा स्निग्धरूक्षत्वगुणेन द्व्यणुकादिबन्धावस्थायां रूपादिचतुष्टयस्याशुद्धत्वं, यथा निःस्नेहनिजपरमात्मभावनाबलेन रागादिस्निग्धत्वविनाशे सत्यनन्तचतुष्टयस्य शुद्धत्वं तथा जघन्यगुणानां बन्धो न भवतीति वचनात्परमाणुद्रव्ये स्निग्धरूक्षत्वगुणस्य जघन्यत्वे सति रूपादिचतुष्टयस्य शुद्धत्वमवबोद्धव्यमित्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थः—अब जीवाधिकारके अनन्तर "अज्जीवो पुण णेओ" अजीव पदार्थको वक्ष्यमाण प्रकारका जानना चाहिये। संपूर्ण रूपसे विमल अर्थात् संपूर्ण द्रव्य पर्यायका

प्रकाशक केवल ज्ञान तथा दर्शन ये दोनों शुद्ध उपयोग हैं और मतिज्ञान आदिरूप विकल अशुद्ध उपयोग है, इस रीतिसे शुद्ध तथा अशुद्ध भेदसे उपयोग दो प्रकारका है, अव्यक्त (अस्पष्ट) सुखदुःखानुभव स्वरूप कर्मफलचेतना तथा मतिज्ञानसे आदि लेके मनःपर्यय पर्यन्त चारों ज्ञानरूप अशुद्ध उपयोग तथा निजचेष्टापूर्वक इष्ट तथा अनिष्ट रूपसे संपूर्ण रागद्वेष रूपसे जो परिणाम हैं वह कर्मचेतना है, केवल ज्ञानरूप शुद्ध चेतना है इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणका धारक उपयोग तथा चेतना ये जिसमें नहीं हैं वह अजीव है इस प्रकार जानना चाहिये। "पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं कालो" और वह अजीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यके भेदसे पांच प्रकारका है। पूरण तथा गलन स्वभाव सहित होनेसे पुद्गल कहा जाता है, अर्थात् पूर्ण करने और छीजनेका स्वभाव जिसमें है वह पृथिवी आदि सब पुद्गल पर्याय है। तथा क्रमसे गति, स्थिति, अवगाह और वर्त्तना लक्षण सहित धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चारों द्रव्य हैं; अर्थात् गतिलक्षण धर्म, स्थितिलक्षण अधर्म, अवगाह देनेके लक्षणका धारक आकाश तथा वर्त्तना लक्षण युक्त कालद्रव्य है। "पुग्गल मुत्तो" पुद्गल मूर्त्त है। क्योंकि, वह "रूवादिगुणो" रूप आदि गुणोंसे सहित है। "अमुत्ति सेसा हु" पुद्गलके विना बाकी धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारों रूप आदि गुणोंका अभाव होनेसे अमूर्त्त हैं। जैसे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य ये चारों गुण सब जीवोंमें साधारण हैं; उसी प्रकार रूप, रस, गंध तथा स्पर्श ये चार गुण सब पुद्गलोंमें साधारण हैं। और जैसे शुद्ध बुद्ध एक स्वभावके धारक सिद्ध जीवमें अनन्त चतुष्टय अतीन्द्रिय है; उसी प्रकार शुद्ध पुद्गल परमाणु द्रव्यमें रूप आदि चतुष्टय अतीन्द्रिय है। जैसे राग आदि स्नेह गुणसे कर्मबन्धावस्थामें ज्ञान, दर्शन, सुख तथा वीर्य इन चारोंकी अशुद्धता है; उसी प्रकार स्निग्ध सूक्ष्मत्व गुणसे द्व्यणुक आदि बंधावस्थामें रूप आदि चतुष्टयकी अशुद्धता है। जैसे स्नेहरहित निज परमात्माकी भावनाके बलसे राग आदि स्निग्धताका विनाश होनेपर अनन्त चतुष्टयका शुद्धत्व है; वैसे "जघन्य गुणोंका बन्ध नहीं होता है" इस वचनसे परमाणु द्रव्यमें स्निग्ध रूक्षत्व गुणकी जघन्यता होनेपर रूप आदि चतुष्टयका शुद्धत्व समझना चाहिये, यह अभिप्राय है ॥ १५ ॥

अथ पुद्गलद्रव्यस्य विभावव्यञ्जनपर्यायान्प्रतिपादयति।

अब पुद्गल द्रव्यके विभाव व्यंजन पर्यायोंका प्रतिपादन करते हैं।

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाण भेद तम छाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥ १६ ॥

गाथाभावार्थः—शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप इनकरके सहित जो हैं वे सब पुद्गल द्रव्यके पर्याय हैं ॥ १६ ॥

व्याख्या—शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतसहिताः पुद्गलद्रव्यस्य पर्याया भवन्ति। अथ विस्तारः—भाषात्मकोऽभाषात्मकश्च द्विविधः शब्दः। तत्राक्षरानक्षरात्मकभेदेन भाषात्मको द्विधा भवति। तत्राप्यक्षरात्मकः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशपैशाचिकादिभाषाभेदेनार्यम्लेच्छमनुष्यादिव्यवहारहेतुर्बहुधा। अनक्षरात्मकस्तु द्वीन्द्रियादितिर्यग्जीवेषु सर्वज्ञदिव्यध्वनौ च। अभाषात्मकोऽपि प्रायोगिकवैश्रसिकभेदेन द्विविधः। "ततं वीणादिकं ज्ञेयं विततं पटहादिकम्। घनं तु कांस्यतालादि वंशादि सुषिरं विदुः। १।" इति श्लोककथितक्रमेण प्रयोगे भवः प्रायोगिकश्चतुर्धा भवति। विश्रसा स्वभावेन भवो वैश्रसिको मेघादिप्रभवो बहुधा। किञ्च शब्दातीतनिजपरमात्मभावनाच्युतेन शब्दादिमनोज्ञामनोज्ञपञ्चेन्द्रियविषयासक्तेन च जीवेन यदुपार्जितं सुस्वरदुःस्वरनामकर्म तदुदयेन यद्यपि जीवे शब्दो दृश्यते तथापि स जीवसंयोगेनोत्पन्नत्वाद् व्यवहारेण जीवशब्दो भण्यते, निश्चयेन पुनः पुद्गलस्वरूप एवेति। बन्धः कथ्यते—मृत्पिण्डादिरूपेण योऽसौ बहुधा बन्धः स केवलः पुद्गलबन्धः, यस्तु कर्मनोकर्मरूपः स जीवपुद्गलसंयोगबन्धः। किञ्च विशेषः—कर्मबन्धपृथग्भूतस्वशुद्धात्मभावनारहितजीवस्यानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यबन्धः, तथैवाशुद्धनिश्चयेन योऽसौ रागादिरूपो भावबन्धः कथ्यते सोऽपि शुद्धनिश्चयनयेन पुद्गलबन्ध एव। बिल्वाद्यपेक्षया बदरादीनां सूक्ष्मत्वं, परमाणोः साक्षादिति। बदराद्यपेक्षया बिल्वादीनां स्थूलत्वं, जगद्व्यापिनि महास्कन्धे सर्वोत्कृष्टमिति। समचतुरस्रन्यग्रोधसात्विककुब्जवामनहुण्डभेदेन षट्प्रकारसंस्थानं यद्यपि व्यवहारनयेन जीवस्यास्ति तथाप्यसंस्थानाच्चिच्चमत्कारपरिणतेर्भिन्नत्वान्निश्चयेन पुद्गलसंस्थानमेव। यदपि जीवादन्यत्र वृत्तत्रिकोणचतुष्कोणादिव्यक्ताव्यक्तरूपं बहुधा संस्थानं तदपि पुद्गल एव। गोधूमादिचूर्णरूपेण घृतखण्डादिरूपेण बहुधा भेदो ज्ञातव्यः। दृष्टिप्रतिबन्धकोऽन्धकारस्तम इति भण्यते। वृक्षाद्याश्रयरूपा मनुष्यादिप्रतिबिम्बरूपा च छाया विज्ञेया। उद्योतश्चन्द्रविमाने खद्योतादितिर्यग्जीवेषु च भवति। आतप आदित्यविमाने अन्यत्रापि सूर्यकान्तमणिविशेषादौ पृथ्वीकाये ज्ञातव्यः। अयमत्रार्थः—यथा जीवस्य शुद्धनिश्चयेन स्वात्मोपलब्धिलक्षणे सिद्धस्वरूपे स्वभावव्यञ्जनपर्याये विद्यमानेऽप्यनादिकर्मबन्धवशात् स्निग्धरूक्षस्थानीयरागद्वेषपरिणामे सति स्वाभाविकपरमानन्दैकलक्षणस्वास्थ्यभावभ्रष्टस्य नरनारकादिविभावव्यञ्जनपर्याया भवन्ति तथा पुद्गलस्यापि निश्चयनयेन शुद्धपरमाण्ववस्थालक्षणे स्वभावव्यञ्जनपर्याये सत्यपि स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धो भवतीति वचनाद्रागद्वेषस्थानीयबन्धयोग्यस्निग्धरूक्षत्वपरिणामे सत्युक्तलक्षणाच्छब्दादन्येऽप्यथागमोक्तलक्षणा आकुञ्चनप्रसारणदधिदुग्धादयो विभावव्यञ्जनपर्याया ज्ञातव्याः। एवमजीवाधिकारमध्ये पूर्वसूत्रोदितरूपादिगुणचतुष्टययुक्तस्य तथैवात्र सूत्रोदितशब्दादिपर्यायसहितस्य संक्षेपेणाणुस्कन्धभेदभिन्नस्य पुद्गलद्रव्यस्य व्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाद्वयं गतम् ॥१६॥

व्याख्यार्थः—शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप इन सहित पुद्गल द्रव्यके पर्याय होते हैं। अब इस विषयको विस्तारसे कहते हैं—भाषात्मक तथा अभाषात्मक इस प्रकार शब्द दो प्रकारका है। उनमें भाषात्मक शब्द अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक भेदसे दो प्रकारका है। उनमें भी संस्कृत, प्राकृत तथा उनके

अपभ्रंशरूप पैशाची आदि भाषाओंके भेदसे आर्य, म्लेच्छ मनुष्योंके व्यवहारका कारण अक्षरात्मक भेद भी अनेक प्रकारका है। और अनक्षरात्मक भेद द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवोंमें तथा सर्वज्ञकी दिव्य ध्वनिमें है। अभापात्मक शब्द भी प्रायोगिक तथा वैश्रसिक भेदसे दो प्रकारका है। उनमें "वीणा आदिसे उत्पन्न शब्दको तत, ढोल आदिसे उत्पन्न शब्दको वितत, मंजीरे तथा तालसे उत्पन्न हुए शब्दको घन और बांसके छिद्र आदिसे अर्थात् वंशी आदिसे उत्पन्न शब्दको सुषिर कहते हैं।" इस श्लोकमें कथित क्रमके अनुसार प्रायोगिक (प्रयोगसे उत्पन्न होनेवाला) शब्द चार प्रकारका है, और विश्रस् अर्थात् स्वभावसे उत्पन्न वैश्रसिक शब्द जो कि मेघ आदिसे उत्पन्न होता है वह अनेक प्रकारका है। विशेष यहां यह है कि शब्दसे रहित जो निज परमात्मा है उसकी भावनासे गिरे हुए और शब्द आदि जो मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ पांचों इन्द्रियोंके विषय हैं उनमें आसक्त हुए जीवने जो सुस्वर तथा दुःस्वर नामकर्मका उपार्जन किया उस कर्मके उदयसे यद्यपि जीवमें शब्द दीख पड़ता है तथापि वह शब्द जीवके संयोगसे उत्पन्न होनेके कारण व्यवहार नयसे जीवका शब्द कहा जाता है और निश्चयनयसे तो वह शब्द पुद्गल स्वरूप ही है। अब बंधका निरूपण करते हैं—मृत्तिका आदिके पिंडरूपसे जो घट, गृह, मोदक आदि बंध है वह तो केवल पुद्गलबंधही है और जो कर्म नोकर्म रूप बंध है वह जीव तथा पुद्गलके संयोगसे उत्पन्न बंध है। और यहांपर विशेष यह जानना चाहिये कि कर्मबंधसे भिन्न जो निज शुद्ध आत्मा है उसकी भावनासे रहित जीवके अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे द्रव्य बंध है, और इसी प्रकार अशुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षासे जो यह रागादिरूप भावबंध कहा जाता है वह भी शुद्ध निश्चयनयसे पुद्गलका ही बंध है। विल्वफल (बेल) आदिकी अपेक्षा बदर (बेर) आदि फलोंमें सूक्ष्मता है और परमाणुमें साक्षात् सूक्ष्मता है अर्थात्— वह किसीकी अपेक्षासे नहीं है ऐसी सूक्ष्मता है। बदर आदि फलोंकी अपेक्षा बिल्व आदि फलोंमें स्थूलत्व (बड़ापना) है और तीन लोकमें व्याप्त महास्कन्धमें सर्वोत्कृष्ट (सबसे अधिक) स्थूलत्व है। सम, चतुरस्र (चतुष्कोण), न्यग्रोध, सात्विक, वामन और हुंड इन भेदोंसे षट् ६ प्रकारका संस्थान यद्यपि व्यवहारनयसे जीवके है तथापि संस्थानशून्य जो चेतनचमत्कार परिणाम है उससे भिन्न होनेके कारण निश्चयकी अपेक्षासे पुद्गलकाही संस्थान है; और जो जीवसे अन्य स्थानोंमें गोल, त्रिकोण, चौकोर आदि प्रकट तथा अप्रकट रूप अनेक प्रकारका संस्थान है वह भी पुद्गलमें ही है। गोधूम (गेहूं) आदिके चून रूपसे तथा घी, खांड आदि रूपसे अनेक प्रकारका भेद जानना चाहिये। दृष्टिका प्रतिबन्धक (रोकनेवाला) जो अंधकार है उसको तम कहते हैं। वृक्ष आदिके आश्रयसे होनेवाली तथा मनुष्य आदिके प्रतिविम्बरूप जो है वह छाया जाननी चाहिये। चन्द्रमाके विमानमें तथा खद्योत (जुगनू व आग्या) आदि तिर्यञ्च

जीवोंमें उद्योत होता है। सूर्यके विमानमें तथा और इससे भिन्न जो सूर्यकान्त आदि मणिके भेद हैं उन रूप पृथ्वीकायमें आतप जानना चाहिये। यहांपर यह आशय है कि जैसे शुद्धनिश्चयनयसे जीवके निज आत्माकी प्राप्तिरूप सिद्ध स्वरूपमें स्वभाव व्यञ्जन पर्याय विद्यमान है तो भी अनादि कालके कर्मबंधनके वशसे पुद्गलके स्निग्ध तथा रूक्ष गुणके स्थानभूत राग द्वेष परिणाम होनेपर स्वाभाविक परमानन्दरूप स्वास्थ्य भावसे भ्रष्ट हुए जीवके मनुष्य, नारक आदि विभाव व्यंजन पर्याय होते हैं; उसी प्रकार पुद्गलके भी निश्चय नयसे शुद्ध परमाणु अवस्थारूप स्वभाव व्यंजन पर्यायके विद्यमान होते हुए भी "स्निग्ध तथा रूक्षतासे बंध होता है." इस वचनसे राग और द्वेषके स्थानको प्राप्त हुए स्निग्धत्व तथा रूक्षत्व परिणामके होनेपर पूर्वोक्त लक्षण शब्द आदिके अतिरिक्त अन्य भी शास्त्रोक्त लक्षणके धारक आकुञ्चन, प्रसारण, दधि, तथा दुग्ध आदि विभाव व्यंजन पर्याय जानने चाहिये ॥

इस प्रकार अजीव अधिकारके मध्यमें "अज्जीवो" इत्यादि पूर्वसूत्रमें कथित रूप, रस आदि चार गुणोंसे युक्त तथा इस "सद्दो बंधो" इत्यादि सूत्रमें कथित जो शब्द बंध आदि पर्याय हैं उन सहित तथा अणु, स्कन्ध आदि भेदोंसे भिन्न जो पुद्गलद्रव्य है उसका संक्षेपसे मुख्यपनेसे निरूपण करने द्वारा प्रथम स्थलमें दो गाथायें समाप्त हुईं ॥ १६ ॥

अथ धर्मद्रव्यमाख्याति ।

अब धर्मद्रव्यकी व्याख्या करते हैं ।

गइ परिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंताणेव सो णेई ॥ १७ ॥

गाथाभावार्थः—गति (गमनमें) परिणत जो पुद्गल और जीव हैं उनके गमनमें धर्मद्रव्य सहकारी है,—जैसे मत्स्योंके गमनमें जल सहकारी है और नहीं गमन करते हुए पुद्गल और जीवोंको वह धर्मद्रव्य कदापि गमन नहीं कराता है ॥ १७ ॥

व्याख्या । गतिपरिणतानां धर्मो जीवपुद्गलानां गमनसहकारिकारणं भवति । दृष्टान्तमाह—तोयं यथा मत्स्यानाम् । स्वयं तिष्ठतो नैव स नयति तानिति । तथाहि—यथा सिद्धो भगवानमूर्त्तोऽपि निष्क्रियस्तथैवाप्रेरकोऽपि सिद्धवदनन्तज्ञानादिगुणस्वरूपोऽहमित्यादिव्यवहारेण सविकल्पसिद्धभक्तियुक्तानां निश्चयेन निर्विकल्पसमाधिरूपस्वकीयोपादानकारणपरिणतानां भव्यानां सिद्धगतेः सहकारिकारणं भवति । तथा निष्क्रियोऽमूर्त्तो निष्प्रेरकोऽपि धर्मास्तिकायः स्वकीयोपादानकारणेन गच्छतां जीवपुद्गलानां गतेः सहकारिकारणं भवति । लोकप्रसिद्धदृष्टान्तेन तु मत्स्यादीनां जलादिवदित्यभिप्रायः ॥ एवं धर्मद्रव्यव्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थः—गतिमें परिणत अर्थात् गमनक्रियासहित जीव तथा पुद्गलोंके धर्म-

द्रव्य गमनमें सहकारी कारण अर्थात् गतिमें सहायक होता है। इसमें दृष्टान्त देते हैं कि जैसे मत्स्योंके गमन करनेमें जल सहायक है। परन्तु स्वयं ठहरे हुए जीव पुद्गलोंको वह धर्मद्रव्य गमन नहीं कराता है। अब इस विषयको अन्य दृष्टान्त द्वारा पुष्ट करते हैं। जैसे सिद्ध भगवान् अमूर्त्त हैं, क्रियारहित हैं तथा किसीको प्रेरणा करनेवाले भी नहीं हैं; तो भी "मैं सिद्धोंकी भांति अनन्त ज्ञान आदि गुणरूप हूं" इत्यादि व्यवहारसे सविकल्प सिद्ध-भक्तिके धारक और निश्चयसे निर्विकल्प ध्यानरूप अपने उपादान कारणसे जो परिणत हैं ऐसे भव्य जीवोंके वे सिद्ध भगवान् सिद्ध गतिमें सहकारी कारण होते हैं। इसी प्रकार क्रिया-रहित, अमूर्त्त और प्रेरणारहित जो धर्मास्तिकाय है वह भी अपने अपने उपादान कार-णोंसे गमन करते हुए जीव और पुद्गलोंके गमनका सहकारी कारण होता है। लोकमें प्रसिद्ध ऐसे दृष्टान्तसे तो जैसे मत्स्य आदिके गमनमें जल आदि सहकारी कारण हैं वैसे ही जीव पुद्गलके गमनमें धर्मद्रव्य सहकारी कारण है ऐसा जानना चाहिये। यह अभिप्राय है॥ इस प्रकार धर्मद्रव्यके व्याख्यान रूपसे यह गाथा समाप्त हुई॥ १७॥

अथ धर्मद्रव्यमुपदिशति।

अब अधर्मद्रव्यका उपदेश करते हैं।

ठाण जुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई॥ १८॥

गाथाभावार्थः—स्थितिसहित जो पुद्गल और जीव हैं उनकी स्थितिमें सहकारी कारण अधर्म द्रव्य है जैसे पथिकों (बटोहियों)की स्थितिमें छाया सहकारी है। और गमन करते हुए जीव तथा पुद्गलोंको वह अधर्म द्रव्य नहीं ठहरता है॥ १८॥

व्याख्या। स्थानयुक्तानामधर्मः पुद्गलजीवानां स्थितेः सहकारिकारणं भवति। तत्र दृष्टा-न्तः—छाया यथा पथिकानाम्। स्वयं गच्छतो जीवपुद्गलान्स नैव धरतीति। तद्यथा—स्वसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरूपं परमस्वास्थ्यं यद्यपि निश्चयेन स्वरूपे स्थितिकारणं भवति तथा "सिद्धोऽहं सुद्धोऽहं अणंतणाणादिगुणसमिद्धोऽहं। देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तोय।१।" इति गाथाकथितसिद्धभक्तिरूपेणेह पूर्वं सविकल्पावस्थायां सिद्धोऽपि यथा भव्यानां बहि-रङ्गसहकारिकारणं भवति तथैव स्वकीयोपादानकारणेन स्वयमेव तिष्ठतां जीवपुद्गलानाम-धर्मद्रव्यं स्थितेः सहकारिकारणम्। लोकव्यवहारेण तु छायावद्वा पृथिवीवद्वेति सूत्रार्थः॥ एवमधर्मद्रव्यकथनेन गाथा गता॥ १८॥

व्याख्यार्थः—स्थितिसहित जो पुद्गल तथा जीव हैं उनकी स्थितिमें सहकारी कारण अधर्म द्रव्य है। उसमें दृष्टान्तः—जैसे छाया पथिकोंकी स्थितिमें सहकारी कारण है। और स्वयं गमन करते हुए जीव पुद्गलोंको वह अधर्म द्रव्य कदापि नहीं ठहराता है। सो ऐसे है—यद्यपि निश्चयसे अपने आत्मज्ञानसे उत्पन्न सुखामृतरूप जो परमस्वास्थ्य है वह

निजरूपमें स्थितिका कारण होता है; परन्तु "मैं सिद्ध हूं, शुद्ध हूं, अनन्त ज्ञानआदि गुणोंका धारक हूं, शरीरप्रमाण हूं, नित्य हूं, असंख्यात प्रदेशोंका धारक हूं तथा अमूर्त हूं। १।" इस गाथामें कहीहुई सिद्धभक्तिके रूपसे इस संसारमें पहले सविकल्प अवस्थामें सिद्ध भी जैसे भव्य जीवोंके बहिरंग सहकारी कारण होते हैं उसी प्रकार अपने २ उपादान कारणसे स्वयं ही ठहरते हुए जीव पुद्गलोंके अधर्म द्रव्य स्थितिका सहकारी कारण होता है. और लोकके व्यवहारसे जैसे छाया अथवा पृथिवी ठहरते हुए पथिकोंकी स्थितिमें सहकारी होती है वैसे ही स्वयं ठहरते हुए जीवपुद्गलोंकी स्थितिमें अधर्म द्रव्य स्थितिमें सहकारी होता है। यह सूत्रका भावार्थ है॥ ऐसे अधर्मद्रव्यके निरूपणद्वारा यह गाथा समाप्त हुई॥ १८॥

अथाकाशद्रव्यमाह।

अब आकाश द्रव्यका कथन करते हैं।

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं॥ १९॥

गाथाभावार्थः—जो जीव आदि द्रव्योंको अवकाश देनेवाला है उसको श्रीजिनेन्द्र करके कहा हुआ आकाश द्रव्य जानो। वह लोकाकाश और अलोकाकाश इन भेदोंसे दो प्रकारका है॥ १९॥

व्याख्या। जीवादीनामवकाशदानयोग्यमाकाशं विजानीहि हे शिष्य। किं विशिष्टं "जेण्हं" जिनस्येदं जैनं, जिनेन प्रोक्तं वा जैनम्। तच्च लोकालोकाकाशभेदेन द्विविधमिति। इदानीं विस्तारः—सहजशुद्धसुखामृतरसास्वादेन परमसमरसीभावेन भरितावस्थेषु केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतेषु लोकाकाशप्रमितासंख्येयस्वकीयशुद्धप्रदेशेषु यद्यपि निश्चयनयेन सिद्धास्तिष्ठन्ति, तथाप्युपचरितासद्भूतव्यवहारेण मोक्षशिलायां तिष्ठन्तीति भण्यते इत्युक्तोऽस्ति। स च ईदृशो मोक्षो यत्र प्रदेशे परमध्यानेनात्मा स्थितः सन् कर्मरहितो भवति, तत्रैव भवति नान्यत्र। ध्यानप्रदेशे कर्मपुद्गलान् त्यक्त्वा ऊर्ध्वगमनस्वभावेन गत्वा मुक्तात्मानो यतो लोकाग्रे तिष्ठन्तीति तत उपचारेण लोकाग्रमपि मोक्षः प्रोच्यते। यथा तीर्थभूतपुरुषसेवितस्थानमपि भूमिजलादिरूपमुपचारेण तीर्थं भवति। सुखबोधार्थं कथितमास्ते यथा तथैव सर्वद्रव्याणि यद्यपि निश्चयनयेन स्वकीयप्रदेशेषु तिष्ठन्ति तथाप्युपचरितासद्भूतव्यवहारेण लोकाकाशे तिष्ठन्तीत्यभिप्रायो भगवतां श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तदेवानामिति॥ १९॥

व्याख्यार्थः—हे शिष्य! जीवादि द्रव्योंको अवकाश (रहनेको स्थान) देनेकी योग्यता जिसमें है उसको जिन भगवान् संबन्धी अथवा श्रीजिनेन्द्र करके कहा हुआ आकाश द्रव्य जानो। और वह आकाश लोकाकाश तथा अलोकाकाश इन भेदोंसे दो प्रकारका है। अब इसका वर्णन विस्तारसे करते हैं। स्वाभाविक तथा शुद्ध सुखरूप अमृतरसके आस्वाद रूप परम समरसीभावसे पूर्ण अवस्थाओंसे युक्त तथा केवल ज्ञान आदि अनन्त गुणोंके

आधारभूत होनेसे जो लोकाकाश प्रमाण असंख्यात अपनी आत्माके प्रदेश हैं, उनमें यद्यपि निश्चयनयकी अपेक्षासे सिद्ध जीव निवास करते हैं; तथापि उपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे सिद्ध मोक्षशिलामें रहते हैं ऐसा कहा जाता है। यह पहले कह चुके हैं। और वह ऐसा मोक्ष जिस प्रदेशमें आत्मा परमध्यान युक्त होकर कर्मरहित होता है वहांही है, अन्यत्र कहीं नहीं। ध्यान करनेके स्थानमें कर्म पुद्गलोंको छोड़कर तथा ऊर्ध्वगमन स्वभावसे गमन कर मुक्त जीव जिस हेतुसे लोकके अग्रभागमें जाके निवास करते हैं उस हेतुसे लोकका जो अग्रभाग है वह भी उपचारसे मोक्ष कहलाता है। जैसे कि तीर्थभूत पुरुषोंकरके सेवित भूमि तथा जल आदिरूप स्थान भी उपचारसे तीर्थ होता है। यह वर्णन यहांपर शिष्योंको सुखसे समझानेके लिये किया गया है। जैसे सिद्ध निजप्रदेशोंमें रहते हैं उसी प्रकार निश्चयनयसे यद्यपि सभी द्रव्य अपने अपने प्रदेशोंमें स्थित रहते हैं, तथापि उपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे लोकाकाशमें सब द्रव्य तिष्ठते हैं ऐसा यहांपर भगवान् श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्तीका अभिप्राय जानना चाहिये ॥ १९ ॥

तमेव लोकाकाशं विशेषेण द्रढयति।

अब उसी लोकाकाशको विशेषण रूपसे दृढ करते हैं।

धम्मा धम्मा कालो पुग्गलजीवाय संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्ति ॥ २० ॥

गाथाभावार्थः—धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव ये पांचों द्रव्य जितने आकाशमें हैं वह तो लोकाकाश है और उस लोकाकाशके आगे अलोकाकाश है ॥ २० ॥

व्याख्या। धर्माधर्मकालपुद्गलजीवाश्च सन्ति यावत्याकाशे स लोकः। तथा चोक्तं—लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोक इति। तस्माल्लोकाकाशात्परतो वहिर्भागे पुनरनन्ताकाशमलोक इति। अत्राह सोमाभिधानो राजश्रेष्ठी। हे भगवन्! केवलज्ञानस्यानन्तभागप्रमितमाकाशद्रव्यं तस्याप्यनन्तभागे सर्वमध्यमप्रदेशे लोकस्तिष्ठति। स चानादिनिधनः केनापि पुरुषविशेषेण न कृतो न हृतो न धृतो न च रक्षितः। तथैवासंख्यातप्रदेशस्तत्रासंख्यातप्रदेशे लोकेऽनन्तजीवास्तेभ्योऽप्यनन्तगुणाः पुद्गलाः, लोकाकाशप्रमितासंख्येयकालाणुद्रव्याणि, प्रत्येकं लोकाकाशप्रमाणं धर्माधर्मद्वयमित्युक्तलक्षणाः पदार्थाः कथमवकाशं लभन्त इति। भगवानाह—एकप्रदीपप्रकाशे नानाप्रदीपप्रकाशवदेकगूढरसनागगद्याणके बहुसुवर्णवद्भस्मघटमध्ये सूचिकोष्ट्रदुग्धवदित्यादिदृष्टान्तेन विशिष्टावगाहनशक्तिवशादसंख्यातप्रदेशेऽपि लोकेऽवस्थानमवगाहो न विरुध्यते। यदि पुनरित्थंभूतावगाहनशक्तिर्न भवति तर्ह्यसंख्यातप्रदेशेष्वसंख्यातपरमाणूनामेव व्यवस्थानं, तथा सति सर्वे जीवा यथा शुद्धनिश्चयेन शक्तिरूपेण निरावरणाः शुद्धबुद्धैकस्वभावास्तथा व्यक्तिरूपेण व्यवहारनयेनापि न च तथा प्रत्यक्षविरोधादागमविरोधाच्चेति। एवमाकाशद्रव्यप्रतिपादनरूपेण सूत्रद्वयं गतम् ॥ २० ॥

व्याख्यार्थः—धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल तथा जीव ये पांचों द्रव्य जितने आकाशके

भागमें रहते हैं उतने आकाशके भागका नाम लोक अथवा लोकाकाश है। ऐसा कहा भी है कि—जहांपर जीव आदि पदार्थ देखनेमें आते हैं वह लोक है। उस लोकाकाशसे परे अर्थात् बाह्य भागमें जो अनन्त आकाश है वह अलोक अथवा अलोकाकाश है। अब यहांपर सोम है नाम जिसका ऐसा राजश्रेष्ठी प्रश्न करता है कि हे भगवन्! केवल ज्ञानका जो अनन्त भाग है उस प्रमाण तो आकाश द्रव्य है और उस आकाशके अनन्त भागोंमेंसे एक भागमें सबके विचले भागमें लोक है और वह लोक आदि तथा अन्तसे रहित है, न किसी पुरुषका बनाया हुआ है, न किसीसे विनाशित है, न किसीसे धारण किया हुआ है और न किसीसे रक्षा किया हुआ है। और असंख्यात प्रदेशोंका धारक है। उस असंख्यात प्रदेशोंके धारक लोकमें अनन्तों जीव, अनन्त गुणे पुद्गल, लोकाकाश प्रमाण असंख्यात कालाणु द्रव्य, लोकाकाश प्रमाण धर्मद्रव्य तथा लोकाकाश प्रमाणही अधर्म द्रव्य इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणके धारक पदार्थ कैसे अवकाशको प्राप्त होते हैं? इस शंकाका उत्तर कृपा कर दीजिये। अब भगवान् इसके उत्तरमें कहते हैं कि जैसे एक दीपकके प्रकाशमें अनेक दीपोंका प्रकाश अवकाशको पाता है उस तरह, अथवा जैसे एक गूढ रसविशेषसे भरे हुए शीशेके भांडमें बहुतसा सुवर्ण अवकाश पाता है उस प्रकार, अथवा भस्मसे भरे हुए घटमें जैसे सूई और ऊंटनीका दूध आदि समाजाते हैं उस प्रकार विशिष्ट अवगाहन शक्तिके वशसे असंख्यात प्रदेशवाले लोकमें पूर्वोक्त जीव पुद्गलादिकोंका रहना विरोधको प्राप्त नहीं होता। और यदि इस प्रकार अवगाहनशक्ति न हो तो लोकके असंख्यात प्रदेशोंमें असंख्यात परमाणुओंका ही निवास हो। और ऐसा होनेपर जैसे शक्तिरूप शुद्ध निश्चयनयसे सब जीव आवरणरहित तथा शुद्ध बुद्ध एक सभावके धारक हैं, वैसेही व्यक्तिरूप व्यवहारनयसे भी हो जायँ; और ऐसे हैं नहीं। क्योंकि, इस माननेमें प्रत्यक्षसे और आगमसे विरोध है॥ इस प्रकार आकाश द्रव्यके निरूपणसे दो सूत्र चरितार्थ हुए॥२०॥

अथ निश्चयव्यवहारकालस्वरूपं कथयति।

अब निश्चयकाल तथा व्यवहारकालके स्वरूपका वर्णन करते हैं।

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
परिणामादी लक्खो वट्टणलक्खोय परमट्ठो॥ २१॥

गाथाभावार्थः—जो द्रव्योंके परिवर्त्तन रूप, परिणाम रूप देखा जाता है वह तो व्यवहारकाल है और वर्त्तना लक्षणका धारक जो काल है वह निश्चयकाल है॥ २१॥

व्याख्या। "दव्वपरिवट्टरूवो जो" द्रव्यपरिवर्त्तरूपो यः "सो कालो हवेइ ववहारो" स कालो भवति व्यवहाररूपः। स च कथंभूतः "परिणामादी लक्खो" परिणामक्रियापरत्वापरत्वेन लक्ष्यत इति परिणामादिलक्ष्यः। इदानीं निश्चयकालः कथ्यते:—

"वट्टणलक्खोय परमट्ठो" वर्त्तनालक्षणश्च परमार्थकाल इति । तद्यथा—जीवपुद्गलयोः परिवर्त्तो नवजीर्णपर्यायस्तस्य या समयघटिकादिरूपा स्थितिः स्वरूपं यस्य स भवति द्रव्यपर्यायरूपो व्यवहारकालः । तथाचोक्तं संस्कृतप्राभृतेन—"स्थितिः कालसंज्ञका" तस्य पर्यायस्य संबन्धिनी याऽसौ समयघटिकादिरूपा स्थितिः सा व्यवहारकालसंज्ञा भवति न च पर्याय इत्यभिप्रायः । यत एव पर्यायसंबन्धिनी स्थितिर्व्यवहारकालसंज्ञां भजते तत एव जीवपुद्गलसंबन्धिपरिणामेन पर्यायेण तथैव देशान्तरचलनरूपया गोदोहनपाकादिपरिस्पन्दलक्षणरूपया वा क्रियया तथैव दूरासन्नचलनकालकृतपरत्वापरत्वेन च लक्ष्यते ज्ञायते यः स परिणामक्रियापरत्वापरत्वलक्षण इत्युच्यते । अथ द्रव्यरूपनिश्चयकालमाह । स्वकीयोपादानरूपेण स्वयमेवपरिणममानानां पदार्थानां कुम्भकारचक्रस्याधस्तनशिलावत्, शीतकालाध्ययने अग्निवत्, पदार्थपरिणतेर्यत्सहकारित्वं सा वर्त्तना भण्यते । सैव लक्षणं यस्य स वर्त्तनालक्षणः कालाणुद्रव्यरूपो निश्चयकालः, इति व्यवहारकालस्वरूपं निश्चयकालस्वरूपं च विज्ञेयम् । कश्चिदाह "समयरूप एव निश्चयकालस्तस्मादन्यः कालाणुद्रव्यरूपो निश्चयकालो नास्त्यदर्शनात् ।" तत्रोत्तरं दीयते—समयस्तावत्कालस्यैव पर्यायः, स कथं पर्याय इति चेत् पर्यायस्योत्पन्नप्रध्वंसित्वात् । तथाचोक्तं "सम उप्पन्न पधंसी" स च पर्यायो द्रव्यं विना न भवति, पश्चात्तस्य समयरूपपर्यायकालस्योपादानकारणभूतं द्रव्यं तेनापि कालरूपेण भाव्यम् । इन्धनाग्निसहकारिकारणोत्पन्नस्यौदनपर्यायस्य तन्दुलोपादानकारणवत्, अथ कुम्भकारचक्रचीवरादिबहिरङ्गनिमित्तोत्पन्नस्य मृन्मयघटपर्यायस्य मृत्पिण्डोपादानकारणवत्, अथवा नरनारकादिपर्यायस्य जीवोपादानकारणवदिति । तदपि कस्मादुपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति वचनात् । अथ मतं "समयादिकालपर्यायाणां कालद्रव्यमुपादानकारणं न भवति; किन्तु समयोत्पत्तौ मन्दगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुस्तथा निमेषकालोत्पत्तौ नयनपुटविघटनं, तथैव घटिकाकालपर्यायोत्पत्तौ घटिकासामग्रीभूतजलभाजनपुरुषहस्तादिव्यापारो, दिवसपर्याये तु दिनकरबिम्बमुपादानकारणमिति नैवम् । यथा तन्दुलोपादानकारणोत्पन्नस्य सदोदनपर्यायस्य शुक्लकृष्णादिवर्णा, सुरभ्यसुरभिगन्ध—स्निग्धरूक्षादिस्पर्श—मधुरादिरसविशेषरूपा गुणा दृश्यन्ते । तथा पुद्गलपरमाणुनयनपुटविघटनजलभाजनपुरुषव्यापारादिदिनकरबिम्बरूपैः पुद्गलपर्यायैरुपादानभूतैः समुत्पन्नानां समयनिमिषघटिकादिकालपर्यायाणामपि शुक्लकृष्णादिगुणाः प्राप्नुवन्ति न च तथा । उपादानकारणसदृशं कार्यमिति वचनात् । किं बहुना । योऽसावनाद्यनिधनस्तथैवामूर्त्तो नित्यः समयाद्युपादानकारणभूतोऽपि समयादिविकल्परहितः कालाणुद्रव्यरूपः स निश्चयकालो, यस्तु सादिसान्तसमयघटिकाप्रहरादिविवक्षितव्यवहारविकल्परूपस्तस्यैव द्रव्यकालस्य पर्यायभूतो व्यवहारकाल इति । अयमत्र भावः—यद्यपि काललब्धिवशेनानन्तसुखभाजनो भवति जीवस्तथापि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वस्य सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानसमस्तबहिर्द्रव्येच्छानिवृत्तिलक्षणतपश्चरणरूपा या निश्चयचतुर्विधाराधना सैव तत्रोपादानकारणं ज्ञातव्यं न च कालस्तेन स हेय इति ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थः—"दव्वपरिवट्टरूवो जो" जो द्रव्य परिवर्त्तरूप है "सो कालो हवेइ ववहारो" वह व्यवहाररूप काल होता है. और वह कैसा है कि "परिणामादीलक्खो" परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्वसे जाना जाता है. इसलिये परिणामादिलक्ष्य है । अब निश्च-

यकालका कथन करते हैं। "वट्टणलक्खो य परमट्ठो" जो वर्त्तनालक्षण काल है वह परमार्थ (निश्चय) काल है ॥ अब इस व्यवहार तथा निश्चयकालका विस्तारसे वर्णन इस प्रकार है. जैसे—जीव तथा पुद्गलका परिवर्त्त जो नूतन तथा जीर्ण पर्याय है उस पर्यायकी जो समय, घटिका आदिरूप स्थिति है वही जिसका स्वरूप है वह द्रव्यपर्यायरूप व्यवहार काल है। सोही संस्कृतप्राभृतने कहा भी है कि "स्थिति जो है वह कालसंज्ञक है"। तात्पर्य यह है कि उस द्रव्यके पर्यायसे संवन्ध रखनेवाली जो समय, घटिका आदिरूप स्थिति है वह स्थिति ही "व्यवहारकाल" इस संज्ञाकी धारक होती है और वह जो द्रव्यका पर्याय है सो व्यवहारकाल संज्ञाको नहीं धारण करता। और जो पर्यायसंबंधिनी स्थिति "व्यवहारकाल" इस नामको धारण करती है इसी कारणसे जीव तथा पुद्गल संबंधी परिणाम रूप पर्यायसे, तथा देशान्तरमें संचलन रूप अथवा गोदोहन, पाक, आदि परिस्पन्द लक्षणकी धारक क्रियासे, तथा दूर वा समीप देशमें चलन रूप कालकृत परत्व तथा अपरत्वसे यह काल जाना जाता है इसीलिये वह काल, परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व लक्षणका धारक कहा जाता है। अब द्रव्यरूप निश्चयकालका कथन करते हैं। अपने अपने उपादान रूप कारणसे स्वयं ही परिणमनको प्राप्त होते हुए पदार्थोंके जैसे कुंभकारके चक्र (चाक) के भ्रमणमें उसके नीचेकी शिला सहकारिणी है उस प्रकार, अथवा शीतकाल (जाड़े)के पडनेमें अग्नि सहकारी है उस प्रकार जो पदार्थपरिणतिमें सहकारिता है उसीको वर्त्तना कहते हैं; और वह वर्त्तना ही है लक्षण जिसका सो वर्त्तना लक्षणका धारक कालाणु द्रव्यरूप निश्चय काल है। इस प्रकार व्यवहारकालका तथा निश्चयकालका स्वरूप जानना चाहिये। यहां कोई कहता है कि समय रूप ही निश्चयकाल है। उस समयसे भिन्न कालाणु द्रव्य रूप कोई निश्चयकाल नहीं है। क्योंकि, देखनेमें नहीं आता ॥ अब इसका उत्तर देते हैं कि समय जो है सो तो कालका ही पर्याय है। कदाचित् कहो कि समय कालका पर्याय कैसे है? तो उत्तर यह है कि पर्याय जो है सो "सम उप्पन्नपधंसी" इस आगमोक्त वाक्यके अनुसार उत्पन्न होता है और नाशको प्राप्त होता है और वह पर्याय द्रव्यके विना नहीं होता और फिर यदि समयको ही काल मानलो तो उस समय रूप पर्याय कालका उपादान कारणभूत जो द्रव्य है उसको भी कालरूप ही होना चाहिये। क्योंकि जैसे इंधन, अग्नि आदि सहकारी कारणसे उत्पन्न ओदन पर्याय (पके चावल)का उपादान कारण चावल ही होता है; अथवा कुंभकार, चाक, चीवर आदि बहिरंग निमित्त कारणोंसे उत्पन्न जो मृत्तिकादि रूप घट पर्याय है उसका उपादान कारण मृत्तिकाका पिंड ही है; वा नर नारक आदि जो जीवके पर्याय हैं उनका उपादान कारण जीव ही है; ऐसे ही समय घटिका आदि रूप कालका भी उपादान कारण काल ही होना चाहिये। यह नियम भी क्यों माना गया है कि "अपने उपादान कारणके समान ही कार्य होता है"

ऐसा वचन है। अब कदाचित् तुम्हारा ऐसा मत हो कि "समय, घटिका आदि कालपर्यायोंका उपादान कारण कालद्रव्य नहीं है किन्तु समय रूप कालपर्यायकी उत्पत्तिमें मन्द गतिमें परिणत पुद्गल परमाणु उपादान कारण है, तथा निमेषरूप कालपर्यायकी उत्पत्तिमें नेत्रोंके पुटोंका विघटन अर्थात् पलकका गिरना उठना उपादान कारण है, ऐसे ही घटिका रूप कालपर्यायकी उत्पत्तिमें घटिकाकी सामग्रीरूप जो जलका भाजन और पुरुषके हस्त आदिका व्यापार है वह उपादान कारण है और दिनरूप कालपर्यायकी उत्पत्तिमें सूर्यका बिम्ब उपादान कारण होता है इत्यादि। सो यह मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि, जैसे तन्दुल (चावल)रूप उपादान कारणसे उत्पन्न जो ओदन (भात) पर्याय है उसके निज उपादान कारणमें प्राप्त गुणोंके समान ही शुक्ल, कृष्ण, आदि वर्ण, अच्छा वा बुरा गन्ध, चिकना अथवा रूखा आदि स्पर्श, मधुर आदि रस, इत्यादि विशेष गुण देख पड़ते हैं; वैसे ही पुद्गल परमाणु, नयनपुटविघटन, जलभाजन, पुरुषव्यापार आदि तथा सूर्यका बिम्ब इन रूप जो उपादानभूत पुद्गलपर्याय हैं उनसे उत्पन्न हुए समय, निमिष, घटिका, दिन आदि जो कालपर्याय हैं उनको भी शुक्ल, कृष्ण आदि गुण प्राप्त होते हैं, परन्तु समय घटिका आदिमें उपादान कारणोंके कोई गुण नहीं देख पड़ते। क्योंकि, उपादानकारणके समान कार्य होता है ऐसा वचन है। अब यहां अधिक कहना व्यर्थ है। जो आदि तथा अन्तसे रहित है, अमूर्त्त है, नित्य है, समय आदिका उपादानकारणभूत है तो भी समय आदि भेदोंसे रहित है, और कालाणु द्रव्यरूप है वह तो निश्चय काल है। और जो आदि तथा अन्तसे सहित है, समय, घटिका तथा प्रहर आदि विवक्षित व्यवहारके विकल्पोंसे युक्त है, वह उसी द्रव्यकालका पर्यायभूत व्यवहारकाल है। यहां तात्पर्य यह है कि यद्यपि यह जीव काललब्धिके वशसे अनन्त सुखका भाजन (पात्र) होता है, तथापि विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावका धारक जो निज परमात्माका स्वरूप है उसके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, आचरण और संपूर्ण बाह्य द्रव्योंकी इच्छाको दूर करनेरूप लक्षणका धारक तपश्चरण ऐसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तपरूप जो निश्चयसे चार प्रकारकी आराधना है वह आराधना ही उस जीवके अनन्त सुखकी प्राप्तिमें उपादान कारण है ऐसा जानना चाहिये। और काल उपादान कारण नहीं है, इसलिये वह काल हेय (त्याज्य) है ॥ २१ ॥

अथ निश्चयकालस्यावस्थानक्षेत्रं द्रव्यगणनां च प्रतिपादयति।

अब निश्चयकालकी स्थितिका क्षेत्र तथा कालको द्रव्योंमें क्यों गिनागया इस विषयका प्रतिपादन करते हैं।

लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का।
रयणाणं रासी इव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥ २२ ॥

गाथाभावार्थः—जो लोकाकाशके एक एक प्रदेशमें रत्नोंकी राशीके समान

परस्पर भिन्न होकर एक एक स्थित हैं वे कालाणु हैं और असंख्यात द्रव्य हैं ॥ २२ ॥

व्याख्या । "लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किका" लोकाकाशप्रदेशेष्वेकैकेषु ये स्थिता एकैकसंख्योपेता "हु" स्फुटं क इव "रयणाणं रासी इव" परस्परतादात्म्यपरिहारेण रत्नानां राशिरिव। "ते कालाणू" ते कालाणवः। कति संख्योपेताः। "असंखदव्वाणि" लोकाकाशप्रमितासंख्येयद्रव्याणीति । तथाहि—यथाङ्गुलिद्रव्यस्य यस्मिन्नेव क्षणे वक्रपर्यायोत्पत्तिस्तस्मिन्नेव क्षणे पूर्वप्राञ्जलपर्यायविनाशोऽङ्गुलिरूपेण ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धिः । यथैव च केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपेण कार्यसमयसारस्योत्पादो निर्विकल्पसमाधिरूपकारणसमयसारस्य विनाशस्तदुभयाधारपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति वा द्रव्यसिद्धिः । तथा कालाणोरपि मन्दगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुना व्यक्तीकृतस्य कालाणूपादानकारणोत्पन्नस्य य एव वर्त्तमानसमयस्योत्पादः स एवातीतसमयापेक्षया विनाशस्तदुभयाधारकालाणुद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमित्युत्पादव्ययध्रौव्यात्मककालद्रव्यसिद्धिः। लोकवहिर्भागे कालाणुद्रव्याभावात्कथमाकाशद्रव्यस्य परिणतिरिति चेत् अखण्डद्रव्यत्वादेकदेशदण्डाहतकुम्भकारचक्रभ्रमणवत्, तथैवैकदेशमनोहरस्पर्शनेन्द्रियविषयानुभवसर्वाङ्गसुखवत्, लोकमध्यस्थितकालाणुद्रव्यधारणैकदेशेनापि सर्वत्र परिणमनं भवतीति कालद्रव्यं शेषद्रव्याणां परिणतेः सहकारिकारणं भवति । कालद्रव्यस्य किं सहकारिकारणमिति । यथाकाशद्रव्यमशेषद्रव्याणामाधारः स्वस्यापि, तथा कालद्रव्यमपि परेषां परिणतिसहकारिकारणं स्वस्यापि । अथ मतं यथा कालद्रव्यं स्वस्योपादानकारणं परिणतेः सहकारिकारणं च भवति तथा सर्वद्रव्याणि, कालद्रव्येण किं प्रयोजनमिति । नैवम् । यदि पृथग्भूतसहकारिकारणेन प्रयोजनं नास्ति तर्हि सर्वद्रव्याणां साधारणगतिस्थित्यवगाहनविषये धर्माधर्माकाशद्रव्यैरपि सहकारिकारणभूतैः प्रयोजनं नास्ति । किञ्च कालस्य घटिकादिवसादिकार्यं प्रत्यक्षेण दृश्यते धर्मादीनां पुनरागमकथनमेव। प्रत्यक्षेण किमपि कार्यं न दृश्यते ततस्तेषामपि कालद्रव्यस्येवाभावः प्राप्नोति । ततश्च जीवपुद्गलद्रव्यद्वयमेव । स चागमविरोधः । किञ्च सर्वद्रव्याणां परिणतिसहकारित्वं कालस्यैव गुणः, घ्राणेन्द्रियस्य रसास्वादनमिवान्यद्रव्यस्य गुणोऽन्यद्रव्यस्य कर्त्तुं नायाति द्रव्यसंकरदोषप्रसंगादिति । कश्चिदाह—यावत्कालेनैकाकाशप्रदेशं परमाणुरतिक्रामति ततस्तावत्कालेन समयो भवतीत्युक्तमागमे एकसमयेन चतुर्दशरज्जुगमने यावंत आकाशप्रदेशास्तावन्तः समया प्राप्नुवन्ति । परिहारमाह—एकाकाशप्रदेशातिक्रमेण यत्समयव्याख्यानं कृतं तन्मन्दगत्यपेक्षया, यत्पुनरेकसमये चतुर्दशरज्जुगमनव्याख्यानं तत्पुनः शीघ्रगत्यपेक्षया। तेन कारणेन चतुर्दशरज्जुगमनेऽप्येकसमयः । तत्र दृष्टान्तः—कोऽपि देवदत्तो योजनशतं मन्दगत्या दिनशतेन गच्छति । स एव विद्याप्रभावेण शीघ्रगत्या दिनेनैकेनापि गच्छति तत्र किं दिनशतं भवति । किन्त्वेक एव दिवसः । तथा चतुर्दशरज्जुगमनेऽपि शीघ्रगमनेनैक एव समयः । किञ्च स्वयं विषयानुभवरहितोऽप्ययं जीवः परकीयविषयानुभवं दृष्टं श्रुतं च मनसि स्मृत्वा यद्विषयाभिलाषं करोति तदपध्यानं भण्यते तत्प्रभृतिसमस्तविकल्पजालरहितं स्वसंवित्तिसमुत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखरसास्वादसहितं यत्तद्वीतरागचारित्रं भवति । यत्पुनस्तदविनाभूतं तन्निश्चयसम्यक्त्वं चेति भण्यते । तदेव कालत्रयेऽपि मुक्तिकारणम् । कालस्तु तदभावे सहकारिकारणमपि न

भवति ततः स हेय इति। तथाचोक्तं "किं पल्लविएण वहुणा जे सिद्धा णरवरा गए काले। सिद्धिहंहि जेवि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं १" इदमत्र तात्पर्य—कालद्रव्यमन्यद्वा परमागमाविरोधेन विचारणीयं परं किन्तु वीतरागसर्वज्ञवचनं प्रमाणमिति मनसि निश्चित्य विवादो न कर्त्तव्यः। कस्मादिति चेत्–विवादे रागद्वेषौ भवतस्ततश्च संसारवृद्धिरिति ॥२२॥

व्याख्यार्थः—"लोयायासपदेसे इक्किके जे ठिया हु इक्केक्का" एक एक लोकाकाशके प्रदेशोंमें जो एक एक संख्यायुक्त स्पष्ट रूपसे स्थित हैं। किसकीसी तरह "रयणाणं रासी इव" परस्पर अभेदको त्याग कर रत्नोंकी राशिके सदृश अर्थात् रत्नराशिकी भांति भिन्न २ स्थित हैं। "ते कालणू" वे कालाणु हैं। कितनी संख्याके धारक हैं? "असंखदव्वाणि" लोकाकाश परिमाण असंख्यात द्रव्य हैं। अब द्रव्यसिद्धिमें प्रमाण कहते हैं। जैसे जिस क्षणमें अंगुलिरूप द्रव्यके वक्र (वांके) पर्यायकी उत्पत्ति होती है उसी क्षणमें उसके सरल पर्यायका नाश होता है और अंगुली रूपसे उस अंगुलीमें ध्रौव्य है. इस रीतिसे उत्पत्ति, नाश तथा ध्रौव्य इन तीनों लक्षणोंसे युक्त होनेसे द्रव्यसिद्धि होगई। और भी जैसे केवल ज्ञान आदिकी व्यक्ति (प्रकटता)रूपसे कार्य समयसारका अर्थात् केवल ज्ञानादि रूपसे परिणत आत्माका उत्पाद होता है उसी समय निर्विकल्प ध्यानरूप जो कारण समयसार है उसका नाश होता है और उन दोनोंका आधारभूत जो परमात्मा द्रव्य है उस रूपसे ध्रौव्य है, इस रीतिसे भी द्रव्यकी सिद्धि है। उसी प्रकार कालाणुके भी जो मन्द गतिमें परिणत पुद्गल परमाणु द्वारा प्रकट किये हुए और कालाणुरूप उपादान कारणसे उत्पन्न हुए ऐसे वर्त्तमान समयका उत्पाद है वही अतीत (गये हुए) समयकी अपेक्षा उसका विनाश है और उन वर्त्तमान तथा अतीत दोनों समयोंका आधारभूत कालद्रव्यपनेसे ध्रौव्य है। ऐसे उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यरूप लक्षणके धारक काल द्रव्यकी सिद्धि है। शंका—"लोकके बाह्य भागमें कालाणु द्रव्यके अभावसे अलोकाकाशमें परिमाण कैसे हो सकता है?" यदि ऐसा कहो तो उत्तर यह है कि आकाश अखंड द्रव्य है इसलिये जैसे चाकके एक देशमें विद्यमान दंडकी प्रेरणासे संपूर्ण कुंभकारके चाकका परिभ्रमण हो जाता है, उस तरहसे अथवा जैसे एक देशमें प्रिय ऐसे स्पर्शन इन्द्रियके विषयका अनुभव करनेसे समस्त शरीरमें सुखका अनुभव होता है उस प्रकार लोकके मध्यमें स्थित जो कालाणु द्रव्यको धारण करनेवाला एकदेश आकाश है उससे भी सर्व आकाशमें परिणमन होता है। शंका—जैसे कालद्रव्य जीव, पुद्गल आदि द्रव्योंके परिणमनमें सहकारी कारण है वैसेही कालद्रव्यके परिणमनमें सहकारी कारण कौन है?। उत्तर—जैसे आकाश द्रव्य संपूर्ण द्रव्योंका आधार है और अपना आधार भी आपही है, इसी प्रकार काल द्रव्य भी अन्य सब द्रव्योंके परिणमनमें और अपने परिणमनमें भी सहकारी कारण है। अब कदाचित् कहो कि जैसे कालद्रव्य अपना तो उपादान कारण है और परिणमनका सहकारी कारण है, वैसेही जीव आदि

सब द्रव्योंको अपने उपादान कारण और परिणतिके सहकारी कारण मानो। इन जीव आदिके परिणमनमें कालद्रव्यसे क्या प्रयोजन है? । समाधान—ऐसा नहीं। क्योंकि, यदि अपनेसे भिन्न बहिरंग सहकारी कारणसे प्रयोजन नहीं है तो सब द्रव्योंमें साधारण रूप (समानता)-से विद्यमान जो गति, स्थिति, तथा अवगाहन हैं उनके विषयमें सहकारी कारणभूत जो धर्म, अधर्म तथा आकाश द्रव्य हैं उनसे भी कोई प्रयोजन नहीं है। और भी, कालका तो घटिका (घड़ी) दिन आदि कार्य प्रत्यक्षसे देख पड़ता है और धर्म द्रव्य आदिका कार्य तो केवल आगम (शास्त्र)के कथनसे ही माना जाता है; उनका कोई कार्य प्रत्यक्षसे नहीं देख पड़ता। इसलिये, जैसे कालद्रव्यका अभाव मानते हो उसी प्रकार उन धर्म, अधर्म तथा आकाश द्रव्योंका भी अभाव अवश्य प्राप्त होता है। और जब इन काल आदि चारोंका अभाव मानलोगे तो जीव तथा पुद्गल ये दोही द्रव्य रह जायँगे। और दो द्रव्योंके माननेपर आगमसे विरोध होगा। और सब द्रव्योंके परिणमनमें सहकारी होना यह केवल काल द्रव्यका ही गुण है। जैसे घ्राण इंद्रिय (नासिका)से रसका आस्वाद नहीं हो सकता, ऐसे ही अन्य द्रव्यका गुण भी अन्य द्रव्यके करनेमें नहीं आता। क्योंकि, ऐसा माननेसे द्रव्यसंकर दोषका प्रसंग होगा (अर्थात् अन्य द्रव्यका लक्षण अन्य द्रव्यमें चला जायगा, जो कि सर्वथा अनुचित है)। अब यहां कोई कहता है कि जितने कालमें एक आकाशके प्रदेशको परमाणु अतिक्रमण करता है अर्थात् एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें गमन करता है उतने कालका नाम समय होता है यह शास्त्रमें कहा है. और इस हिसाबसे चौदह रज्जु गमन करनेमें जितने आकाशके प्रदेश हैं उतने समय ही लगने चाहिये; परन्तु शास्त्रमें यह भी कहा है कि पुद्गल परमाणु एक समयमें चौदह रज्जु पर्यन्त गमन करता है सो यह कथन कैसे संभव हो सकता है? । इसका खंडन कहते हैं कि आगममें जो परमाणुका एक समयमें एक आकाशके प्रदेशमें गमन करना कहा है सो तो मन्द गमनकी अपेक्षासे है. और जो परमाणुका एक समयमें चौदह रज्जुका गमन कहा है वह शीघ्र गमनकी अपेक्षासे है. इस कारण परमाणुको शीघ्रगतिसे चौदह रज्जु प्रमाण गमन करनेमें भी एकही समय लगता है। इस विषयमें दृष्टान्त यह है कि जैसे जो देवदत्त मन्द गमन (धीरी चाल)से सौ योजन सौ दिनमें जाता है, वही देवदत्त विद्याके प्रभावसे शीघ्र गमन आदि करके १०० सौ योजन एक दिनमें भी जाता है तो क्या उस देवदत्तको शीघ्रगतिसे सौ योजन गमन करनेमें सौ दिन लगेंगे? किन्तु एक ही दिन लगेगा। इसी प्रकार शीघ्र गतिसे चौदह रज्जु गमन करनेमें भी परमाणुको एकही समय लगता है। और भी यहां विशेष जानने योग्य है कि, यह जीव स्वयं (निज स्वभावसे) विषयोंके अनुभवसे रहित है तथापि अन्यके देखे हुए अथवा सुने हुए विषयके अनुभवको मनमें स्मरण करके जो विषयोंकी इच्छा करता है उसको अपध्यान (बुरा ध्यान) कहते हैं। उस विषयकी अभिलाषाको आदि ले,

संपूर्ण विकल्पोंका जो समूह है उससे रहित और आत्मज्ञानसे उत्पन्न स्वाभाविक आनंदरूप सुखके रसके आस्वादसे सहित जो है वह वीतराग चारित्र है। और जो उस वीतराग चारित्रसे व्याप्त है वह निश्चय सम्यक्त्व तथा वीतराग सम्यक्त्व कहलाता है। वह निश्चय सम्यक्त्व ही भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान इन तीनों कालोंमें मुक्तिका कारण है। और काल तो उस निश्चय सम्यक्त्वके अभावमें सहकारी कारण भी नहीं होता है, इस कारण वह कालद्रव्य हेय (त्याग करने योग्य) है। सो ही कहा है कि "बहुत कथनसे क्या प्रयोजन है? जो श्रेष्ठ मनुष्य भूत कालमें सिद्ध हुए हैं तथा अब होंगे, वह सब सम्यक्त्वका माहात्म्य है"। अब यहां तात्पर्य यह है कि कालद्रव्यके तथा अन्य द्रव्योंके विषयमें जो कुछ विचारना हो वह सब परम आगमके अविरोधसे ही विचारना चाहिये और "वीतराग सर्वज्ञका वचन प्रमाण है" ऐसा मनमें निश्चय करके उनके कथनमें विवाद नहीं करना चाहिये। क्योंकि, विवादमें राग तथा द्वेष उत्पन्न होते हैं और उन रागद्वेषोंसे संसारकी वृद्धि होती है ॥ २२ ॥

ऐसे कालद्रव्यके व्याख्यानकी मुख्यतासे पंचम स्थलमें दो सूत्र समाप्त हुए। और उक्त रीतिसे आठ गाथाओंके समुदायसे पांच स्थलोंसे पुद्गल आदि पांच प्रकारके अजीव द्रव्यके निरूपण रूपसे दूसरा अन्तर अधिकार समाप्त हुआ ॥

अतःपरं सूत्रपञ्चकपर्यन्तं पञ्चास्तिकायव्याख्यानं करोति। तत्रादौ गाथापूर्वार्द्धेन षड्द्रव्यव्याख्यानोपसंहार उत्तरार्धेन तु पञ्चास्तिकायव्याख्यानप्रारम्भः कथ्यते।

अब इसके पश्चात् पांच सूत्र पर्यन्त पंचास्तिकायका व्याख्यान करते हैं। और उनमें भी प्रथम गाथाके पूर्वार्धसे छहों द्रव्योंके व्याख्यानका उपसंहार और उत्तरार्धसे पंचास्तिकायके व्याख्यानका आरंभ कहते हैं।

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं।
उत्तं कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु ॥ २३ ॥

गाथाभावार्थः—इस प्रकार एक जीव द्रव्य और पांच अजीव द्रव्य ऐसे छह प्रकारके द्रव्यका निरूपण किया। इन छहों द्रव्योंमेंसे एक कालके विना शेष पांच अस्तिकाय जानने चाहिये ॥ २३ ॥

व्याख्या। "एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं उत्तं" एवं पूर्वोक्तप्रकारेण षड्भेदमिदं जीवाजीवप्रभेदतः सकाशाद्द्रव्यमुक्तं कथितं प्रतिपादितम्। "कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु" तदेव षड्विधं द्रव्यं कालेन वियुक्तं रहितं ज्ञातव्याः पञ्चास्तिकायास्तु पुनरिति ॥

व्याख्यार्थः—"एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं उत्तं" ऐसे पूर्वोक्त प्रकारसे जीव तथा अजीवके भेदसे यह द्रव्य छह प्रकारका कहा गया। "कालविजुत्तं

णादव्वा पंच अत्थिकाया दु" और कालरहित वही छह प्रकारका द्रव्य अर्थात् कालके विना शेष पांच द्रव्योंको पांच अस्तिकाय समझना चाहिये ॥ २३ ॥

पञ्चेति संख्या ज्ञाता तावदिदानीमस्तित्वं कायत्वं च निरूपयति।

अब अस्तिकायसंबन्धिनी पांच यह संख्या तो जानी हुई है ही, इसलिये अस्तित्व तथा कायत्वका निरूपण करते हैं।

संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा जह्मा।
काया इव बहुदेसा तह्माया काय अत्थिकाया य ॥ २४ ॥

गाथाभावार्थः—पूर्वोक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश ये पांचों द्रव्य विद्यमान हैं इसलिये जिनेश्वर इनको 'अस्ति' (है) ऐसा कहते हैं और ये कायके समान बहु प्रदेशोंको धारण करते हैं इसलिये इनको 'काय' कहते हैं। अस्ति तथा काय दोनोंको मिलानेसे ये पांचो 'अस्तिकाय' होते हैं ॥ २४ ॥

व्याख्या। "संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा" सन्ति विद्यन्ते यत एते जीवाद्याकाशपर्यन्ताः पञ्च तेन कारणेनैतेऽस्तीति भणन्ति जिनवराः सर्वज्ञाः। "जह्मा काया इव बहुदेसा तह्मा काया य" यस्मात्काया इव बहुप्रदेशास्तस्मात्कारणात्कायाश्च भणंति जिनवराः। "अत्थिकाया य" एवं न केवलं पूर्वोक्तप्रकारेणास्तित्वेन युक्ता अस्तिसंज्ञास्तथैव कायत्वेन युक्ताः कायसंज्ञा भवन्ति किन्तूभयमेलापकेनास्तिकायसंज्ञाश्च भवन्ति ॥ इदानीं संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽप्यस्तित्वेन सहाभेदं दर्शयति। तथाहि शुद्धजीवास्तिकाये सिद्धत्वलक्षणः शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायः, केवलज्ञानादयो विशेषगुणाः अस्तित्ववस्तुत्वागुरुलघुत्वादयः सामान्यगुणाश्च। तथैवाव्यावाधानन्तसुखाद्यनन्तगुणव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादो रागादिविभावरहितपरमस्वास्थ्यरूपस्य कारणसमयसारस्य व्ययस्तदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमित्युक्तलक्षणैर्गुणपर्यायैरुत्पादव्ययध्रौव्यैश्च सह मुक्तावस्थायां संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि सत्तारूपेण प्रदेशरूपेण च भेदो नास्ति। कस्मादिति चेत्—मुक्तात्मसत्तायां गुणपर्यायाणामुत्पादव्ययध्रौव्याणां चास्तित्वं सिद्ध्यति, गुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यसत्तायाश्च मुक्तात्मास्तित्वं सिद्ध्यतीति परस्परसाधितसिद्धत्वादिति। कायत्वं कथ्यते—बहुप्रदेशप्रचयं दृष्ट्वा यथा शरीरं कायो भण्यते तथानन्तज्ञानादिगुणाधारभूतानां लोकाकाशप्रमितासंख्येयशुद्धप्रदेशानां प्रचयं समूहं संघातं मेलापकं दृष्ट्वा मुक्तात्मनि कायत्वं भण्यते। यथा शुद्धगुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यैः सह मुक्तात्मनः सत्तारूपेण निश्चयेनाभेदो दर्शितस्तथा यथासंभवं संसारिजीवेषु पुद्गलधर्माधर्माकाशकालेषु च द्रष्टव्यः। कालद्रव्यं विहाय कायत्वं चेति सूत्रार्थः ॥ २४ ॥

व्याख्यार्थः—"संति जदो तेणेदे अत्थिति भणंति जिणवरा" जीवसे आदि लेके आकाश पर्यन्त ये पूर्वोक्त पांच द्रव्य विद्यमान हैं इसलिये सर्वज्ञ देव इनको "अस्ति" (है) ऐसा कहते हैं। "जह्मा काया इव बहुदेसा तह्मा काया य" और काय अर्थात्

शरीरके सदृश ये बहुत प्रदेशोंके धारक हैं इस कारणसे जिनेश्वर इनको 'काय' कहते हैं। "अत्थिकाया य" पूर्वोक्त प्रकार अस्तित्वसे युक्त ये पांचो केवल अस्तिसंज्ञक ही नहीं हैं, तथा कायत्वसे युक्त केवल काय संज्ञाके धारक ही नहीं हैं; किन्तु अस्ति और काय इन दोनोंको मिलानेसे "अस्तिकाय" संज्ञाके धारक होते हैं। अब इन पांचोंके संज्ञा, लक्षण, तथा प्रयोजन आदिसे यद्यपि परस्पर भेद है तथापि अस्तित्वके साथ अभेद है यह दर्शाते हैं:—जैसे शुद्ध जीवास्तिकायमें सिद्धत्व लक्षण शुद्ध द्रव्य व्यञ्जन पर्याय है, केवल ज्ञान आदि विशेष गुण हैं, तथा अस्तित्व, वस्तुत्व और अगुरु—लघुत्व आदि सामान्य गुण हैं. और जैसे मुक्तिदशामें अव्याबाध अर्थात् बाधारहित अनन्त सुख आदि अनन्त गुणोंकी व्यक्ति (प्रकटता)रूप कार्यसमयसारका उत्पाद, राग आदि विभावोंसे शून्य परम स्वास्थ्य स्वरूप कारण समयसारका व्यय (नाश), और इन दोनोंके अर्थात् उत्पाद तथा व्ययके आधारभूत परमात्मारूप जो द्रव्य है उस रूपसे ध्रौव्य (स्थिरत्व) है। इस प्रकार पूर्व-कथित लक्षणयुक्त गुण तथा पर्यायोंसे और उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यके साथ मुक्त अवस्थामें संज्ञा, लक्षण तथा प्रयोजन आदिका भेद होनेपर भी सत्तारूपसे और प्रदेशरूपसे किसीका किसीके साथ भेद नहीं है। क्योंकि, जीवोंकी मुक्तिअवस्थामें गुण, द्रव्य तथा पर्यायोंकी और उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यरूप लक्षणोंकी विद्यमानता (सत्ता) सिद्ध होती है और गुण, पर्याय, उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यकी सत्ताके अस्तित्वको मुक्त आत्मा जो है वह सिद्ध करता है। इस प्रकार गुण पर्याय आदि मुक्त आत्माकी और मुक्त आत्मा गुण पर्यायकी सत्ताको परस्पर सिद्ध करते हैं। अब इनके कायत्वका निरूपण करते हैं,—बहुतसे प्रदेशोंमें व्याप्त होके स्थितिको देखके जैसे शरीरको कायत्व कहते हैं अर्थात् जैसे शरीरमें अधिक प्रदेश होनेसे शरीरको काय कहते हैं; उसी प्रकार अनंत ज्ञान आदि गुणोंके आधारभूत जो लोकाकाशके प्रमाण असंख्यात शुद्ध प्रदेश हैं उनके समूह, संघात अथवा मेलको देखके, मुक्त जीवमें भी कायत्वका व्यवहार अथवा कथन होता है। जैसे शुद्ध गुण, पर्यायोंसे तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षणसे सहित रहनेवाले मुक्त आत्माके निश्चय नयसे सत्तारूपसे अभेद दर्शाया गया है, ऐसेही संसारी जीवोंमें तथा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्योंमें भी यथासंभव परस्पर अभेद देख लेना चाहिये। और कालद्रव्यको छोड़के अन्य सब द्रव्योंके कायत्व रूपसे भी अभेद है। इस प्रकार सूत्रका अर्थ है॥ २४॥

अथ कायत्वव्याख्याने पूर्वं यत्प्रदेशास्तित्वं सूचितं तस्य विशेषव्याख्यानं करोतीत्येका पातनिका, द्वितीया तु कस्य द्रव्यस्य कियन्तः प्रदेशा भवन्तीति प्रतिपादयति।

अब कायत्वके व्याख्यानमें जो पहले प्रदेशोंका अस्तित्व सूचन किया है उसका विशेष

व्याख्यान करते हैं यह तो अग्रिम गाथाकी एक भूमिका है, और फिर द्रव्यके कितने प्रदेश हैं यह दूसरी भूमिका प्रतिपादन करती है।

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे।
मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ॥ २५॥

गाथाभावार्थः—जीव, धर्म तथा अधर्म द्रव्यमें असंख्यात प्रदेश हैं और आकाशमें अनन्त हैं। मूर्त्त (पुद्गल)में संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेश हैं और कालके एकही प्रदेश है इसलिये काल काय नहीं है॥ २५॥

व्याख्या। "होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे" भवन्ति लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशाः प्रदीपवदुपसंहारविस्तारयुक्तेऽप्येकजीवे, नित्यं स्वभावविस्तीर्णयोर्धर्माधर्मयोरपि। "अणंत आयासे" अनन्तप्रदेशा आकाशे भवन्ति। "मुत्ते तिविह पदेसा" मूर्त्ते पुद्गलद्रव्ये संख्याता-संख्यातानन्ताणूनां पिण्डाः स्कन्धास्त एव त्रिविधाः प्रदेशा भण्यन्ते न च क्षेत्रप्रदेशाः। कस्मात् पुद्गलस्यानन्तप्रदेशक्षेत्रेऽवस्थानाभावादिति। "कालस्सेगो" कालाणुद्रव्यस्यैक एव प्रदेशः। "ण तेण सो काओ" तेन कारणेन स कायो न भवति। कायस्यैकप्रदेशत्वविषये युक्तिं प्रदर्शयति। तद्यथा—किञ्चिदूनचरमशरीरप्रमाणस्य सिद्धत्वपर्यायस्योपादानकारणभूतं शुद्धात्मद्रव्यं तत्पर्यायप्रमाणमेव। यथा वा मनुष्यदेवादिपर्यायोपादानकारणभूतं संसारिजीवद्रव्यं तत्पर्यायप्रमाणमेव, तथा कालद्रव्यमपि समयरूपस्य कालपर्यायस्य विभागेनोपादानकारणभूतमविभाग्येकप्रदेश एव भवति। अथवा मन्दगत्या गच्छतः पुद्गलपरमाणोरेकाकाशप्रदेशपर्यन्तमेव कालद्रव्यं गतेः सहकारिकारणं भवति ततो ज्ञायते तदप्येकप्रदेशमेव। कश्चिदाह—पुद्गलपरमाणोर्गतिसहकारिकारणं धर्मद्रव्यं तिष्ठति, कालस्य किमायातम्। नैवं वक्तव्यं—धर्मद्रव्ये गतिसहकारिकारणे विद्यमानेऽपि मत्स्यानां जलवन्मनुष्याणां शकटारोहणादिवत्सहकारिकारणानि बहून्यपि भवन्तीति। अथ मतं कालद्रव्यं पुद्गलानां गतिसहकारिकारणं कुत्र भणितमास्ते। तदुच्यते। "पुग्गलकारण जीवा खंधा खलु कालकारणदु" इत्युक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पञ्चास्तिकायप्राभृते। अस्यार्थः कथ्यते। धर्मद्रव्ये विद्यमानेऽपि जीवानां कर्मनोकर्मपुद्गला गतेः सहकारिकारणं भवन्ति, अणुस्कन्धभेदभिन्नपुद्गलानां तु कालद्रव्यमित्यर्थः॥ २५॥

व्याख्यार्थः—"होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे" प्रदीपके समान संकोच तथा विस्तारसे युक्त एक जीवमें भी और सदा स्वभावसे विस्तारको प्राप्त हुए धर्म तथा अधर्म इन दोनों द्रव्योंमें भी लोकाकाशके प्रमाण असंख्यात प्रदेश होते हैं। "अणंत आयासे" आकाशमें अनन्त प्रदेश होते हैं। "मुत्ते तिविह पदेसा" मूर्त्त अर्थात् पुद्गल द्रव्यमें जो संख्यात असंख्यात तथा अनन्त परमाणुओंके पिण्ड अर्थात् स्कन्ध हैं वे ही तीन प्रकारके प्रदेश कहे जाते हैं, न कि क्षेत्ररूप प्रदेश तीनप्रकारके हैं। क्योंकि, पुद्गलके अनन्त प्रदेश क्षेत्रमें स्थितिका अभाव है। "कालस्सेगो" कालद्रव्यका एकही प्रदेश है। "ण तेण सो

काओ" इसी हेतुसे अर्थात् एक प्रदेशी होनेसे वह कालद्रव्य काय नहीं है। अब कालके एक प्रदेशी होनेमें युक्ति कहते हैं। जैसे—अन्तिम शरीरसे किंचित् न्यून प्रमाणके धारक सिद्धत्व पर्यायका उपादान कारणभूत जो शुद्ध आत्मा द्रव्य है वह सिद्धत्व पर्यायके प्रमाण ही है। अथवा जैसे मनुष्य, देव आदि पर्यायोंका उपादान कारणभूत जो संसारी जीव द्रव्य है वह उस मनुष्य, देव आदि पर्यायके प्रमाण ही है, उसी प्रकार कालद्रव्य भी समयरूप जो कालका पर्याय है उसका विभागसे उपादान कारण है तथा अविभागसे एक प्रदेशही होता है। अथवा मन्द गतिसे गमन करते हुए पुद्गल परमाणुके एक आकाशके प्रदेश पर्यन्त ही कालद्रव्य गतिका सहकारी कारण होता है, इस कारण जाना जाता है कि वह काल द्रव्य भी एक ही प्रदेशका धारक है। अब यहां कोई कहता है कि पुद्गल—परमाणुकी गतिमें सहकारी कारण तो धर्म द्रव्य विद्यमान है ही, इसमें कालद्रव्यका क्या प्रयोजन है?। सो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि, धर्म द्रव्यके विद्यमान रहते भी मत्स्योंकी गतिमें जलके समान तथा मनुष्योंकी गतिमें गाड़ीपर बैठना आदिके समान पुद्गलकी गतिमें बहुतसे भी सहकारी कारण होते हैं। अब कदाचित् कहो कि "कालद्रव्य पुद्गलोंकी गतिमें सहकारी कारण है" यह कहां कहा हुआ है? सो कहते हैं। श्रीकुन्दकुन्द आचार्य देवने पंचास्तिकाय नामक प्राभृतमें **"पुग्गल कारण जीवा खंधा खलु काल कारणदु"** ऐसा कहा है। इसका अर्थ कहते हैं कि धर्म द्रव्यके विद्यमान होते भी जीवोंकी गतिमें कर्म, नोकर्म पुद्गल सहकारी कारण होते हैं और अणु तथा स्कन्ध इन भेदोंसे भेदको प्राप्त हुए पुद्गलोंके गमनमें कालद्रव्य सहकारी कारण होता है। यह गाथाका अर्थ है॥ २५॥

अथैकप्रदेशस्यापि पुद्गलपरमाणोरुपचारेण कायत्वमुपदिशति।

अब पुद्गल परमाणु यद्यपि एक प्रदेशी है तथापि उपचारसे उसको काय कहते हैं ऐसा उपदेश करते हैं।

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसा उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु॥ २६॥

गाथाभावार्थः—एक प्रदेशका धारक भी परमाणु अनेक स्कन्धरूप बहुत प्रदेशोंसे बहु प्रदेशी होता है इस कारण सर्वज्ञ देव उपचारसे पुद्गल परमाणुको काय कहते हैं।२६।

व्याख्या—"एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि बहुदेसो" एकप्रदेशोऽपि पुद्गलपरमाणुर्नानास्कन्धरूपबहुप्रदेशतः सकाशाद्बहुप्रदेशो भवति। "उवयारा" उपचाराद् व्यवहारनयात् "तेण य काओ भणंति सव्वण्हु" तेन कारणेन कायमिति सर्वज्ञा भणन्तीति। तथाहि-यथायं परमात्मा शुद्धनिश्चयनयेन द्रव्यरूपेण शुद्धस्तथैकोऽप्यनादिकर्मबन्धवशात्स्निग्धरूक्षस्थानीयरागद्वेषाभ्यां परिणम्य नरनारकादिविभावपर्यायरूपेण व्यवहारेण बहुविधो

भवति । तथा पुद्गलपरमाणुरपि स्वभावेनैकोऽपि शुद्धोऽपि रागद्वेषस्थानीयबन्धयोग्यस्निग्धरूक्षगुणाभ्यां परिणम्य द्व्यणुकादिस्कन्धरूपविभावपर्यायैर्बहुविधो बहुप्रदेशो भवति तेन कारणेन बहुप्रदेशलक्षणकायत्वकारणत्वादुपचारेण कायो भण्यते । अथ मतं–यथा—पुद्गलपरमाणोर्द्रव्यरूपेणैकस्यापि द्व्यणुकादिस्कन्धपर्यायरूपेण बहुप्रदेशरूपं कायत्वं जातं तथा कालाणोरपि द्रव्येणैकस्यापि पर्यायेण कायत्वं भवतीति । तत्र परिहारः—स्निग्धरूक्षहेतुकस्य बन्धस्याभावान्न भवति । तदपि कस्मात् । स्निग्धरूक्षत्वं पुद्गलस्यैव धर्मो यतः कारणादिति । अणुत्वं पुद्गलसंज्ञा, कालस्याणुसंज्ञा कथमिति चेत् तत्रोत्तरम्—अणुशब्देन व्यवहारेण पुद्गला उच्यन्ते निश्चयेन तु वर्णादिगुणानां पूरणगलनयोगात्पुद्गला इति वस्तुवृत्त्या पुनरणुशब्दः सूक्ष्मवाचकः । तद्यथा परमेण प्रकर्षेणाणुः अणुकोऽर्थः सूक्ष्म इति व्युत्पत्त्या परमाणुः । स च सूक्ष्मवाचकोऽणुशब्दो निर्विभागपुद्गलविवक्षायां पुद्गलाणुं वदिति । अविभागिकालद्रव्यविवक्षायां तु कालाणुं कथयतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थः—"एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि बहुदेसो" यद्यपि पुद्गल परमाणु एक प्रदेशी है तथापि नानाप्रकारके व्यणुक आदि स्कन्धरूप बहुत प्रदेशोंके कारण बहु प्रदेशी होता है । "उवयारा" उपचार अर्थात् व्यवहार नयसे । "तेण य काओ भणंति सव्वण्हु" इसी हेतुसे सर्वज्ञ जिन देव उसको (पुद्गल परमाणुको) काय कहते हैं । सोही पुष्ट करते हैं कि जैसे यह परमात्मा शुद्ध निश्चयनयसे द्रव्यरूपसे शुद्ध तथा एक है तथापि अनादिकर्मबन्धनके वशसे स्निग्ध तथा रूक्ष गुणोंके स्थानापन्न (एवज) जो राग और द्वेष हैं उनसे परिणामको प्राप्त होकर, व्यवहारनयके द्वारा मनुष्य, नारक आदि विभाव पर्यायरूपसे अनेक प्रकारका होता है; ऐसे ही पुद्गल परमाणु भी यद्यपि स्वभावसे एक और शुद्ध है तथापि राग द्वेषके स्थानभूत जो बंधके योग्य स्निग्ध, रूक्ष गुण हैं उनसे परिणमनको प्राप्त होके व्यणुक आदि स्कन्धरूप जो विभाव पर्याय हैं उनसे अनेक प्रदेशोंका धारक होता है । इसी हेतुसे बहु प्रदेशतारूप कायत्वके कारणसे पुद्गल परमाणुको सर्वज्ञ देव उपचारसे काय कहते हैं । अब यहांपर यदि ऐसा किसीका मत हो कि जैसे द्रव्यरूपसे एक भी पुद्गल परमाणुके व्यणुक आदि स्कन्ध पर्यायरूपसे बहु प्रदेशरूप कायत्व सिद्ध हुआ है ऐसेही द्रव्यरूपसे एक होनेपर भी कालाणुके समय, घटिका आदि पर्यायोंसे कायत्व सिद्ध होता है । इस शंकाका परिहार करते हैं कि स्निग्ध रूक्ष गुण हैं कारण जिसमें ऐसे बंधका कालद्रव्यमें अभाव है इस कारण वह काय नहीं हो सकता । सो भी क्यों ? । कि स्निग्ध तथा रूक्षपना जो है सो पुद्गलका ही धर्म है इसलिये कालमें स्निग्ध रूक्षत्व हैं नहीं और उनके विना बंध नहीं होता और बंधके विना कालमें कायत्व नहीं सिद्ध होता । कदाचित् कहो कि अणु यह पुद्गलकी संज्ञा है । कालका अणु संज्ञा कैसे हुई? तो इसका उत्तर सुनो—"अणु" इस शब्दसे व्यवहारसे पुद्गल कहे जाते हैं और निश्चयसे तो वर्ण आदि गुणोंके पूरण तथा गलनके संबंधसे पुद्गल कहे जाते हैं;

और यथार्थमें तो अणु शब्द सूक्ष्मका वाचक है जैसे परम अर्थात् प्रकर्ष (अधिकतासे)से जो अणु हो सो परमाणु है। इस व्युत्पत्तिसे परमाणु शब्द जो है वह अति सूक्ष्म पदार्थको कहनेवाला है। और वह सूक्ष्म वाचक अणु शब्द निर्विभाग पुद्गलकी विवक्षामें तो पुद्गल अणुको कहता है और अविभागि (विभागरहित) कालद्रव्यके कहनेकी जब इच्छा होती है तब कालाणुको कहता है ॥ २६ ॥

अथ प्रदेशलक्षणमुपलक्षयति ।

अब प्रदेशका लक्षण दिखाते हैं ।

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणु उट्ठद्धं ।
तंखु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥ २७ ॥

गाथाभावार्थः—जितना आकाश अविभागी पुद्गलाणुसे रोका जाता है उसको सर्व परमाणुओंको स्थान देनेमें समर्थ प्रदेश जानो ॥ २७ ॥

व्याख्या । "जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणु उट्टद्धं तं खु पदेसं जाणो" यावत्प्रमाणमाकाशमविभागिपुद्गलपरमाणुना विष्टब्धं व्याप्तं तदाकाशं खु स्फुटं प्रदेशं जानीहि हे शिष्य। कथंभूतं "सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं" सर्वाणूनां सर्वपरमाणूनां सूक्ष्मस्कन्धानां च स्थानदानस्यावकाशदानस्यार्हं योग्यं समर्थमिति । यत एवेत्थंभूतावगाहनशक्तिरस्याकाशस्य तत एवासंख्यातप्रदेशेऽपि लोके अनन्तानन्तजीवास्तेभ्योऽप्यनन्तगुणपुद्गला अवकाशं लभन्ते। तथा चोक्तं जीवपुद्गलविषयेऽवकाशदानसामर्थ्यम् "एगणिगोदसरीरे जीवादव्वप्पमाणदो दिट्ठा। सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥ १ ॥ उग्गाढगाढणिचिदो पुग्गलकाए हि सव्वदो लोगो। सुहुमे हि बादरे हि य णंताणंतेहिं विविहेहिं । २ ।" अथ मतं मूर्त्तपुद्गलानां भेदो भवतु नास्ति विरोधः। अमूर्त्ताखण्डस्याकाशद्रव्यस्य कथं विभागकल्पनेति। तन्न। रागाद्युपाधिरहितस्वसंवेदनप्रत्यक्षभावनोत्पन्नसुखामृतरसास्वादतृप्तस्य मुनियुगलस्यावस्थानक्षेत्रमेकमनेकं वा। यद्येकं तर्हि द्वयोरेकत्वं प्राप्नोति न च तथा। भिन्नं चेत्तदा निर्विभागद्रव्यस्यापि विभागकल्पनमायातं घटाकाशपटाकाशमित्यादिवदिति ॥ २७ ॥ एवं सूत्रपञ्चकेन पञ्चास्तिकायप्रतिपादकनामा तृतीयोऽन्तराधिकारः ॥

इति श्रीनेमिचन्द्रसैद्धान्तदेवविरचिते द्रव्यसङ्ग्रहग्रन्थे नमस्कारादिसप्तविंशतिगाथाभिरन्तराधिकारत्रयसमुदायेन षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादकनामा प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः ॥

व्याख्यार्थः—"जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणु उट्टद्धं तं खु पदेसं जाणो" हे शिष्य। जितना आकाश विभागरहित पुद्गलपरमाणुसे व्याप्त है उसको स्पष्ट रूपसे प्रदेश जानो। वह प्रदेश कैसा है कि "सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं" सब परमाणु और सूक्ष्म स्कन्धोंको अवकाश (स्थान) देनेके लिये समर्थ है। इस प्रकारकी अवगाहन शक्ति जो आकाशमें है इसी हेतुसे असंख्यात प्रदेश प्रमाण लोकाकाशमें अनन्तानन्त जीव तथा

उन जीवोंसे भी अनन्त गुणे पुद्गल अवकाशको प्राप्त होते हैं । सोही जीव तथा पुद्गलके विषयमें इसके अवकाश देनेका सामर्थ्य आगममें कहा है । "एक निगोद शरीरमें द्रव्य-प्रमाणसे सब भूतकालके सिद्धोंसे अनंत गुणे जीव दृष्ट हैं । १ । यह लोक सब तरफसे विविध तथा अनन्तानन्त सूक्ष्म और बादर पुद्गलकायोंद्वारा अतिसघनताके साथ भरा हुआ है । २ ।" अब कदाचित् ऐसा मत हो कि "मूर्तिमान् पुद्गलोंका तो अणु तथा द्व्यणुक स्कन्ध आदि विभाग हो, इसमें कुछ विरोध नहीं है; परन्तु अखंड तथा अमूर्त आकाश द्रव्यकी विभाग कल्पना कैसे हो सकती है?" सो नहीं । क्योंकि, राग आदि उपाधियोंसे रहित निज आत्मज्ञानकी प्रत्यक्ष भावनासे उत्पन्न जो सुखरूप अमृतरस है उसके आस्वादनसे तृप्त ऐसे मुनियुगल (दो मुनियों) के रहनेका स्थान एक है अथवा अनेक ? यदि दोनोंका निवासक्षेत्र एकही है तब तो दोनोंकी एकता हुई; परन्तु ऐसा नहीं है । और यदि भिन्न मानो तो घटके आकाश तथा पटके आकाशकी तरह विभागरहित द्रव्यकी भी विभागकल्पना सिद्ध हुई ॥ २७ ॥ ऐसे पांच सूत्रोंद्वारा पंच अस्तिकायोंका निरूपण करनेवाला तृतीय अन्तराधिकार समाप्त हुआ ॥

इति श्रीनेमिचन्द्रसैद्धान्तिदेवविरचितद्रव्यसंग्रहस्य श्रीब्रह्मदेवनिर्मितसंस्कृतटीकायाः जयपुरनिवासिशास्त्रीत्युपाधिधारकश्रीजवाहरलालदि० जैनप्रणीतभाषानुवादे नमस्कारादिसप्तविंशतिगाथाभिरन्तराधिकारत्रयसमुदायेन षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादकनामा प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

अतःपरं पूर्वोक्तषड्द्रव्याणां चूलिकारूपेण विस्तरव्याख्यानं क्रियते । तद्यथा—

अब इसके पश्चात् षट्द्रव्योंकी चूलिका (परिशिष्ट अथवा उपसंहार) रूपसे विशेष व्याख्यान करते हैं । सो इस प्रकार है—

गाथा । परिणामि-जीव-मुत्तं, सपदेसं एय-खेत्त-किरियाय ।
णिच्चं कारण-कत्ता, सव्वगदमिदरं हि यपवेसे ॥ १ ॥
दुण्णिय एयं एयं, पंच-त्तिय एय दुण्णि चउरो य ।[2]
पंच य एयं एयं, एदेसं एय उत्तरं णेयं ॥ युग्मम् ॥ २ ॥

गाथाभावार्थः—पूर्वोक्त षट् द्रव्योंमेंसे परिणामी द्रव्य जीव और पुद्गल ये दो हैं. चेतन

---

(१) यह गाथा यद्यपि संस्कृतटीकाकी प्रतियोंमें नहीं है, तथापि टीकाकारने इसका आशय ग्रहण किया है और जयचंद्रजीकृत द्रव्यसंग्रहकी वचनिका तथा मूल मुद्रित पुस्तकमें उपलब्ध होती है, अतः उपयोगी समझकर, यहां लिख दी गई है । (२) ये दोनो गाथायें अन्य ग्रन्थकी हैं इसलिये इनमें मूलक्रमप्राप्तसंख्या नहीं लगाई गई है ।

द्रव्य एक जीव है, मूर्तिमान् एक पुद्गल है, प्रदेशसहित जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश ये पांच द्रव्य हैं, एक संख्यावाले धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य हैं, क्षेत्रवान् एक आकाश द्रव्य है, क्रियासहित जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य हैं, नित्यद्रव्य, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चार हैं, कारण द्रव्य–पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश और काल ये पांच हैं, कर्त्ताद्रव्य–एक जीव है, सर्वगत (सर्वमें व्यापनेवाला) द्रव्य–एक आकाश है, और ये छहों द्रव्य प्रवेशरहित हैं अर्थात् एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यका प्रवेश नहीं होता है. ॥ २ ॥ यहां इन दोनों गाथाओंको मिलाके अर्थ कहा गया है ।

व्याख्या । " परिणामि " इत्यादिव्याख्यानं क्रियते। परिणामपरिणामिनौ जीवपुद्गलौ स्वभावविभावपर्यायाभ्यां कृत्वा, शेषचत्वारि द्रव्याणि विभावव्यञ्जनपर्यायाभावान्मुख्यवृत्त्या पुनरपरिणामीनीति । "जीव" शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं शुद्धचैतन्यं प्राणशब्देनोच्यते तेन जीवतीति जीवः । व्यवहारनयेन पुनः कर्मोदयजनितद्रव्यभावरूपैश्चतुर्भिः प्राणैर्जीवति, जीविष्यति, जीवितपूर्वो वा जीवः । पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणि पुनरजीवरूपाणि । " मुत्तं " शुद्धात्मनो विलक्षणस्पर्शरसगन्धवर्णवती मूर्त्तिरुच्यते, तत्सद्भावान्मूर्त्तः पुद्गलः । जीवद्रव्यं पुनरनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण मूर्त्तमपि शुद्धनिश्चयनयेनामूर्त्तम्, धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि चामूर्त्तानि । "सपदेसं" लोकमात्रप्रमितासंख्येयप्रदेशलक्षणं जीवद्रव्यमादिंकृत्वा पञ्चद्रव्याणि पञ्चास्तिकायसंज्ञानि सप्रदेशानि । कालद्रव्यं पुनर्बहुप्रदेशत्वलक्षणकायत्वाभावादप्रदेशम् । "एय" द्रव्यार्थिकनयेन धर्माधर्माकाशद्रव्याण्येकानि भवन्ति । जीवपुद्गलकालद्रव्याणि पुनरनेकानि भवन्ति । "खेत्त" सर्वद्रव्याणामवकाशदानसामर्थ्यात् क्षेत्रमाकाशमेकम्। शेषपञ्चद्रव्याण्यक्षेत्राणि । "किरियाय" क्षेत्रात्क्षेत्रान्तरगमनरूपा परिस्पन्दवती चलनवती क्रिया सा विद्यते ययोस्तौ क्रियावन्तौ जीवपुद्गलौ । धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि पुनर्निष्क्रियाणि । "णिचं" धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि यद्यप्यर्थपर्यायत्वेनानित्यानि, तथापि मुख्यवृत्त्या विभावव्यञ्जनपर्यायाभावान्नित्यानि, द्रव्यार्थिकनयेन च जीवपुद्गलद्रव्ये पुनर्यद्यपि द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्ये तथाप्यगुरुलघुपरिणतिस्वरूपस्वभावपर्यायापेक्षया विभावव्यञ्जनपर्यायापेक्षया चानित्ये। "कारण" पुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि व्यवहारनयेन जीवस्य शरीरवाङ्मनःप्राणापानादिगतिस्थित्यवगाहवर्त्तनाकार्याणि कुर्वन्तीति कारणानि भवन्ति । जीवद्रव्यं पुनर्यद्यपि गुरुशिष्यादिरूपेण परस्परोपग्रहं करोति तथापि पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणां किमपि न करोतीत्यकारणम् । "कत्ता" शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि बन्धमोक्षद्रव्यभावरूपपुण्यपापघटपटादीनामकर्त्ता जीवस्तथाप्यशुद्धनिश्चयेन शुभाशुभोपयोगाभ्यां परिणतः सन् पुण्यपापबन्धयोः कर्त्ता फलभोक्ता भवति । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजशुद्धात्मद्रव्यस्य सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण शुद्धोपयोगेन तु परिणतः सन् मोक्षस्यापि कर्त्ता तत्फलभोक्ता चेति । शुभाशुभशुद्धपरिणामानां परिणमनमेव कर्तृत्वं सर्वत्र ज्ञातव्यमिति । पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणां च स्वकीयस्वकीयपरिणामेन परिणमनमेव कर्तृत्वम् । वस्तुवृत्त्या पुनः पुण्यपापादिरूपेणाकर्तृत्वमेव । "सव्वगदं" लोकालोकव्याप्त्यपेक्षया सर्वगतमाकाशं भण्यते । लोक-

व्याप्त्यपेक्षया धर्माधर्मौं च । जीवद्रव्यं पुनरेकजीवापेक्षया लोकपूरणावस्थां विहायासर्वगतं, नानाजीवापेक्षया सर्वगतमेव भवति, पुद्गलद्रव्यं पुनर्लोकरूपमहास्कन्धापेक्षया सर्वगतं, शेषपुद्गलापेक्षया सर्वगतं न भवति, कालद्रव्यं पुनरेककालाणुद्रव्यापेक्षया सर्वगतं न भवति, लोकप्रदेशप्रमाणनानाकालाणुविवक्षया लोके सर्वगतं भवति । " इदरंहि यपवेसे " यद्यपि सर्वद्रव्याणि व्यवहारेणैकक्षेत्रावगाहेनान्योन्यप्रवेशेन तिष्ठन्ति तथापि निश्चयनयेन चेतनादिस्वकीयस्वरूपं न त्यजन्तीति ॥ अत्र षड्द्रव्येषु मध्ये वीतरागचिदानन्दैकादिगुणस्वभावं शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररहितं निजशुद्धात्मद्रव्यमेवोपादेयमिति भावार्थः ॥

व्याख्यार्थः—"परिणामि" इत्यादि गाथाका व्याख्यान करते हैं–स्वभाव तथा विभाव पर्यायोंकरके परिणामसे परिणामी जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य हैं । और शेष (वाकीके) चार द्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चार द्रव्य विभावव्यंजनपर्यायके अभावसे मुख्यतासे अपरिणामी हैं । "जीव" शुद्ध निश्चयनयसे निर्मल ज्ञान तथा दर्शन स्वभावका धारक जो शुद्ध चैतन्य है उसीको प्राण शब्दसे कहते हैं, उस शुद्ध चैतन्यरूप प्राणसे जो जीवता है वह जीव है; और व्यवहारनयसे कर्मोंके उदयसे उत्पन्न द्रव्य तथा भाव रूप चार प्रकारके जो इन्द्रिय, वल, आयु और श्वासोच्छ्वास नामक प्राण हैं; उनसे जो जीवता है, जीवैगा और पूर्वकालमें जीता था वह जीव है । सो एक है । और पुद्गल आदि पांच द्रव्य जो हैं वे तो अजीव रूप हैं । "मुत्तं" अमूर्त्त जो शुद्ध आत्मा है उससे विलक्षण स्पर्श, रस, गंध तथा वर्णवाली जो है उसको मूर्ति कहते हैं उस मूर्तिके सद्भावसे अर्थात् उस मूर्तिका धारक होनेसे पुद्गल द्रव्य मूर्त्त है, और जीव द्रव्य यद्यपि अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनयसे मूर्त्त है तथापि शुद्ध निश्चयनयसे अमूर्त है; तथा धर्म, अधर्म आकाश और कालद्रव्य अमूर्त्त हैं । "सपदेसं" लोकाकाशमात्रके प्रमाण असंख्यात प्रदेशोंको धारण करना है लक्षण जिसका ऐसे जीव द्रव्यको आदि लेके पंचास्तिकाय नामके धारक जो पांच द्रव्य हैं वे सप्रदेश (प्रदेशसहित) हैं, और वहुप्रदेशपना है लक्षण जिसका ऐसा जो कायत्व उसके न होनेसे कालद्रव्य अप्रदेश है । "एय" द्रव्यार्थिकनयसे धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य एक एक हैं और जीव, पुद्गल तथा काल ये तीन द्रव्य अनेक हैं । "खेत्तं" सव द्रव्योंको अवकाश (स्थान) देनेका सामर्थ्य होनेसे क्षेत्र एक आकाश द्रव्य है और शेष पांच द्रव्य क्षेत्र नहीं हैं । "किरियाय" एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें गमन रूप अर्थात् हिलनेवाली अथवा चलनेवाली जो है वह क्रिया है, वह क्रिया जिनमें रहै वे क्रियावान् जीव तथा पुद्गल ये दो द्रव्य हैं, और धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चार द्रव्य क्रियासे शून्य हैं । "णिच्चं" धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य यद्यपि अर्थपर्यायतासे अनित्य हैं तथापि मुख्यवृत्तिसे इनमें विभावव्यंजन पर्याय नहीं हैं इसलिये ये नित्य हैं; और द्रव्यार्थिक नयसे जीव, पुद्गल ये दो द्रव्य यद्यपि द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे नित्य हैं तथापि अगुरुलघुपरिणाम रूप जो स्वभाव पर्याय हैं

उनकी अपेक्षासे तथा विभावव्यंजन पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य हैं। "कारण" पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये जो द्रव्य हैं इनमेंसे व्यवहारनयसे जीवके–शरीर, वचन, मन, प्राण, अपान आदि कार्य तो पुद्गल द्रव्य करता है और गति, स्थिति, अवगाह तथा वर्त्तनारूप कार्यको क्रमसे धर्म आदि चार द्रव्य करते हैं; इसलिये पुद्गलादि पांच द्रव्य कारण हैं, और जीवद्रव्य यद्यपि गुरु, शिष्य आदि रूपसे परस्पर एक दूसरेका उपकार करता है तथापि पुद्गल आदि पांच द्रव्योंके प्रति यह जीव कुछ भी उपकार नहीं करता इसलिये अकारण है। "कत्ता" शुद्ध पारिणामिक परमभावका ग्राहक जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है उसकी अपेक्षा यद्यपि बंध मोक्षके कारणभूत द्रव्य–भाव रूप जो पुण्य, पाप, घट, पट आदि हैं उनका कर्त्ता जीव नहीं है तथापि अशुद्ध निश्चयनयसे शुभ और अशुभ उपयोगोंसे परिणत हुआ पुण्य तथा पाप बंधका कर्त्ता और उनके फलका भोक्ता होता है। तथा विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावका धारक जो निज शुद्ध आत्मा द्रव्य है उसके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप शुद्धोपयोगसे परिणत हुआ यह जीव मोक्षका भी कर्त्ता और उस मोक्षके फलका भोक्ता (भोगनेवाला) होता है। यहां सब जगह शुभ, अशुभ तथा शुद्ध परिणामोंका जो परिणमन है उसीको कर्त्ता जानना चाहिये। और पुद्गल आदि पांच द्रव्योंके तो अपने अपने परिणामसे जो परिणमन है वही कर्तृत्व है तथा यथार्थमें तो पुण्य पाप आदि रूपसे अकर्तृता ही है॥ "सव्वगदं" लोक और अलोक इन दोनोंमें व्याप्तिकी अपेक्षा आकाशकोही सर्वगत कहते हैं तथा लोकमें व्याप्तिकी अपेक्षा धर्म, और अधर्म सर्वगत हैं। एवं जीव द्रव्य जो है सो एक जीवकी अपेक्षासे लोकपूरण रूप जो अवस्था है उसके विना असर्वगत है और अनेक जीवोंकी अपेक्षासे सर्वगत ही होता है, तथा पुद्गल द्रव्य है सो लोकरूप महास्कन्धकी अपेक्षासे तो सर्वगत है और शेष पुद्गलोंकी अपेक्षासे असर्वगत है; पुनः एक कालाणुद्रव्यकी अपेक्षासे तो कालद्रव्य सर्वगत नहीं होता है और लोकप्रदेशप्रमाण नाना कालाणुओंकी अपेक्षासे कालद्रव्य लोकमें सर्वगत है। "इदरंहि यपवेसे" यद्यपि व्यवहारनयसे सब द्रव्य एक क्षेत्रमें अवगाह (रहने) से परस्पर प्रवेश द्वारा तिष्ठते हैं तथापि निश्चयनयसे चेतना आदि जो अपना २ स्वरूप है उसको नहीं छोड़ते हैं इस कारण परस्पर प्रवेशरहित हैं। इस उपर्युक्त कथनका तात्पर्य यह है कि इन छहों द्रव्योंमें वीतराग, चिदानन्द, एक शुद्ध, बुद्ध आदि गुण ही हैं स्वभाव जिसके ऐसा, और शुभ तथा अशुभ जो मनो, वचन और कायके व्यापार हैं उनसे रहित जो निज शुद्ध आत्मा द्रव्य है वही उपादेय है॥

अत ऊर्ध्वं पुनरपि षड्द्रव्याणां मध्ये हेयोपादेयस्वरूपं विशेषेण विचारयति। तत्र शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वात्सर्वे जीवा उपादेया भवन्ति। व्यक्तिरूपेण पुनः पञ्चपरमेष्ठिन एव। तत्राप्यर्हत्सिद्धद्वयमेव। तत्रापि निश्चयेन सिद्ध एव। परमनिश्चयेन तु

भोगाकांक्षादिरूपसमस्तविकल्पजालरहितपरमसमाधिकाले सिद्धसदृशः स्वशुद्धात्मैवोपादेयः शेषद्रव्याणि हेयानीति तात्पर्यम्। शुद्धबुद्धैकस्वभाव इति कोऽर्थः? मिथ्यात्वरागादिसमस्तविभावरहितत्वेन शुद्ध इत्युच्यते केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितत्वाद्बुद्धः। इति शुद्धबुद्धैकलक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यम्। इति षड्द्रव्यचूलिका समाप्ता। चूलिकाशब्दार्थः कथ्यते-चूलिका विशेषव्याख्यानम्, अथवा उक्तानुक्तव्याख्यानम्, उक्तानुक्तसंकीर्णव्याख्यानं चेति ॥

अव इसके उपरान्त फिर भी षट् द्रव्योंमेंसे क्या हेय है और क्या उपादेय है इस स्वरूपको विशेष रीतिसे विचारते हैं। उनमें शुद्ध निश्चयनयसे शक्तिरूपसे शुद्ध, बुद्ध एक स्वभावके धारक सभी जीव हैं इस कारण सर्व जीवही उपादेय (ग्राह्य) हैं। और व्यक्तिरूपसे अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये पांच परमेष्ठी ही उपादेय हैं। इन पांचोंमेंसे भी अर्हत्- सिद्ध ये दो ही उपादेय हैं। इन दोमेंसे भी निश्चयकी अपेक्षासे सिद्ध ही उपादेय हैं और परम-निश्चयसे भोगोंकी अभिलाषा आदि रूप जो संपूर्ण विकल्पोंके समूह हैं उनसे रहित जो परमध्यानका समय है उस समयमें सिद्धोंके समान जो निज शुद्ध आत्मा है; वही उपादेय है। अन्य सब द्रव्य हेय हैं। यह तात्पर्य है। अब 'शुद्धबुद्धैकस्वभाव'इस पदका क्या अर्थ हैसो कहते हैं—मिथ्यात्व, राग आदि संपूर्ण विभावोंसे रहित होनेके कारण आत्मा शुद्ध कहा जाता है। तथा केवलज्ञान आदि अनंत गुणोंसे सहित होनेसे आत्मा बुद्ध कहा जाता है। इस प्रकार जहां जहां 'शुद्धबुद्धैकस्वभाव' यह पद आवे वहां वहां सर्वत्र यही पूर्वोक्त लक्षण समझना चाहिये। इस रीतिसे षट्द्रव्योंकी चूलिका समाप्त हुई। अब 'चूलिका' इस शब्दका अर्थ कहते हैं। "चूलिका" किसी पदार्थके विशेष व्याख्यानको अथवा उक्त (कहे हुए) विषयमें जो अनुक्त (नहीं कहा हुआ) है उसके व्याख्यानको तथा उक्त तथा अनुक्तसे मिला हुआ जो कथन है उसको कहते हैं ॥

अतः परं जीवपुद्गलपर्यायरूपाणामास्रवादिसप्तपदार्थानामेकादशगाथापर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्रादौ "आसववंधण" इत्याद्यधिकारसूत्रगाथैका, तदनन्तरमास्रवपदार्थव्याख्यानरूपेण "आसवदि जेण" इत्यादि गाथात्रयं, ततःपरं वन्धव्याख्यानकथनेन "वज्झदि कम्म" इति प्रभृतिगाथाद्वयं, ततोऽपि संवरकथनरूपेण "चेदणपरिणामो" इत्यादिसूत्रद्वयं, ततश्च निर्जराप्रतिपादनरूपेण "जह कालेण तवेण य" इति प्रभृतिसूत्रमेकं, तदनन्तरं मोक्षस्वरूपकथनेन "सव्वस्स कम्मणो" इत्यादि सूत्रमेकं, ततश्च पुण्यपापद्वयकथनेन "सुहासुह" इत्यादि सूत्रमेकं चेत्येकादशगाथाभिः स्थलसप्तकसमुदायेन द्वितीयाधिकारे समुदायपातनिका।

अव इस चूलिकाके पश्चात् जीव और पुद्गल द्रव्यके पर्याय रूप जो आस्रव आदि सप्त ७ पदार्थ हैं उनका एकादश ११ गाथाओंद्वारा इस द्वितीय अधिकारमें व्याख्यान करते हैं। उसमें प्रथम "आसववंधण" इत्यादि २८ वीं एक गाथा अधिकार सूत्ररूप है और उसके अनन्तर आस्रवपदार्थके व्याख्यानरूपसे "आसवदि जेण" इत्यादि

२९।३०।३१ वीं तीन गाथायें हैं। उसके अनन्तर "वज्झदि कम्मं जेण" इत्यादि ३२।वीं ३३ वीं दो गाथाओंमें बंध पदार्थका निरूपण है। उसके पश्चात् "चेदणपरिणामो" इत्यादि ३४।३५ की दो गाथाओंमे संवर पदार्थका कथन है। फिर निर्जरा पदार्थके प्रतिपादन रूपसे "जह कालेण तवेण य" इत्यादि ३६ वीं एक गाथा है। उसके अनन्तर मोक्षके स्वरूपनिरूपणरूपसे "सव्वस्स कम्मणो" इत्यादि एक ३७ वीं गाथा है। उसके पश्चात् पुण्य, पाप इन दो पदार्थोंके कथन रूपसे "सुहासुहं" इत्यादि एक ३८ वीं गाथा है॥ ऐसे एकादश ११ गाथाओं द्वारा सप्त स्थलोंके समुदाय सहित द्वितीय अधिकारकी समुदाय पातनिका समझनी चाहिये॥

अत्राह शिष्यः—यद्येकान्तेन जीवाजीवौ परिणामिनौ भवतस्तदा संयोगपर्यायरूप एक एव पदार्थः, यदि पुनरेकान्तेनापरिणामिनौ भवतस्तदा जीवाजीवद्रव्यरूपौ द्वावेव पदार्थौ, तत आस्रवादि सप्तपदार्थाः कथं घटन्त इति। तत्रोत्तरं–कथंचित्परिणामित्वाद् घटन्ते। कथंचित्परिणामित्वमिति कोऽर्थः? यथा स्फटिकमणिविशेषो यद्यपि स्वभावेन निर्मलस्तथापि जपापुष्पाद्युपाधिजनितं पर्यायान्तरं परिणतिं गृह्णाति। यद्यप्युपाधिं गृह्णाति तथापि निश्चयेन शुद्धस्वभावं न त्यजति तथा जीवोऽपि यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन सहजशुद्धचिदानन्दैकस्वभावस्तथाप्यनादिकर्मबन्धपर्यायवशेन रागादिपरद्रव्योपाधिपर्यायं गृह्णाति। यद्यपि परपर्यायेण परिणमति तथापि निश्चयेन शुद्धस्वरूपं न त्यजति। पुद्गलोऽपि तथेति। परस्परसापेक्षत्वं कथंचित्परिणामित्वशब्दस्यार्थः। एवं कथंचित्परिणामित्वे सति जीवपुद्गलसंयोगपरिणतिनिर्वृत्तत्वादास्रवादिसप्तपदार्था घटन्ते। ते च पूर्वोक्तजीवाजीवाभ्यां सह नव भवन्ति तत एव नव पदार्थाः। पुण्यपापपदार्थद्वयस्याभेदनयेन कृत्वा पुण्यपापयोर्बन्धपदार्थस्य वा मध्ये अन्तर्भावविवक्षया सप्ततत्त्वानि भण्यन्ते। हे भगवन्, यद्यपि कथंचित्परिणामित्वबलेन भेदप्रधानपर्यायार्थिकनयेन नवपदार्थाः सप्ततत्त्वानि वा सिद्धानि तथापि तैः किं प्रयोजनम्। यथैवाभेदनयेन पुण्यपापपदार्थद्वयस्यान्तर्भावो जातस्तथैव विशेषाभेदनयविवक्षायामास्रवादिपदार्थानामपि जीवाजीवद्वयमध्येऽन्तर्भावे कृते जीवाजीवौ द्वावेव पदार्थाविति। तत्र परिहारः–हेयोपादेयतत्त्वपरिज्ञानप्रयोजनार्थमास्रवादिपदार्थाः व्याख्येया भवन्ति। तदेव कथयति-उपादेयतत्त्वमक्षयानन्तसुखं, तस्य कारणं मोक्षो, मोक्षस्य कारणं संवरनिर्जराद्वयं, तस्य कारणं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणलक्षणं निश्चयरत्नत्रयस्वरूपं, तत्साधकं व्यवहाररत्नत्रयरूपं चेति। इदानीं हेयतत्त्वं कथ्यते–आकुलत्वोत्पादकं नारकादिदुःखं निश्चयेनेन्द्रियसुखं च हेयतत्त्वम्। तस्य कारणं संसारः, संसारकारणमास्रवबन्धपदार्थद्वयं, तस्य कारणं पूर्वोक्तव्यवहारनिश्चयरत्नत्रयाद्विलक्षणं मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रत्रयमिति। एवं हेयोपादेयतत्त्वव्याख्याने कृते सति सप्ततत्त्वनवपदार्थाः स्वयमेव सिद्धाः।

अब यहांपर शिष्य प्रश्न करता है कि हे गुरो! यदि जीव तथा अजीव ये दोनों द्रव्य एकान्तसे (सर्वथा) परिणामी ही हैं तो संयोगपर्याय रूप एक ही पदार्थ सिद्ध होता है; और यदि सर्वथा अपरिणामी हैं तो जीव, अजीव द्रव्य रूप दो ही पदार्थ सिद्ध होते हैं;

इस कारण आस्रव आदि सप्त पदार्थ कैसे सिद्ध होते हैं ? । अब इसका उत्तर कहते हैं कि कथंचित् परिणामी होनेसे सप्त पदार्थोंका कथन संगत होता है । "कथंचित्परिणामित्व" इसका क्या अर्थ है सो सुनो—जैसे मणियोंके भेद रूप जो स्फटिकमणि है वह यद्यपि स्वभावसे निर्मल है तथापि जपापुष्प (जवा अथवा गुड़हलका फूल) आदिकी उपाधिसे उत्पन्न जो रक्तत्व आदि अन्य पर्याय है उस रूप परिणमता है अर्थात् सर्वथा निर्मल स्फटिक मणिके साथ जब जपापुष्पका योग होता है तब वह उस पुष्पके समान रक्तवर्णका ही धारक होजाता है । यहां स्फटिकमणि यद्यपि उपाधिको ग्रहण करता है तथापि निश्चयसे अपना जो निर्मल स्वभाव है उसको नहीं छोड़ता है । ऐसे ही जीव भी यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिक-नयसे स्वभावसे उत्पन्न शुद्ध चिदानन्द रूप स्वभावका धारक है तथापि अनादि कर्म-बंध रूप जो पर्याय है उसके वशसे राग आदि परद्रव्यजनित जो उपाधिपर्याय है; उसको ग्रहण करता है । यहां यद्यपि जीव परपर्यायके रूपसे परिणमन करता है तथापि निश्चयनयसे जो अपना शुद्ध स्वरूप है उसको नहीं छोड़ता है । इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य भी अन्यकी उपाधिसे परिणमनको प्राप्त होजाता है । इस कारण परस्परकी अपेक्षासहित होना यही "कथंचित्परिणामित्व" शब्दका अर्थ है । इस रीतिसे कथंचित्परिणामित्व सिद्ध होनेपर जीव और पुद्गलके संयोगकी परिणति (परिणाम) से रचे हुए आस्रव आदि सप्त पदार्थ घटित होते हैं । और वे आस्रव आदि सप्त पदार्थ पूर्वोक्त जो जीव और अजीव दो द्रव्य हैं उन सहित नव ९ होते हैं इसलिये नव पदार्थ कहे जाते हैं । तथा इन नव पदार्थोंमें जो पुण्य और पाप नामक दो पदार्थ हैं इनका पूर्व सप्त पदार्थोंसे अभेद करनेसे अथवा पुण्य और पाप पदार्थका बन्ध पदार्थमें अन्तर्भाव (सामिल) करनेसे सप्त तत्त्व कहे जाते हैं । शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवन् ! यद्यपि कथंचित्परिणामित्व माननेके बलसे भेद-प्रधान पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे नव ९ पदार्थ तथा सप्त ७ तत्त्व सिद्ध होगये तथापि इनसे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? । क्योंकि, जैसे अभेदनयसे पुण्य, पाप इन दो पदार्थोंका प्रथम सप्त पदार्थोंमें अन्तर्भाव हुआ है उसी प्रकार विशेष अभेदनयकी विवक्षामें आस्रव आदि पदार्थोंका भी जीव और अजीव इन दोनों पदार्थोंमें अन्तर्भाव करलेनेसे जीव तथा अजीव ये दो ही पदार्थ सिद्ध हो जाँयगे। अब इस शिष्यकी शंकाका परिहार करते हैं कि हे शिष्य? कौन तत्त्व हेय है और कौन तत्त्व उपादेय है इस विषयका ज्ञान होनेके प्रयोजनके लिये आस्रव आदि पदार्थ निरूपण करने योग्य होते हैं । अब इसी विषयको कहते हैं कि अविनाशी अनंत सुख जो है वह उपादेय तत्त्व है । उस अक्षय अनंत सुखका कारण मोक्ष है और उस मोक्षके कारण संवर और निर्जरा ये दोनों पदार्थ हैं । उन संवर और निर्जराका कारण, विशुद्ध-ज्ञानदर्शनस्वभावका धारक जो निजात्मा है उसके स्वरूपका सम्यग् श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण करने रूप निश्चय रत्नत्रय स्वरूप है, और उस निश्चय रत्नत्रयको

साधनेवाला व्यवहाररत्नत्रय है। अब हेयतत्त्वका कथन करते हैं—आकुलताको उत्पन्न करनेवाला जो नरकगति आदिका दुःख तथा इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ सुख है वह हेय (त्याज्य) तत्त्व है, उसका कारण संसार है और संसारके कारण आस्रव तथा बंध ये दो पदार्थ हैं, और उस आस्रवका तथा बंधका कारण पूर्वकथित जो व्यवहार और निश्चयरत्नत्रय है उससे विपरीत लक्षणके धारक मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र ये तीन हैं। इस प्रकार हेय और उपादेय तत्त्वका निरूपण करने पर सप्ततत्त्व तथा नव पदार्थ स्वयं ही सिद्ध हो गये ॥

इदानीं कस्य पदार्थस्य कः कर्त्तेति कथ्यते-निजनिरञ्जनशुद्धात्मभावनोत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादपराङ्मुखो वहिरात्मा भण्यते। स चास्रवबन्धपापपदार्थत्रयस्य कर्त्ता भवति। क्वापि काले पुनर्मन्दमिथ्यात्वमन्दकषायोदये सति भोगाकाङ्क्षादिनिदानवन्धेन भाविकाले पापानुवन्धिपुण्यपदार्थस्यापि कर्त्ता भवति। यस्तु पूर्वोक्तवहिरात्मनो विलक्षणः सम्यग्दृष्टिः स संवरनिर्जरामोक्षपदार्थत्रयस्य कर्त्ता भवति। रागादिविभावरहितपरमसामायिके यदा स्थातुं समर्थो न भवति तदा विषयकषायोत्पन्नदुर्ध्यानवञ्चनार्थं संसारस्थितिच्छेदं कुर्वन् पुण्यानुवन्धितीर्थंकरनामप्रकृत्यादिविशिष्टपुण्यपदार्थस्य कर्त्ता भवति। कर्तृत्वविषये नयविभागः कथ्यते। मिथ्यादृष्टेर्जीवस्य पुद्गलद्रव्यपर्यायरूपाणामास्रवबन्धपुण्यपापपदार्थानां कर्तृत्वमनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण, जीवभावपर्यायरूपाणां पुनरशुद्धनिश्चयनयेनेति। सम्यग्दृष्टेस्तु संवरनिर्जरामोक्षपदार्थानां द्रव्यरूपाणां यत्कर्तृत्वं तदप्यनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण, जीवभावपर्यायरूपाणां तु विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनयेनेति। परमशुद्धनिश्चयेन तु "ण वि उप्पज्जइ,ण विमरइ, वंधु न मोक्खु करेइ। जिउ परमच्छे जोइया, जिणवरु एम भणेइ ॥ १ ॥" इति वचनाद्बन्धमोक्षौ न स्तः। स च पूर्वोक्तविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चय आगमभाषया किं भण्यते-स्वशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपेण भविष्यतीति भव्यः, एवंभूतस्य भव्यत्वसंज्ञस्य पारिणामिकभावस्य संवन्धिनी व्यक्तिर्भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनर्द्रव्यशक्तिरूपशुद्धपारिणामिकभावविषये भावना भण्यते, पर्यायनामान्तरेण निर्विकल्पसमाधिर्वाशुद्धोपयोगादिकं वेति। यत एव भावना मुक्तिकारणं तत एव शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति ध्यानभावनारूपो न भवति। कस्मादिति चेत्-ध्यानभावनापर्यायो विनश्वरः स च द्रव्यरूपत्वादविनश्वर इति। इदमत्र तात्पर्यं-मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालरहितनिजशुद्धात्मभावनोत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखसंवित्तिरूपा च भावना मुक्तिकारणं भवति। तां च कोऽपि जनः केनापि पर्यायनामान्तरेण भणतीति। एवं पूर्वोक्तप्रकारेणानेकान्तव्याख्यानेनास्रवबन्धपुण्यपापपदार्थाः जीवपुद्गलसंयोगपरिणामरूपविभावपर्यायेणोत्पद्यन्ते। संवरनिर्जरामोक्षपदार्थाः पुनर्जीवपुद्गलसंयोगपरिणामविनाशोत्पन्नेन विवक्षितस्वभावपर्यायेणेति स्थितम् ॥

अब किस पदार्थका कौन कर्ता है इस विषयका उपदेश करते हैं। निज निरंजन शुद्ध आत्मा जो है उसकी भावना (चिंतवन) से उत्पन्न जो परम आनन्दरूप लक्षणवाला सुखामृतका रस है उसके आस्वादसे पराङ्मुख (रहित) जो जीव है वह वहिरात्मा

कहलाता है । वह बहिरात्मा आस्रव, बंध और पाप इन तीन पदार्थोंका कर्त्ता होता है; और किसी समय जब कषाय और मिथ्यात्वका उदय मंद होता है तब भोगोंकी अभिलाषा आदि रूप निदानके बंधसे पापसे संबंध रखनेवाले पुण्यपदार्थका भी कर्त्ता होता है । तथा जो पूर्वोक्त बहिरात्मासे विपरीत लक्षणका धारक सम्यग्दृष्टि जीव है वह संवर, निर्जरा तथा मोक्ष इन तीन पदार्थोंका कर्त्ता होता है, और यह सम्यग्दृष्टि जीव जिस समय राग आदि विभावोंसे रहित जो परम सामायिक है उसमें स्थित रहनेको समर्थ नहीं होता है उस समय विषयकषायोंसे उत्पन्न जो दुर्ध्यान उसके वंचनार्थ अर्थात् न होनेके लिये संसारकी स्थितिका नाश करता हुआ पुण्यसे संबंध रखनेवाला जो तीर्थंकर नाम प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्य पदार्थ है उसका कर्त्ता होता है । अब कर्तृत्वके विषयमें नयोंके विभागका निरूपण करते हैं । मिथ्यादृष्टि जीवके जो पुद्गल द्रव्यपर्याय रूप आस्रव, बंध तथा पुण्य, पाप पदार्थोंका कर्त्तापना है सो अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षासे है और जीव भाव (देव मनुष्य,) आदिपर्याय रूप पदार्थोंका कर्तृत्व अशुद्ध निश्चयनयसे है । तथा सम्यग्दृष्टि जीव जो द्रव्यरूप संवर, निर्जरा तथा मोक्ष पदार्थका कर्त्ता है; सो भी अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे ही है। तथा जीव भावपर्याय रूपोंका जो कर्त्ता है सो विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चय नयसे है । और परम शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे तो "जो परमार्थ दृष्टिसे देखें तो यह जीव न उत्पन्न होता है, न मरता है और न बंध तथा मोक्षको करता है, इस प्रकार श्रीजिनेन्द्र कहते हैं" इस वचनसे जीवके बंध और मोक्षही नहीं है । इसलिये विवक्षितैकदेश शुद्ध निश्चयनयसे ही जीवभावपर्यायोंका जीवको कर्तृत्व है । अब आगमभाषासे क्या कहते हैं सो दर्शाते हैं—निज शुद्ध आत्माके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण रूपसे जो होगा उसे भव्य कहते हैं, इस प्रकारका जो भव्यत्व संज्ञाका धारक जीव है उसके पारिणामिक भावसे संबंध रखनेवाली व्यक्ति कही जाती है अर्थात् भव्यके पारिणामिक भावकी व्यक्ति (प्रकटता) है । और अध्यात्मभाषासे द्रव्यशक्ति रूप जो शुद्ध भाव है उसके विषयमें भावना कहते हैं । अन्य नामोंसे इसी द्रव्य शक्ति रूप पारिणामिक भावकी भावनाको निर्विकल्प ध्यान तथा शुद्ध उपयोग आदि कहते हैं । भावना मुक्तिका कारण है । इसी कारण जो शुद्ध पारिणामिक भाव है वह ध्येय (ध्यान करने योग्य) रूप होता है और ध्यानरूप नहीं होता । ऐसा क्यों होता है यह पूछो तो उत्तर यह है कि ध्यानभावना पर्याय है सो तो विनाशका धारक है और ध्येयभावना पर्याय द्रव्यरूप होनेसे विनाशरहित है । तात्पर्य यहांपर यह है कि मिथ्यात्व, राग आदि जो विकल्पोंके समूह हैं उनसे रहित जो निजशुद्ध आत्मा उसकी भावनासे उत्पन्न सहज (स्वभावसे उत्पन्न) आनन्द रूप एक सुखके ज्ञानको धारण करनेवाली जो भावना है

वही मुक्तिका कारण है। उसी भावनाको कोई पुरुष किसी (निर्विकल्प ध्यान, शुद्धोपयोग आदि रूप) अन्य नामके द्वारा कहता है ॥

इस पूर्वोक्त प्रकारसे अनेकान्त (स्याद्वाद) का आश्रय कर, कथन करनेसे आस्रव, बंध, पुण्य और पाप ये चार पदार्थ जीव और पुद्गलके संयोग परिणामरूप जो विभाव पर्याय है उससे उत्पन्न होते हैं। और संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये तीन पदार्थ जीव और पुद्गलके संयोग रूप परिणामके विनाशसे उत्पन्न जो विवक्षित स्वभाव पर्याय है उससे उत्पन्न होते हैं, यह निश्चित हुआ ॥

तद्यथा—

अब पूर्वोक्त पदार्थोंका निरूपण करते हैं, सो इस प्रकार है—

आसव बंधण संवर णिज्जर मो (मु) क्खो सपुण्णपावाजे।
जीवाजीवविसेसा तेवि समासेण पभणामो ॥ २८ ॥

गाथाभावार्थः—अब जो आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य तथा पाप ऐसे सात जीव, अजीवके भेदरूप पदार्थ हैं; इनको भी संक्षेपसे कहते हैं ॥ २८ ॥

व्याख्या। "आसव" निरास्रवस्वसंवित्तिविलक्षणशुभाशुभपरिणामेन शुभाशुभकर्मागमनमास्रवः। "बंधण" बन्धातीतशुद्धात्मोपलम्भभावनाच्युतजीवस्य कर्मप्रदेशैः सह संश्लेषो बन्धः। "संवर" कर्मास्रवनिरोधसमर्थस्वसंवित्तिपरिणतजीवस्य शुभाशुभकर्मागमनसंवरणं संवरः। "णिज्जर" शुद्धोपयोगभावनासामर्थ्येन नीरसीभूतकर्मपुद्गलानामेकदेशगलनं निर्जरा। "मोक्खो" जीवपुद्गलसंश्लेषरूपबन्धस्य विघटने समर्थः स्वशुद्धात्मोपलब्धिपरिणामो मोक्ष इति। "सपुण्णपावा जे" पुण्यपापसहिता ये "ते वि समासेण पभणामो" यथा जीवाजीवपदार्थौ व्याख्यातौ पूर्वं तथा तानप्यास्रवादिपदार्थान् समासेन संक्षेपेण प्रभणामो वयं, ते च कथंभूताः "जीवाजीवविसेसा" जीवाजीवविशेषाः। विशेषा इत्यस्य कोऽर्थः पर्यायाः। चैतन्या अशुद्धपरिणामा जीवस्य, अचेतनाः कर्मपुद्गलपर्याया अजीवस्येत्यर्थः ॥ एवमधिकारसूत्रगाथा गता ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थः—"आसव" आस्रवसे रहित जो निज आत्माका ज्ञान है उससे विलक्षण जो शुभ तथा अशुभ परिणाम है उस परिणामसे जो शुभ और अशुभ कर्मोंका आगमन है सो आस्रव है। "बंधण" बंधसे रहित जो शुद्ध आत्मा है उसकी प्राप्तिस्वरूप जो भावना है उस भावनासे गिरे हुए जीवका जो कर्मके प्रदेशोंके साथ परस्पर बंध है, इसको बंध कहते हैं। "संवर" कर्मोंके आस्रवको रोकनेमें समर्थ जो निज आत्मज्ञान है उस ज्ञानमें परिणत जीवके जो शुभ तथा अशुभ कर्मोंके आनेका निरोध है वह संवर है। "णिज्जर" शुद्ध उपयोगकी भावनाके बलसे नीरसीभूत (शक्तिहीन हुए) हुए ऐसे कर्मपुद्गलोंका जो एकदेशसे गलन अर्थात् नाश है उसको निर्जरा कहते हैं। "मोक्खो" जीव तथा पुद्-

लका जो परस्पर मेलन रूप बंध है उस बंधको नाश करनेमें समर्थ जो निजशुद्ध आत्माकी प्राप्तिरूप परिणाम है वह मोक्ष कहा जाता है। "सपुण्णपावा जे" पुण्य तथा पाप सहित जो "ते वि समासेण पभणामो" आस्रव आदि पदार्थ हैं उनको भी जैसे पहले जीव, अजीव कहे उसी प्रकार संक्षेपसे हम कहते हैं—और वे कैसे हैं कि "जीवाजीवविसेसा" जीव तथा अजीवके विशेष अर्थात् पर्याय हैं। तात्पर्य यह कि चैतन्य आस्रव आदि तो जीवके अशुद्ध परिणाम हैं और अचेतन जो कर्मपुद्गलोंके पर्याय हैं वे अजीवके हैं॥ इस प्रकार आस्रव आदि अधिकारसूत्रकी गाथा गई (समाप्त हुई)॥ २८॥

अथ गाथात्रयेणास्रवव्याख्यानं क्रियते, तत्रादौ भावास्रवद्रव्यास्रवस्वरूपं सूचयति।

अब तीन गाथाओंसे आस्रव पदार्थका व्याख्यान करते हैं, उसमें प्रथमही भावास्रव तथा द्रव्यास्रवकी सूचना करते हैं।

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि॥ २९॥

गाथाभावार्थः—जिस परिणामसे आत्माके कर्मका आस्रव होता है उसको श्रीजिनेन्द्रद्वारा कहा हुआ भावास्रव जानना चाहिये। और भावास्रवसे भिन्न ज्ञानावरणादि रूप कर्मोंका जो आस्रव है सो द्रव्यास्रव होता है॥ २९॥

व्याख्या। "आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ भावासवो" आस्रवति कर्म येन परिणामेनात्मनः स विज्ञेयो भावास्रवः । कर्मास्रवनिर्मूलनसमर्थशुद्धात्मभावनाप्रतिपक्षभूतेन येन परिणामेनास्रवति कर्म कस्यात्मनः स्वस्य स परिणामो भावास्रवो विज्ञेयः। स च कथंभूतः "जिणुत्तो" जिनेन वीतरागसर्वज्ञेनोक्तः। "कम्मासवणं परो होदि" कर्मास्रवणं परो भवति ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणामास्रवणमागमनं परः, पर इति कोऽर्थः—भावास्रवादन्यो भिन्नो भावास्रवनिमित्तेन तैलम्रक्षितानां धूलिसमागम इव द्रव्यास्रवो भवतीति। ननु "आस्रवति येन कर्म" तेनैव पदेन द्रव्यास्रवो लब्धः, पुनरपि कर्मास्रवणं परो भवतीति द्रव्यास्रवव्याख्यानं किमर्थमिति यदुक्तं त्वया तन्न। येन परिणामेन किं भवति आस्रवति कर्म तत्परिणामस्य सामर्थ्यं दर्शितं न च द्रव्यास्रवव्याख्यानमिति भावार्थः॥ २९॥

व्याख्यार्थः—"आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ भावासवो" आत्माके जिस परिणामसे कर्मका आस्रव हो वह परिणाम भावास्रव है, यह जानना चाहिये। भावार्थ यह है कि कर्मास्रवके दूर करनेमें समर्थ जो शुद्ध आत्माकी भावना है उस भावनाके प्रतिपक्षभूत (विरोधी) जिस परिणामसे अपने आत्माके कर्मका आस्रव होता है उस परिणामको भावास्रव जानना चाहिये। वह भावास्रव कैसा है कि "जिणुत्तो" जिन जो श्रीवीतराग सर्वज्ञ देव हैं उनसे कहा हुआ है। "कम्मासवणं परो होदि" कर्मोंका जो आस्रवण है वह पर होता है अर्थात् ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मोंका जो आस्रवण (आगमन) है वह पर है। पर शब्दका अर्थ यह है कि भावास्रवसे भिन्न। भावार्थ—जैसे तेलसे चुपड़े

हुए पदार्थोंके धूलका समागम होता है उसी प्रकार भावास्रवके निमित्तसे जीवके द्रव्यास्रव होता है। अब यहां कोई शंका करते हैं कि "आसवदि जेण कम्मं" (जिससे कर्मका आस्रव होता है) इसी पदसे द्रव्यास्रवकी प्राप्ति होगई फिर "कम्मासवणं परो होदि" (इससे भिन्न कर्मास्रव होता है) इस पदसे द्रव्यास्रवका व्याख्यान किस प्रयोजनके लिये किया? । समाधान—यह शंका जो तुमने कही सो ठीक नहीं। क्योंकि, "जिस परिणामसे क्या होता है कि कर्मका आस्रव होता है" यह जो कथन है उससे परिणामका सामर्थ्य दिखाया गया है, द्रव्यास्रवका व्याख्यान नहीं किया गया। यह भावार्थ है॥ २९॥

अथ भावास्रवस्वरूपं विशेषेण कथयति।

अब भावास्रवके स्वरूपका विशेष रीतिसे कथन करते हैं।

मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओऽथ विण्णेया।
पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदादु पुव्वस्स॥ ३०॥

गाथाभावार्थः—अब प्रथम जो भावास्रव है उसके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोध आदि कषाय ऐसे पांच भेद जानने चाहिये; और मिथ्यात्व आदिके क्रमसे पांच, पांच, पन्द्रह, तीन, और चार भेद समझने चाहिये। अर्थात् मिथ्यात्वके पांच भेद, अविरतिके पांच भेद, प्रमादके पन्द्रह भेद, योगके तीन भेद और क्रोध आदि कषायोंके चार भेद जानने॥ ३०॥

व्याख्या। "मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओ" मिथ्यात्वाविरतिप्रमादयोगक्रोधादयः। अभ्यन्तरे वीतरागनिजात्मतत्त्वानुभूतिरुचिविषये विपरीताभिनिवेशजनकं बहिर्विषये तु परकीयशुद्धात्मतत्त्वप्रभृतिसमस्तद्रव्येषु विपरीताभिनिवेशोत्पादकं च मिथ्यात्वं भण्यते। अभ्यन्तरे निजपरमात्मस्वरूपभावनोत्पन्नपरमसुखामृतरतिविलक्षणा बहिर्विषये पुनरव्रतरूपा चेत्यविरतिः। अभ्यन्तरे निष्प्रमादशुद्धात्मानुभूतिचलनरूपः बहिर्विषये तु मूलोत्तरगुणमलजनकश्चेति प्रमादः। निश्चयेन निष्क्रियस्यापि परमात्मनो व्यवहारेण वीर्यान्तरायक्षयोपशमोत्पन्नो मनोवचनकायवर्गणावलम्बनः कर्मादानहेतुभूत आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योग इत्युच्यते। अभ्यन्तरे परमोपशममूर्त्तिकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वभावपरमात्मस्वरूपक्षोभकारकाः बहिर्विषये तु परेषां संबन्धित्वेन क्रूरत्वाद्यावेशरूपाः क्रोधादयश्चेत्युक्तलक्षणाः पञ्चास्रवाः "अथ" अथो "विण्णेया" विज्ञेया ज्ञातव्याः। कतिभेदास्ते "पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदादु" पञ्चपञ्चपञ्चदशत्रिचतुर्भेदाः क्रमशो भवन्ति पुनः। तथाहि "एयंत बुद्धिदरसी विवरीउ वंह्मतावसो विणओ। इंदो विय संसइदो मक्कडिओ चैव अण्णाणी।१।" इति गाथाकथितलक्षणं पञ्चविधं मिथ्यात्वम्। हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाकाङ्क्षारूपेणाविरतिरपि पञ्चविधा। अथवा मनःसहितपञ्चेन्द्रियप्रवृत्तिपृथिव्यादिषट्कायविराधनाभेदेन द्वादशविधा। "विकहा तहय कसाया इंदिपणिद्दाय तहय पणयो य। चदु चदु पणमेगेगं हुंति पमादाहु पण्णरसा।१।" इति गाथाकथितक्रमेण पञ्चदश प्रमादाः। मनोवचनकायव्यापारभेदेन त्रिविधो योगः, विस्ता-

रेण पञ्चदशभेदो वा। क्रोधमानमायालोभभेदेन कपायाश्चत्वारः, कषायनोकपायभेदेन पञ्चविंशतिविधा वा। एते सर्वे भेदाः कस्य संबन्धिनः "पुव्वस्स" पूर्वसूत्रोदितभावास्रवस्येत्यर्थः॥३०॥

व्याख्यार्थः—"मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओ" मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग तथा क्रोध आदि वक्ष्यमाण लक्षण तथा संख्यायुक्त भाव आस्रवके भेद हैं। इनमेंसे अन्तरंगमें जो वीतराग निज आत्मतत्त्वके अनुभवमें रुचि है उसके विषयमें विपरीत अभिनिवेश (आग्रह) का उत्पन्न करानेवाला तथा बाह्य विषयमें परसंबन्धी शुद्ध आत्मतत्त्वसे आदि लेके संपूर्ण द्रव्योंमें जो विपरीत अर्थात् उलटे आग्रहका उत्पन्न करानेवाला है, उसको मिथ्यात्व कहते हैं। तथा अभ्यन्तरमें निज परमात्माके स्वरूपकी भावनासे उत्पन्न जो परम सुखरूप अमृत है, उस परम सुखमें जो रति (प्रीति) है उससे विलक्षण, तथा बाह्य विषयमें व्रत आदिका धारण न करने रूप जो है सो अविरति है। तथा अभ्यन्तरमें प्रमादरहित जो शुद्ध आत्मा है उसके अनुभवसे चलन (डिगाने) रूप और बाह्य विषयमें जो मूल गुण तथा उत्तर गुण हैं उनमें अतिचार उत्पन्न करनेवाला प्रमाद है। निश्चयसे क्रियारहित परमात्माके भी जो व्यवहारसे वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न तथा मन, वचन, और काय वर्गणाको अवलम्बन करनेवाला, कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारणभूत आत्माके प्रदेशोंका परिस्पन्द (संचलन) है उसको योग कहते हैं। तथा अभ्यन्तरमें परम उपशम मूर्त्तिवाला तथा केवल ज्ञान आदि अनंत गुणोंरूप स्वभावका धारक जो परमात्माका स्वरूप है उसमें क्षोभको उत्पन्न करनेवाले तथा बाह्य विषयमें परके संबंधीपनेसे क्रूरता आदिके आवेश रूप जो क्रोध आदि हैं उनको कपाय कहते हैं॥ इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणके धारक मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग तथा कपाय ये पांच भावास्रव हैं। ये "अथ" पूर्वकथनके अर्थात् २९ वीं गाथामें कहे हुए कथनके पश्चात् "विण्णेया" जानने चाहिये। अब इन पांच भावास्रवोंके कितने भेद हैं सो कहते हैं—"पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदादु" और उन मिथ्यात्व आदिके क्रमसे पांच, पांच, पन्द्रह, तीन और चार भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—"एकान्त बुद्धिदर्शक (एकान्त) मिथ्यात्व, विपरीताभिनिवेश (विपरीत) मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व, संशयित (संशय) मिथ्यात्व तथा अज्ञानमिथ्यात्व" ऐसे गाथामें कहे हुए लक्षणोंका धारक पांच प्रकारका मिथ्यात्व है। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहमें इच्छारूप अविरति भी पांच प्रकारकी है, अथवा यही अविरति मन और पांचों इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिरूप ६ भेद तथा छेकायके जीवोंकी विराधनारूप ६ भेद ऐसे दोनोंके मिलानेसे बारह प्रकारकी भी है। "चार विकथा, चार कषाय, पांच इन्द्रिय, निद्रा और राग ऐसे पन्द्रह प्रमाद होते हैं॥ १॥" इस गाथाकथित क्रमसे प्रमाद पन्द्रह हैं। मनोव्यापार, वचनव्यापार और कायव्यापार इन भेदोंसे योग तीन प्रकारका है, अथवा विस्तारसे १५ प्रकारका है। क्रोध, मान, माया तथा लोभ

इन भेदोंसे कषाय चार प्रकारके हैं, अथवा १६ कषाय और ९ नोकषाय इन भेदोंसे पचीस प्रकारके कषाय हैं। ये सब भेद किस आस्रवके संबन्धी हैं कि "पुव्वस्स" पूर्वगाथामें कहा हुआ जो भावास्रव है उसके भेद हैं। इस प्रकार गाथाका अर्थ है ॥ ३० ॥

अथ द्रव्यास्रवस्वरूपमुद्योतयति।

अब द्रव्यास्रवके स्वरूपको प्रकट करते हैं।

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो ॥ ३१ ॥

गाथाभावार्थः—ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंके योग्य जो पुद्गल आता है उसको द्रव्यास्रव जानना चाहिये। वह अनेक भेदोंसहित है, ऐसा श्रीजिनेन्द्रने कहा है ॥ ३१ ॥

व्याख्या। "णाणावरणादीणं" सहजशुद्धकेवलज्ञानमभेदेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतं ज्ञानशब्दवाच्यं परमात्मानं वा आवृणोतीति ज्ञानावरणं, तदादिर्येषां तानि ज्ञानावरणादीनि तेषां ज्ञानावरणादीनां "जोग्गं" योग्यं "जं पुग्गलं समासवदि" स्नेहाभ्यक्तशरीराणां धूलिरेणुसमागम इव निष्कषायशुद्धात्मसंवित्तिच्युतजीवानां कर्मवर्गणारूपं यत्पुद्गलद्रव्यं समास्रवति "दव्वासओ स णेओ" द्रव्यास्रवः स विज्ञेयः। "अणेयभेओ" स च ज्ञानदर्शनावरणीयवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायसंज्ञानामष्टमूलप्रकृतीनां भेदेन, तथैव "पण णव दु अट्ठवीसा चउ तियणवदीय दोण्णि पंचेव। बावण्णहीण वियसयपयडिविणासेण होंति ते सिद्धा ॥१॥" इति गाथाकथितक्रमेणाष्टचत्वारिंशदधिकशतसंख्याप्रमितोत्तरप्रकृतिभेदेन तथा चासंख्येयलोकप्रमितपृथिवीकायनामकर्माद्युत्तरोत्तरप्रकृतिरूपेणानेकभेद इति "जिणक्खादो" जिनख्यातो जिनप्रणीत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ एवमास्रवव्याख्यानगाथात्रयेण प्रथमस्थलं गतम्।

व्याख्यार्थः—"**णाणावरणादीणं**" सहज शुद्ध केवल ज्ञानको अथवा अभेदनयकी विवक्षासे केवल ज्ञान आदि अनन्त गुणोंका आधार भूत 'ज्ञान' इस शब्दसे कहने योग्य जो परमात्मा है उसको जो आवृत करै अर्थात् ढकै सो ज्ञानावरण है। वह ज्ञानावरण है आदिमें जिनके ऐसे जो ज्ञानावरणादि हैं उनके "**जोग्गं**" योग्य "**जं**" जो "**पुग्गलं**" पुद्गल "**समासवदि**" आता है अर्थात् जैसे तैलसे लिप्त (चुपड़े हुए) शरीरवाले जीवोंके धूलके कणोंका आगमन होता है उसी प्रकार कषायरहित शुद्ध आत्माके ज्ञानसे रहित जीवोंके जो कर्मवर्गणारूप पुद्गल द्रव्य आता है "**दव्वासओ स णेओ**" उसको द्रव्यास्रव जानना चाहिये। "**अणेयभेओ**" और वह अनेक प्रकारका है अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुः, नाम, गोत्र तथा अन्तराय नामक जो आठ मूल प्रकृतिके भेद हैं उनसे, अथवा "ज्ञानावरणीयके ५, दर्शनावरणीयके ९, वेदनीयके २, मोहनीयके २८, आयुके ४, नामके ९३, गोत्रके २, और अन्तरायके ५ इस प्रकार बावन कम दोसो (१४८) प्रकृतियोंका नाश होनेसे वे सिद्ध होते हैं।" इस गाथामें कहे हुए क्रमसे एकसो अड़तालीस

१४८ संख्या प्रमाण जो उत्तरप्रकृतियें हैं उनके भेदोंसे तथा असंख्यात लोक प्रमाण जो पृथिवी काय नाम कर्म आदि उत्तरोत्तर प्रकृतिभेद हैं उनसे अनेक प्रकारका है। "जिणक्खादो" यह द्रव्यास्रवका सूत्र श्रीजिनेन्द्रदेवका कहा हुआ है। इस प्रकार गाथाका अर्थ है ॥ ३१ ॥

इस पूर्वोक्त प्रकारसे आस्रवके व्याख्यानकी तीन गाथाओंसे प्रथम स्थल समाप्त हुआ।

अतःपरं सूत्रद्वयेन वन्धव्याख्यानं क्रियते। तत्रादौ गाथापूर्वार्धेन भाववन्धमुत्तरार्धेन तु द्रव्यवन्धस्वरूपमावेदयति।

अब इसके आगे दो गाथासूत्रोंसे बंध पदार्थका व्याख्यान करते हैं। उसमें प्रथम गाथाके पूर्वार्धसे भावबंध और उत्तरार्धसे द्रव्यबंधके स्वरूपका उपदेश करते हैं।

वज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥ ३२ ॥

गाथाभावार्थः—जिस चेतनभावसे कर्म बँधता है वह तो भावबंध है, और कर्म तथा आत्माके प्रदेशोंका परस्पर प्रवेशन रूप अर्थात् कर्म और आत्माके प्रदेशोंका एकाकार होने रूप दूसरा द्रव्यबंध है ॥ ३२ ॥

व्याख्या। "वज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो" वध्यते कर्म येन चेतनभावेन स भाववन्धो भवति। समस्तकर्मवन्धविध्वंसनसमर्थाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयपरमचैतन्यविलासलक्षणज्ञानगुणस्य, अभेदनयेनानन्तज्ञानादिगुणाधारभूतपरमात्मनो वा संवन्धिनी या तु निर्मलानुभूतिस्तद्विपक्षभूतेन मिथ्यात्वरागादिपरिणतिरूपेण वाऽशुद्धचेतनभावेन परिणामेन वध्यते ज्ञानावरणादि कर्म येन भावेन स भाववन्धो भण्यते। "कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो" कर्मात्मप्रदेशानामन्योन्यप्रवेशनमितरः। तेनैव भाववन्धनिमित्तेन कर्मप्रदेशानामात्मप्रदेशानां च क्षीरनीरवदन्योन्यं प्रवेशनं संश्लेषो द्रव्यवन्ध इति ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थः—"वज्झदि कम्मं जेणदु चेदणभावेण भावबंधो सो" जिस चेतनके भावसे कर्म बँधता है; वह भावबंध है; अर्थात् संपूर्ण कर्मोंके बंधको नष्ट करनेमें समर्थ तथा अखण्ड (पूर्ण) एक प्रत्यक्ष ज्ञान स्वरूप जो परम चैतन्य विलास लक्षणका धारक ज्ञान गुण है, उससे अथवा अभेदनयकी विवक्षासे अनन्त ज्ञान आदि गुणोंका आधारभूत जो परमात्मा है उससे संबंध रखनेवाली जो निर्मल अनुभूति (अनुभव) है उससे विपक्षभूत (विरोधी) अथवा मिथ्यात्व, राग आदिमें परिणति रूप अशुद्ध चेतन भाव स्वरूप जो परिणाम है उससे जो कर्म बँधता है वह भावबंध कहलाता है। "कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो" कर्म और आत्माके प्रदेशोंका परस्पर प्रवेशनरूप दूसरा है, अर्थात् उसी पूर्वोक्त भावबंधके निमित्तसे कर्मके प्रदेशोंका और आत्माके प्रदेशोंका जो दूध तथा जलकी भांति एक दूसरेमें प्रवेश होना अर्थात् मिल जाना है, सो द्रव्यबंध है ॥३२॥

अथ तस्यैव बन्धस्य गाथापूर्वार्धेन प्रकृतिबन्धादिभेदचतुष्टयं कथयति, उत्तरार्धेन तु प्रकृतिबन्धादीनां कारणं चेति ॥

अब गाथाके पूर्वार्धसे उसी बंधके प्रकृतिबंध आदि चार भेदोंको कहते हैं और उत्तरार्धसे उन प्रकृतिबंध आदिके कारणका कथन करते हैं।

पयडिट्ठिदिअणुभागपदेसभेदादु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा ट्ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥ ३३ ॥

गाथाभावार्थः—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन भेदोंसे बंध चार प्रकारका है। इनमें योगोंसे प्रकृति तथा प्रदेशबंध होते हैं और कषायोंसे स्थिति तथा अनुभाग बंध होते हैं ॥ ३३ ॥

व्याख्या। "पयडिट्ठिदिअणुभागपदेसभेदादु चदुविधो बंधो" प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदाच्चतुर्विधो बन्धो भवति। तथाहि ज्ञानावरणीयस्य कर्मणः का प्रकृतिः? देवतामुखवस्त्रमिव ज्ञानप्रच्छादनता। दर्शनावरणीयस्य का प्रकृतिः। राजदर्शनप्रतिषेधकप्रतीहारवद्दर्शनप्रच्छादनता। सातासातवेदनीयस्य का प्रकृतिः? मधुलिप्तखड्गधारास्वादनवदल्पसुखबहुदुःखोत्पादकता। मोहनीयस्य का प्रकृतिः? मद्यपानवद्धेयोपादेयविचारविकलता। आयुःकर्मणः का प्रकृतिः? निगडवद्गत्यन्तरगमननिवारणता। नामकर्मणः का प्रकृतिः? चित्रकारपुरुषवन्नानारूपकरणता। गोत्रकर्मणः का प्रकृतिः। गुरुलघुभाजनकारककुम्भकारवदुच्चनीचगोत्रकरणता। अन्तरायकर्मणः का प्रकृतिः? भाण्डागारिकवद्दानादिविघ्नकरणतेति। तथाचोक्तं—"पडपडिहारसिमज्जाहडिचित्तकुलालभंडयारीणं। जह एदेसिं भावा तहविह कम्मा मुणेयव्वा ॥१॥" इति दृष्टान्ताष्टकेन प्रकृतिबन्धो ज्ञातव्यः॥ अजागोमहिष्यादिदुग्धानां प्रहरद्वयादिस्वकीयमधुररसावस्थानपर्यन्तं यथा स्थितिर्भण्यते तथा जीवप्रदेशेष्वपि यावत्कालं कर्मसंबन्धेन स्थितिस्तावत्कालं स्थितिबन्धो ज्ञातव्यः। यथा च तेषामेव दुग्धानां तारतम्येन रसगतशक्तिविशेषोऽनुभागो भण्यते तथा जीवप्रदेशस्थितकर्मस्कन्धानामपि सुखदुःखदानसमर्थशक्तिविशेषोऽनुभागबन्धो विज्ञेयः। सा च घातिकर्मसम्बन्धिनी शक्तिर्लतादार्वस्थिपाषाणभेदेन चतुर्धा। तथैवाशुभाऽघातिकर्मसंबन्धिनी निम्बकाञ्जीरविषहालाहलरूपेण। शुभाघातिकर्मसंबन्धिनी पुनर्गुडखण्डशर्करामृतरूपेण चतुर्धा भवति। एकैकात्मप्रदेशे सिद्धानन्तैकभागसंख्या अभव्यानन्तगुणप्रमिता अनन्तानन्तपरमाणवः प्रतिक्षणबन्धमायान्तीति प्रदेशबन्धः॥ इदानीं बन्धकारणं कथ्यते। "जोगा पयडिपदेसा ट्ठिदिअणुभागा कसायदो हुंति।" योगात्प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतो भवत इति। तथाहि, निश्चयेन निष्क्रियाणामपि शुद्धात्मप्रदेशानां व्यवहारेण परिस्पन्दनहेतुर्योगः, तस्मात्प्रकृतिप्रदेशबन्धद्वयं भवति। निर्दोषपरमात्मभावनाप्रतिबन्धकक्रोधादिकषायोदयात् स्थित्यनुभागबन्धद्वयं भवतीति। आस्रवे बन्धे च मिथ्यात्वाविरत्यादिकारणानि समानानि को विशेष इति चेत् नैवं—प्रथमक्षणे कर्मस्कन्धानामागमनमास्रवः, आगमनानन्तरं द्वितीयक्षणादौ जीवप्रदेशेष्ववस्थानं बन्ध इति भेदः। यत एव योगकषायाद्बन्धचतुष्टयं भवति तत एव बन्धविनाशार्थं योगकषायत्यागेन निजशुद्धात्मनि भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यम्॥ ३३॥ एवं बन्धव्याख्यानेन सूत्रद्वयेन द्वितीयं स्थलं गतम्॥

व्याख्यार्थः—"पयडिट्ठिदिअणुभागपदेसभेदादु चदुविधो बंधो" प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध, और प्रदेशबंध इन भेदोंसे बंध चार ४ प्रकारका है। सो ही विशेषतासे दिखलाते हैं—ज्ञानावरणी कर्मकी प्रकृति (स्वभाव) क्या है इस जिज्ञासामें उत्तर यह है कि जैसे देवताको मुखवस्त्र आवरण (पड़दा) आच्छादित कर लेता है अर्थात् ढक लेता है उसी प्रकार ज्ञानावरणी कर्म ज्ञानको ढक लेता है। दर्शनावरणीकी प्रकृति क्या है? राजाके दर्शनकी रुकावट जैसे द्वारपाल करता है उसी प्रकार दर्शनावरणी दर्शनको नहीं होने देता है। सातावेदनी और असातावेदनी नामक दो भेदोंका धारक जो वेदनी कर्म है उसकी क्या प्रकृति है? मधु (सहत) से लिपटी हुई तलवारकी धारा चाटनेमें जैसे अल्प सुख और अधिक दुःख उत्पन्न होता है, वैसेही वेदनी कर्म भी अल्पसुख और अधिक दुःखको देनेवाला है। मद्य (मदिरा) पानके समान हेय (त्यागने योग्य), उपादेय (ग्रहण करने योग्य) पदार्थके ज्ञानकी रहितता यह मोहनी कर्मकी प्रकृति है। बेड़ीके समान दूसरी गतिमें जानेको रोकना यह आयुःकर्मकी प्रकृति है। चित्रकार (चितेरा) पुरुषके तुल्य नानाप्रकारके रूपका करना यह नामकर्मकी प्रकृति है। छोटे बड़े भाजन (घट आदि) को करनेवाले कुंभारकी भांति उच्च तथा नीच गोत्रको करना यह गोत्र कर्मकी प्रकृति है। भंडारीके समान दान आदिमें विघ्न करना यह अन्तराय कर्मकी प्रकृति है। सो ही कहा है—"पट (वस्त्र), प्रतीहार (द्वारपाल) तलवार, मद्य, बेड़ी, चितेरा, कुंभकार और भंडारी इन आठोंका जैसा स्वभाव है वैसाही क्रमसे ज्ञानावरण आदि आठों कर्मोंका स्वभाव है॥ १॥" इस प्रकार गाथामें कहे हुए आठ दृष्टान्तोंके अनुसार प्रकृति बंध जानना चाहिये॥ तात्पर्य यह कि कर्मपुद्गलोंका ज्ञानावरण आदि शक्ति सहित हो जाना ही प्रकृतिबंध है। तथा बकरी, गौ, महिषी (भैंस) आदिके दुग्धोंमें जैसे दो प्रहर आदि अपने मधुर रसमें रहनेकी स्थिति कही जाती है अर्थात् बकरीका दूध दो प्रहरतक अपने मधुर रसमें स्थित रहता है इत्यादि स्थितिका कथन है उसी प्रकार जीवके प्रदेशोंमें जितने काल पर्यन्त कर्मसंबंधसे स्थिति है उतने कालको स्थितिबंध जानना चाहिये। और जैसे उन पूर्वोक्त बकरी आदिके दूधोंमें तारतम्यसे (न्यूनाधिकतासे) मधुर-रसमें प्राप्त शक्तिविशेषरूप अनुभाग कहा जाता है उसी प्रकार जीवके प्रदेशोंमें स्थित जो कर्मोंके प्रदेश हैं उनके जो सुख तथा दुःख देनेमें समर्थ शक्ति विशेष है उसको अनुभाग बंध जानना चाहिये। और वह घाति कर्मसे संबंध रखनेवाली शक्ति लता (बेल), काष्ठ, हाड़, और पाषाण भेदसे चार प्रकारकी है. इसी प्रकार अशुभ अघातिया कर्मों संबंधिनी शक्ति निंब, कांजीर (काली जीरी), विष तथा हालाहल रूपसे चार प्रकारकी है। और शुभ अघातिया कर्मों संबंधी शक्ति गुड़, खांड, मिश्री तथा अमृत इन भेदोंसे चार तरहकी है। एक एक आत्माके प्रदेशमें सिद्धोंसे अनन्तैकभाग (अनन्तमेंसे एक भाग)

संख्याके धारक और अभव्यराशिसे अनन्तगुणे परिमाणके धारक ऐसे अनन्तानन्त परमाणु प्रत्येक क्षणमें बंधको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्रदेशबंधका स्वरूप है। अब बंधके कारणको कहते हैं—"जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो हुंति" योगसे प्रकृति तथा प्रदेशबंध होते हैं और स्थिति तथा अनुभाग ये दो बंध कषायोंसे होते हैं। इसका स्पष्टीकरण यह है कि, निश्चयनयसे जो क्रियारहित भी शुद्ध आत्माके प्रदेश हैं उनका व्यवहारसे जो परिस्पंदन (चलायमान करनेका) कारण है उसको योग कहते हैं। उस योगसे प्रकृति तथा प्रदेश नामक दो बंध होते हैं। और दोषरहित जो परमात्मा है, उसकी भावना (ध्यान) के प्रतिबंधक (रोकनेवाले) जो क्रोध आदि कषाय हैं उनके उदयसे स्थिति और अनुभाग ये दो बंध होते हैं। कदाचित्—आस्रव और बंधके होनेमें मिथ्यात्व, अविरति, आदि कारण समान हैं। इसलिये आस्रव और बंधमें क्या भेद है? ऐसी शंका करो तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि प्रथम क्षणमें जो कर्मस्कन्धोंका आगमन है, वह तो आस्रव है और कर्मस्कंधोंके आगमनके पीछे द्वितीय, तृतीय आदि क्षणोंमें जो उन कर्मस्कंधोंका जीवके प्रदेशोंमें स्थित होना है सो बंध है। यह भेद आस्रव और बंधमें है। जिस कारणसे कि योग और कषायोंसे प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग नामक चार बंध होते हैं, उसी कारणसे बंधका नाश करनेके अर्थ योग तथा कषायका त्याग करके अपने शुद्ध आत्मामें भावना करनी चाहिये। यह तात्पर्य है ॥ ३३ ॥

ऐसे बंधके व्याख्यान रूप जो दो गाथासूत्र हैं, उनके द्वारा द्वितीय अध्यायमें द्वितीय स्थल समाप्त हुआ।

अत ऊर्ध्वं गाथाद्वयेन संवरपदार्थः कथ्यते। तत्र प्रथमगाथायां भावसंवरद्रव्यसंवरस्वरूपं निरूपयति।

अब इसके आगे दो गाथाओंसे संवर पदार्थका कथन करते हैं। उनमें प्रथम गाथामें भावसंवर और द्रव्यसंवरके स्वरूपका निरूपण करते हैं।

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ॥ ३४ ॥

गाथाभावार्थः—जो चेतनका परिणाम कर्मके आस्रवको रोकनेमें कारण है, उसको निश्चयसे भावसंवर कहते हैं। और जो द्रव्यास्रवको रोकनेमें कारण है सो दूसरा अर्थात् द्रव्यसंवर है ॥ ३४ ॥

व्याख्या। "चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू सो भावसंवरो खलु" चेतनपरिणामो यः कथंभूतः कर्मास्रवनिरोधने हेतुः स भावसंवरो भवति खलु निश्चयेन। "दव्वासवरोहणे अण्णो" द्रव्यकर्मास्रवनिरोधने सत्यन्यो द्रव्यसंवर इति। तद्यथा-निश्चयेन स्वतः सिद्धत्वात्परकारणनिरपेक्षः, स चैवाविनश्वरत्वान्नित्यः परमोद्योतस्वभावत्वात्स्वपरप्रकाशनसमर्थः, अनाद्यनन्तत्वादादिमध्यान्तमुक्तः, दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धादिस-

मस्तरागादिविभावमलरहितत्वादत्यन्तनिर्मलः, परमचैतन्यविलासलक्षणत्वाच्चिदुच्छलननिर्भरः, स्वाभाविकपरमानन्दैकलक्षणत्वात्परमसुखमूर्तिः, निरास्रवसहजस्वभावत्वात्सर्वकर्मसंवरहेतुरित्युक्तलक्षणः परमात्मा तत्स्वभावेनोत्पन्नो योऽसौ शुद्धचेतनपरिणामः स भावसंवरो भवति । यस्तु भावसंवरात्कारणभूतादुत्पन्नः कार्यभूतो नवतरद्रव्यकर्मागमनाभावः स द्रव्यसंवर इत्यर्थः ॥

व्याख्यार्थः—"चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू सो भावसंवरो खलु" जो चेतनका परिणाम कर्मके आस्रवको रोकनेका कारण होता है, वह निश्चयसे भावसंवर है । "दव्वासवरोहणे अण्णो" द्रव्य कर्मोंके आस्रवका निरोध होनेपर दूसरा द्रव्यसंवर होता है । सो इस प्रकार है—निश्चयनयसे स्वयं सिद्ध होनेसे अन्य कारणकी अपेक्षासे शून्य, अविनाशी होनेसे नित्य, परम उद्योत (प्रकाश) स्वभाव होनेसे अपने और परके प्रकाशनेमें समर्थ, अनादि अनन्त होनेसे आदि मध्य और अन्तरहित, देखे सुने और अनुभवमें किये हुए जो भोग हैं उनकी आकांक्षा (चाह) रूप जो निदान, बंध आदि समस्त रागादिक विभावमल उनसे रहित होनेके कारण अत्यन्त निर्मल, परम चैतन्यविलासरूप लक्षणका धारक होनेसे चित् चमत्कार (चिन्मय) स्वरूप, स्वाभाविक परमानन्द स्वरूप होनेसे परम सुखकी मूर्त्तिका धारक और आस्रवरहित सहज स्वभाव होनेसे सब कर्मोंके संवर (रोकने) में कारण, इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणोंका धारक जो परमात्मा है उसके स्वभावसे उत्पन्न जो यह शुद्ध चेतन परिणाम है सो भावसंवर है। और कारणभूत भावसंवरसे उत्पन्न हुआ जो कार्यरूप नवीन द्रव्य कर्मोंके आगमनका अभाव है सो द्रव्य संवर है । इस प्रकार गाथार्थ है ॥

अथ संवरविषयनयविभागः कथ्यते । तथा हि मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायपर्यन्तमुपर्युपरि मन्दत्वात्तारतम्येन तावदशुद्धनिश्चयो वर्त्तते । तस्य मध्ये पुनर्गुणस्थानभेदेन शुभाशुभशुद्धानुष्टानरूपयोगत्रयव्यापारस्तिष्ठति । तदुच्यते—मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रगुणस्थानेषूपर्युपरि मन्दत्वेनाशुभोपयोगो वर्त्तते, ततोऽप्यसंयतसम्यग्दृष्टिश्रावकप्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोगसाधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्त्तते, तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्तं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेशशुद्धनयरूपशुद्धोपयोगो वर्त्तते, तत्रैवं मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने संवरो नास्ति, सासादनादिगुणस्थानेषु "सोलसपणवीसणभं दसचउछक्केक्कबंधवोछिन्ना । दुगतीसचदुरपुव्वे पणसोलहजोगिणो एक्को । १ ।" इति बन्धविच्छेदत्रिभङ्गीकथितक्रमेणोपर्युपरि प्रकर्षेण संवरो ज्ञातव्य इति । अशुद्धनिश्चयमध्ये मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानेषूपयोगत्रयं व्याख्यातं, तत्राशुद्धनिश्चये शुद्धोपयोगः कथं घटत इति चेत्तत्रोत्तरं—शुद्धोपयोगे शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठति तेन कारणेन शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते । स च संवरशब्दवाच्यः शुद्धोपयोगः संसारकारणभूतमिथ्यात्वरागाद्यशुद्धपर्यायवदशुद्धो न भवति तथैव फलभूतकेवलज्ञानलक्षणशुद्धपर्यायवत् शुद्धोऽपि न भवति किन्तु ताभ्यामशुद्धशुद्धपर्यायाभ्यां विलक्षणं शुद्धात्मानुभूतिरूप-

निश्चयरत्नत्रयात्मकं मोक्षकारणमेकदेशव्यक्तिरूपमेकदेशनिरावरणं च तृतीयमवस्थान्तरं भण्यते ।

अब संवरके विषयमें नयोंका विभाग कहते हैं । सो इस प्रकार है कि–मिथ्यात्वगुणस्थानको आदि लेकर, क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान पर्यन्त ऊपर ऊपर मन्दतासे तारतम्यसे अशुद्ध निश्चय वर्त्तता है । और उसके मध्यमें गुणस्थानोंके भेदसे शुभ अशुभ और शुद्ध अनुष्ठान रूप तीन योगोंका व्यापार रहता है । सो कहते हैं–मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र इन आदि तीनों गुणस्थानोंमें ऊपर २ मन्दतासे अशुभ उपयोग रहता है; अर्थात् जो अशुभोपयोग प्रथम गुणस्थानमें है, उससे कम दूसरेमें और दूसरेसे अल्प तीसरेमें है । उसके आगे असंयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक और प्रमत्त नामक जो तीन गुणस्थान हैं इनमें परंपरासे शुद्ध उपयोगका साधक ऊपर २ तारतम्यसे शुभ उपयोग प्रवर्त्तता है । इनके पश्चात् अप्रमत्त आदि क्षीणकषाय पर्यन्त ६ गुणस्थानोंमें जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेदसे विवक्षित एकदेश शुद्ध नयरूप शुद्ध उपयोग वर्त्तता है । उनमें व्यवस्था इस प्रकार है कि–मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थानमें तो संवर है ही नहीं और सासादन आदि "गुणस्थानोंमें सोलसपणवीसणमं दस चउदकेकबंधवोछिन्ना । दुगतीस चदुरपुव्वे पणसोलह जोगिणो एक्को । १ ।" इस प्रकार बंधविच्छेद त्रिभंगीमें कहे हुए क्रमके अनुसार ऊपर २ अधिकतासे संवर जानना चाहिये । ऐसे अशुद्ध निश्चयनयके मध्यमें मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंमें अशुभ, शुभ और शुद्धरूप तीनों उपयोगोंका व्याख्यान किया । इस अशुद्ध निश्चयमें शुद्ध उपयोग किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ऐसा प्रश्न करो तो उसमें उत्तर यह है कि शुद्ध उपयोगमें शुद्ध बुद्ध एक स्वभावका धारक जो निज आत्मा है सो ध्येय होता है, इस कारण शुद्ध ध्येय (ध्यान करनेयोग्य पदार्थ) होनेसे शुद्ध अवलम्बन (आधार) पनेसे तथा शुद्ध आत्मस्वरूपका साधक होनेसे शुद्धोपयोग सिद्ध होता है । और वह 'संवर' इस शब्दसे कहे जाने योग्य जो शुद्धोपयोग है सो संसारके कारणभूत जो मिथ्यात्व, राग आदि अशुद्ध पर्याय हैं उनकीसी तरह अशुद्ध नहीं होता है और इसी प्रकार फलभूत जो केवलज्ञान स्वरूप शुद्ध पर्याय है उसकी भांति शुद्ध भी नहीं होता है; किन्तु उन अशुद्ध तथा शुद्ध दोनों पर्यायोंसे विलक्षण, शुद्ध आत्माके अनुभवस्वरूप निश्चय रत्नत्रयरूप, मोक्षका कारण, एक देशमें व्यक्तिरूप (प्रकटरूप) और एक देशमें आवरणरहित ऐसा तृतीय अवस्थान्तररूप कहा जाता है ।

कश्चिदाह–केवलज्ञानं सकलनिरावरणं शुद्धं तस्य कारणेनापि सकलनिरावरणेन शुद्धेन भाव्यम्, उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति वचनात् । तत्रोत्तरं दीयते–युक्तमुक्तं भवता परं किन्तूपादानकारणमपि षोडशवर्णिकासुवर्णकार्यस्याधस्तनवर्णिकोपादानकारण-

वत्, मृन्मयकलशकार्यस्य मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलोपादानकारणवदिति च कार्यादेकदेशेन भिन्नं भवति । यदि पुनरेकान्तेनोपादानकारणस्य कार्येण सहाभेदो भेदो वा भवति तर्हि पूर्वोक्तसुवर्णमृत्तिकादृष्टान्तद्वयवत्कार्यकारणभावो न घटते ततः किं सिद्धं—एकदेशेन निरावरणत्वेन क्षायोपशमिकज्ञानलक्षणमेकदेशव्यक्तिरूपं विवक्षितैकदेशे शुद्धनयेन संवरशब्दवाच्यं शुद्धोपयोगस्वरूपं मुक्तिकारणं भवति । यच्च लब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदजीवे नित्योद्घाटं निरावरणं ज्ञानं श्रूयते तदपि सूक्ष्मनिगोदसर्वजघन्यक्षयोपशमापेक्षया निरावरणं न च सर्वथा । कस्मादिति चेत्—तदावरणे जीवाभावः प्राप्नोति । वस्तुत उपरितनक्षायोपशमिकज्ञानापेक्षया केवलज्ञानापेक्षया च तदपि सावरणं संसारिणां क्षायिकज्ञानाभावाच्च क्षायोपशमिकमेव । यदि पुनर्लोचनपटलस्यैकदेशनिरावरणवत्केवलज्ञानांशरूपं भवति तर्हि तेनैकदेशेनापि लोकालोकप्रत्यक्षत्वं प्राप्नोति न च तथा दृश्यते । किन्तु प्रचुरमेघप्रच्छादितादित्यविम्ववन्निविडलोचनपटलवद्वा स्तोकं प्रकाशयतीत्यर्थः ॥

अब यहां कोई शंका करता है कि केवलज्ञान समस्त आवरणोंसे रहित और शुद्ध है इसलिये केवलज्ञानका कारण भी समस्त आवरणों रहित तथा शुद्ध होना चाहिये। क्योंकि, उपादान कारणके समान कार्य होता है ऐसा वचन है । अब इस शंकाका उत्तर दिया जाता है कि आपने ठीक कहा परन्तु उपादान कारण भी सोलह वानीके सुवर्णरूप कार्यके अधोभागवर्त्तिनी (पूर्ववर्त्तिनी) वर्णिकारूप उपादान कारणके समान और मृत्तिकारूप कलशकार्यके प्रति मृत्तिकाका पिण्ड, स्थास, कोश, एवं कुशूलरूप उपादान कारणके सदृश कार्यसे एक देशसे भिन्न होता है अर्थात् सोलह वानीके सोनेके प्रति जैसे पहलेकी सब पन्दरह वर्णिकायें उपादान कारण हैं और घटके प्रति जैसे मृत्तिकापिंड, स्थास, कोश, कुशूल आदि उपादान कारण हैं सो सोलह वानीके सुवर्ण और घटरूप कार्यसे एकदेशभिन्न हैं (सर्वथा सोलह वानीके सुवर्णस्वरूप तथा घटरूप नहीं है) इसी प्रकार समस्त उपादान कारण कार्यसे एकदेश भिन्न होते हैं। और यदि सर्वथा उपादानकारणका कार्यके साथ अभेद हो तो पूर्वोक्त जो सुवर्ण और मृत्तिकाके दो दृष्टान्त हैं उनके समान कार्य और कारणभाव ही नहीं सिद्ध हो अर्थात् सोलह वानीके सुवर्णको ही सोलह वानीके सुवर्णरूप कार्यके प्रति उपादान कारण माना जावे अथवा घटको ही घटके प्रति उपादान कारण मानैं तो यह इसका कारण है यह इसका कार्य है इस प्रकारका कार्य कारणभाव नहीं हो सकता । इस कारण क्या सिद्ध हुआ कि एकदेश निरावरणतासे क्षायोपशमिक ज्ञानरूप लक्षणका धारक एकदेश व्यक्तिरूप और विवक्षित एक देशमें शुद्ध नयसे "संवर" इस शब्दसे वाच्य जो शुद्ध उपयोगका स्वरूप है सो मुक्तिका कारण होता है । और जो लब्धि अपर्याप्त सूक्ष्म निगोद जीवमें नित्य उद्घाट (खुला हुआ) तथा आवरणरहित ज्ञान सुना जाता है वह भी सूक्ष्म निगोदमें सर्व जघन्य जो क्षयोपशम है उसकी अपेक्षासे आवरणरहित है, सर्वथा नहीं । ऐसा

क्यों है? इसका उत्तर यह है कि यदि ज्ञानका आवरण ही हो तो जीवका अभाव प्राप्त होता है। यथार्थमें तो उपरिवर्ती क्षायोपशमिक ज्ञानकी अपेक्षासे और केवल ज्ञानकी अपेक्षासे वह ज्ञान भी आवरणसहित है और संसारी जीवोंके क्षायिक ज्ञानका अभाव है इसलिये क्षायोपशमिक ही है। और यदि नेत्रपटलके एकदेशमें निरावरणके तुल्य वह ज्ञान केवल ज्ञानांशरूप हो तो उस एकदेशसे भी लोक तथा अलोकका प्रत्यक्ष प्राप्त हो जाय अर्थात् लोक अलोक प्रत्यक्षमें जान पड़ें; परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता किन्तु अधिक मेघों (वद्दलों)से आच्छादित सूर्यके विम्वके समान अथवा निविड नेत्रपटलके समान वह किंचित् २ प्रकाश करता है, यह तात्पर्य है॥

अथ क्षयोपशमलक्षणं कथ्यते–सर्वप्रकारेणात्मगुणप्रच्छादिकाः कर्मशक्तयः सर्वघातिस्पर्द्धकानि भण्यन्ते, विवक्षितैकदेशेनात्मगुणप्रच्छादिकाः शक्तयो देशघातिस्पर्द्धकानि भण्यन्ते, सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयाभाव एव क्षयस्तेषामेवास्तित्वमुपशम उच्यते सर्वघात्युदयाभावलक्षणक्षयेण सहित उपशमः तेषामेकदेशघातिस्पर्द्धकानामुदयश्चेति समुदायेन क्षयोपशमो भण्यते। क्षयोपशमे भवः क्षायोपशमिको भावः। अथवा देशघातिस्पर्द्धकोदये सति जीव एकदेशेन ज्ञानादिगुणं लभते यत्र स क्षायोपशमिको भावः। तेन किं सिद्धं–पूर्वोक्तसूक्ष्मनिगोदजीवे ज्ञानावरणीयदेशघातिस्पर्द्धकोदये सत्येकदेशेन ज्ञानगुणं लभ्यते तेन कारणेन तत् क्षायोपशमिकं ज्ञानं न च क्षायिकं कस्मादेकदेशोदयसद्भावादिति। अयमत्रार्थः–यद्यपि पूर्वोक्तं शुद्धोपयोगलक्षणं क्षायोपशमिकं ज्ञानं मुक्तिकारणं भवति तथापि ध्यातृपुरुषेण यदेव सकलनिरावरणमखण्डैकसकलविमलकेवलज्ञानलक्षणं परमात्मस्वरूपं तदेवाहं न च खण्डज्ञानरूप इति भावनीयम्। इति संवरतत्त्वव्याख्यानविषये नयविभागो ज्ञातव्य इति॥ ३४॥

अब क्षयोपशमका लक्षण कहते हैं–सब प्रकारसे आत्माके गुणोंको प्रच्छादन करनेवाली जो कर्मोंकी शक्तियें हैं उनको सर्वघातिस्पर्द्धक कहते हैं। और विवक्षित एकदेशसे जो आत्माके गुणोंको प्रच्छादन करनेवाली कर्मशक्तियें हैं वे देशघातिस्पर्द्धक कहलाती हैं। सर्वघातिस्पर्द्धकोंके उदयका जो अभाव है सोही क्षय है और उन्ही सर्वघातिस्पर्द्धकोंका जो अस्तित्व (विद्यमानता) है वह उपशम कहलाता है। सर्वघातिस्पर्द्धकोंके उदयका अभावरूप जो क्षय है उस सहित जो उन एकदेश घातिस्पर्द्धकोंका उदयरूप उपशम सो क्षयोपशम, ऐसे समुदायसे क्षयोपशम कहा जाता है। क्षयोपशममें जो हो वह क्षायोपशमिक भाव है। अथवा देशघातिस्पर्द्धकोंके उदयके भी होते हुए जीव जहांपर एकदेशसे ज्ञानादि गुण प्राप्त करता है वह क्षायोपशमिक भाव है। इससे क्या सिद्ध हुआ कि पूर्वोक्त सूक्ष्म निगोद जीवमें ज्ञानावरणीय कर्मके देशघातिस्पर्द्धकोंका उदय होनेपर एकदेशसे ज्ञान आदि गुण प्राप्त होते हैं इस कारण वह ज्ञान क्षायोपशमिक है और क्षायिक नहीं; क्योंकि, एकदेशमें उदयका सद्भाव है। यहांपर तात्पर्य यह है कि यद्यपि पूर्वोक्त शुद्धोपयोग

लक्षणका धारक क्षायोपशमिक ज्ञान मुक्तिका कारण है तथापि ध्यान करनेवाले पुरुषको "जोही सकल आवरणों रहित, अखंड एक सकल विमल केवल ज्ञानरूप परमात्माका स्वरूप है सोही मैं हूं और खंड ज्ञानरूप नहीं" ऐसा ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार संवर तत्त्वके व्याख्यानके विषें नयका विभाग जानना चाहिये ॥ ३४ ॥

अथ संवरकारणभेदान् कथयतीत्येका पातनिका, द्वितीया तु कैः कृत्वा संवरो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददातीति, पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति भगवान्।

अब संवरके कारणोंके भेद कहते हैं, यह तो एक भूमिका है और किनसे संवर होता है ? इस प्रश्नमें उत्तर देनेवाली दूसरी भूमिका है, इन दोनों पातनिका (भूमिका)ओंको मनमें धारण करके, भगवान् श्रीनेमिचन्द्र स्वामी इस अग्रिम गाथासूत्रका प्रतिपादन करते हैं ॥

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य ।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवर विसेसा ॥ ३५ ॥

गाथाभावार्थः—पांच व्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहोंका जय तथा अनेक प्रकारका चारित्र इस प्रकार ये सब भावसंवरके भेद जानने चाहिये ॥

व्याख्या । 'वदसमिदीगुत्तीओ' व्रतसमितिगुप्तयः "धम्माणुपेहा" धर्मस्तथैवानुप्रेक्षाः "परीसहजओ य" परीषहजयश्च "चारित्तं बहुभेया" चारित्रं बहुभेदयुक्तं "णादव्वा भावसंवरविसेसा" एते सर्वे मिलिता भावसंवरविशेषा भेदा ज्ञातव्याः । अथ विस्तरः-निश्चयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुखसुधास्वादबलेन समस्तशुभाशुभरागादिविकल्पनिवृत्तिर्व्रतम्, व्यवहारेण तत्साधकं हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाच्च यावज्जीवनिवृत्तिलक्षणं पञ्चविधं व्रतम्। निश्चयेनानन्तज्ञानादिस्वभावे निजात्मनि सम् सम्यक् समस्तरागादिविभावपरित्यागेन तल्लीनतच्चिन्तनतन्मयत्वेन अयनं गमनं परिणमनं समितिः, व्यवहारेण तद्बहिरङ्गसहकारिकारणभूताचारादिचरणग्रन्थोक्ता ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञाः पञ्च समितयः। निश्चयेन सहजशुद्धात्मभावनालक्षणे गूढस्थाने संसारकारणरागादिभयात्स्वस्यात्मनो गोपनं प्रच्छादनं झम्पनं प्रवेशनं रक्षणं गुप्तिः, व्यवहारेण बहिरङ्गसाधनार्थं मनोवचनकायव्यापारनिरोधो गुप्तिः। निश्चयेन संसारे पतन्तमात्मानं धरतीति विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणनिजशुद्धात्मभावनात्मको धर्मः, व्यवहारेण तत्साधनार्थं देवेन्द्रनरेन्द्रादिवन्द्यपदे धरतीत्युत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्यलक्षणो दशप्रकारो धर्मः।

व्याख्यार्थः—"वदसमिदीगुत्तीओ" व्रत, समिति और गुप्तियें, "धम्माणुपेहा" धर्म तथा अनुप्रेक्षा "परीसहजओ य" और परीषहोंका जीतना "चारित्तं बहुभेया" अनेक प्रकारका चारित्र "णादव्वा भावसंवरविसेसा" ये सब मिले हुए भावसंवरके भेद जानने चाहिये। अब इस उक्त विषयका विस्तारसे वर्णन करते हैं—निश्चयनयसे विशुद्ध ज्ञान

और दर्शनरूप स्वभावका धारक जो निज आत्मतत्त्व उसकी भावनासे उत्पन्न जो सुखरूपी अमृत उसके आस्वादके बलसे संपूर्ण शुभ तथा अशुभ राग आदि विकल्पोंसे जो रहित होना सो व्रत है, और व्यवहारसे उस निश्चय व्रतको साधनेवाला हिंसा, अनृत (झूंठ), चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे जीवन पर्यन्त रहितता रूप लक्षणका धारक पांच प्रकारका व्रत है। निश्चयनयकी विवक्षासे अनन्त ज्ञान आदि स्वभावका धारक जो निज आत्मा है उसमें 'सम्' भले प्रकार अर्थात् समस्त राग आदि विभावोंके त्याग द्वारा आत्मामें लीन होना, आत्माका ध्यान करना, आत्मरूप होना आदिरूपसे जो अयन कहिये गमन अर्थात् परिणमन सो समिति है। व्यवहारसे उस निश्चय समितिके बहिरंग सहकारी कारणभूत और आचार आदि चारित्र विषयक ग्रन्थोंमें कही हुई ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपणा, और उत्सर्ग इन नामोंकी धारक पांच समितियें हैं। निश्चयसे सहज शुद्ध आत्माकी भावनारूप लक्षणके धारक गूढ (गुप्त) स्थानमें संसारके कारणभूत जो रागादि हैं उनके भयसे अपना आत्माका जो गोपन (छिपाना) प्रच्छादन, झंपन, प्रवेशन अथवा रक्षण करना है सो गुप्ति है, व्यवहारसे बहिरंग साधनके अर्थ जो मन, वचन तथा कायके व्यापारको रोकना है, सो गुप्ति है। निश्चयसे संसारमें गिरते हुए आत्माको जो धारण करै सो विशुद्ध ज्ञान तथा दर्शन लक्षण निजशुद्ध आत्माकी भावना स्वरूप धर्म है। व्यवहारसे उसके साधनके लिये इन्द्र, चक्रवर्ती आदिका जो वंदने योग्य पद है उसमें धारण करनेवाला उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्यरूप लक्षणका धारक दश प्रकारका धर्म है॥

द्वादशानुप्रेक्षाः कथ्यन्ते—अध्रुवाशरणसंसारैकत्वान्यत्वशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः। ताश्च कथ्यन्ते। तद्यथा—द्रव्यार्थिकनयेन टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेनाविनश्वरस्वभावनिजपरमात्मद्रव्यादन्यद् भिन्नं यज्जीवसंबन्धे अशुद्धनिश्चयनयेन रागादिविभावरूपं भावकर्म, अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यकर्मनोकर्मरूपं च तथैव तत्स्वस्वामिभावसम्बन्धेन गृहीतं यच्चेतनं वनितादिकम्, अचेतनं सुवर्णादिकं तदुभयमिश्रं चेत्युक्तलक्षणं तत्सर्वमध्रुवमिति भावयितव्यम्। तद्भावनासहितपुरुषस्य तेषां वियोगेऽपि सत्युच्छिष्टेष्विव ममत्वं न भवति तत्र ममत्वाभावादविनश्वरनिजपरमात्मानमेव भेदाभेदरत्नत्रयभावनया भावयति, यादृशमविनश्वरमात्मानं भावयति तादृशमेवाक्षयानन्तसुखस्वभावं मुक्तात्मानं प्राप्नोति। इत्यध्रुवानुप्रेक्षा गता।

अब बारह अनुप्रेक्षाओंका कथन करते हैं—अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इनका जो विचार करना है सो अनुप्रेक्षा हैं। उनको कहते हैं। सो ऐसे है—द्रव्यार्थिक नयसे टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाव पनेसे अविनाशी स्वभावका धारक जो निज परमात्मा द्रव्य है उससे भिन्न जो अशुद्ध निश्चयनयसे रागादि विभावरूप भावकर्म और अनुपचरित असद्भूत व्यवहारसे

द्रव्यकर्म तथा नोकर्मरूप, तथा उसके स्वस्वामिभावसंबंधसे ग्रहण किया हुआ स्त्री आदि चेतन द्रव्य, सुवर्ण आदि अचेतन द्रव्य और चेतन तथा अचेतनसे मिला हुआ मिश्र पदार्थ इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणोंसहित जो ये हैं सो सब अध्रुव हैं, इस प्रकार भावना चाहिये । उस भावनासहित जो पुरुष है उसके उनके वियोग होनेपर भी उच्छिष्ट (जूंठे) भोजनोंके समान ममत्व नहीं होता है । और उनमें ममत्वका अभाव होनेसे अविनाशी निज परमात्माको ही भेद तथा अभेदरूप रत्नत्रयकी भावनासे भावन करता (भावता) है और जैसे अविनश्वर आत्माको भावता है, वैसे ही अक्षय अनन्त सुखरूप स्वभावका धारक जो मुक्त आत्मा है उसको प्राप्त होता है । इस प्रकार अध्रुव भावना पूर्ण हुई ।

अथ निश्चयरत्नत्रयपरिणतं स्वशुद्धात्मद्रव्यं तद्बहिरङ्गसहकारिकारणभूतं पञ्चपरमेष्ठ्याराधनञ्च शरणम्, तस्माद्बहिर्भूता ये देवेन्द्रचक्रवर्त्तिसुभटकोटिभटपुत्रादिचेतना गिरिदुर्गभूविवरमणिमन्त्राज्ञाप्रसादौपधादयः पुनरचेतनास्तदुभयात्मका मिश्राश्च मरणकालादौ महाटव्यां व्याघ्रगृहीतमृगबालस्येव महासमुद्रे पोतच्युतपक्षिण इव शरणं न भवन्तीति विज्ञेयम् । तद्विज्ञाय भोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धादिनिरालम्बने स्वसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतसालम्बने स्वशुद्धात्मन्येवावलम्बनं कृत्वा भावनां करोति । यादृशं शरणभूतमात्मानं भावयति तादृशमेव सर्वकालशरणभूतं शरणागतवज्रपञ्जरसदृशं निजशुद्धात्मानं प्राप्नोति । इत्यशरणानुप्रेक्षा व्याख्याता ॥

अब अशरण अनुप्रेक्षाका वर्णन करते हैं । निश्चयरत्नत्रयमें परिणत जो निजशुद्धात्मद्रव्य है सो और उसका बहिरंग सहकारी कारणभूत जो पंचपरमेष्ठियोंका आराधन है सो शरण है । उससे बहिर्भूत (भिन्न) जो देव, इन्द्र, चक्रवर्त्ती, सुभट, कोटिभट और पुत्र आदि चेतन, पर्वत, किला, भूविवर (बहरा), मणि, मन्त्र, आज्ञा, प्रसाद और औषध आदि अचेतन तथा चेतन और अचेतन इन दोनोंसे मिश्र, ये सब पदार्थ मरण आदिके समयमें जैसे महावनमें व्याघ्रसे पकड़े हुए हिरणके बच्चेको अथवा महासमुद्रमें जहाजसे च्युत (रहित) हुए पक्षीके कोई शरण नहीं है, उसी प्रकार शरण नहीं होते हैं, यह जानना चाहिये । और अन्य वस्तुको अपना शरण न जानकर, भोगकी वांछारूप निदानबंध आदिकके अवलम्बन (आधार)से रहित तथा स्व (आत्म) ज्ञानसे उत्पन्न सुखरूप अमृतका धारक जो निजशुद्ध आत्मा है, उसीका अवलंबन करके, उसकी भावनाको करता है । और जैसे आत्माको यह शरणभूत भावता है, वैसेही सब कालमें शरणभूत और शरणमें आये हुएके अर्थ वज्रके पींजरेके समान जो निजशुद्ध आत्मा है, उसको प्राप्त होता है । इस प्रकार द्वितीय अशरण अनुप्रेक्षाका व्याख्यान हुआ ॥

अथ शुद्धात्मद्रव्यादितराणि सपूर्वापूर्वमिश्रपुद्गलद्रव्याणि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपेण शरीरपोषणार्थाशनपानादिपञ्चेन्द्रियविषयरूपेण चानन्तवारान् गृहीत्वा विमुक्तानीति द्रव्यसंसारः । स्वशुद्धात्मद्रव्यसंबन्धिसहजशुद्धलोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशेभ्यो भिन्ना ये लोकक्षे-

त्रप्रदेशास्तत्रैकैकं प्रदेशं व्याप्यानन्तवारान् यत्र न जातो न मृतोऽयं जीवः स कोऽपि प्रदेशो नास्तीति क्षेत्रसंसारः । शुद्धात्मानुभूतिरूपनिर्विकल्पसमाधिकालं विहाय प्रत्येकं दशकोटाकोटिसागरेण प्रमितोत्सर्पिण्यवसर्पिण्येकैकसमये नानापरावर्त्तनकालेनानन्तवारानयं जीवो यत्र न जातो न मृतः स समयो नास्तीति कालसंसारः । अभेदरत्नत्रयात्मकसमाधिवलेन सिद्धगतौ स्वात्मोपलब्धिलक्षणसिद्धपर्यायरूपेण योऽसावुत्पादो भवस्तं विहाय नारकतिर्यग्मनुष्यभवेषु तथैव देवभवेषु च निश्चयरत्नत्रयभावनारहितभोगाकाङ्क्षानिदानपूर्वकद्रव्यतपश्चरणरूपजिनदीक्षाबलेन नवग्रैवेयकपर्यन्तं "सक्को सक्कमहिस्सी दक्खिणइंदा य लोयवाला य। लोयंतिया य देवा तच्छ चुदा णिव्वुदिं जंति । १ ।" इति गाथाकथितपदानि तथागमनिषिद्धान्यन्यपदानि च त्यक्त्वा भवविध्वंसकनिजशुद्धात्मभावनारहितो भवोत्पादकमिथ्यात्वरागादिभावनासहितश्च सन्नयं जीवोऽनन्तवारान् जीवितो मृतश्चेति भवसंसारो ज्ञातव्यः ।

अब तृतीय संसारानुप्रेक्षाका वर्णन करते हैं । शुद्ध आत्मद्रव्यसे भिन्न जो सपूर्व, अपूर्व तथा मिश्र ऐसे पुद्गल द्रव्य हैं; उनको ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म रूपसे तथा शरीरके पोषणके लिये भोजन पान आदि पांचों इन्द्रियोंके विषयरूपसे इस जीवने अनन्त वार ग्रहण करके छोड़े हैं । इस प्रकार द्रव्यसंसार है । निजशुद्ध आत्मारूप द्रव्यसंबंधी जो सहज शुद्ध लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेश हैं, उनसे भिन्न जो लोकरूप क्षेत्रके प्रदेश हैं उनमें, एक एक प्रदेशको व्याप्त करके, जिस प्रदेशमें अनंत वार यह जीव नहीं उत्पन्न हुआ हो और न मरा हो, वह कोई भी प्रदेश नहीं है । यह क्षेत्र संसार है । निजशुद्ध आत्माके अनुभव रूप निर्विकल्प समाधि (ध्यान)के समयको त्यागकर, दशकोटाकोटी सागर प्रमाण जो उत्सर्पिणी काल और दशकोटाकोटिसागर प्रमाण ही जो अवसर्पिणी काल है, उसके एक एक समयमें अनेक परावर्त्तन कालसे यह जीव यहांपर अनन्त वार न जन्मा हो और न मरा हो वह समय नहीं है । इस प्रकार काल संसार है । अभेद रत्नत्रय स्वरूप ध्यानके बलसे सिद्धगतिमें निज आत्माकी प्राप्ति लक्षण सिद्ध पर्यायरूप जो उत्पाद (जन्म) है उसको त्यागकर नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवोंके भवोंमें निश्चयरत्नत्रयकी भावनासे रहित और भोग वांछादि निदान सहित जो द्रव्यतपश्चरणरूप जिनदीक्षा (मुनिपना) है उसके बलसे नव ग्रैवेयक पर्यन्त "प्रथम स्वर्गका इन्द्र, प्रथम स्वर्गकी महा इन्द्राणी शची, दक्षिण दिशाके इन्द्र, लोकपाल और लोकान्तिक देव ये सब स्वर्गसे च्युत होकर निर्वृति (मोक्ष)को प्राप्त होते हैं । १ ।" ऐसे गाथामें कहे हुए पूर्वोक्त पद तथा अन्य अन्य भी जो आगममें निषिद्ध (मना किये हुए) उत्तम पद हैं उनको छोड़कर, भवका नाश करनेवाली जो निज आत्माकी भावना है उससे रहित तथा भवको उत्पन्न करनेवाले मिथ्यात्व, राग आदि जो भाव हैं उनसे सहित हुआ यह जीव अनन्तवार जन्मा है और मरा है । इस प्रकार यह पूर्वकथित भवसंसारका स्वरूप जानना चाहिये ।

अथ भावसंसारः कथ्यते। तद्यथा—सर्वजघन्यप्रकृतिबन्धप्रदेशबन्धनिमित्तानि सर्वजघन्यमनोवचनकायपरिस्पन्दरूपाणि श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि चतुःस्थानपतितानि सर्वजघन्ययोगस्थानानि भवन्ति। तथैव सर्वोत्कृष्टप्रकृतिबन्धप्रदेशबन्धनिमितानि सर्वोत्कृष्टमनोवचनकायव्यापाररूपाणि तद्योग्यश्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि चतुःस्थानपतितानि सर्वोत्कृष्टयोगस्थानानि च भवन्ति। तथैव सर्वजघन्यस्थितिबन्धनिमित्तानि सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थानानि तद्योग्यासंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि च भवन्ति। तथैव च सर्वोत्कृष्टकषायाध्यवसायस्थानानि तान्यप्यसंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि च भवन्ति। तथैव सर्वजघन्यानुभागबन्धनिमित्तानि सर्वजघन्यानुभागाध्यवसायस्थानानि तान्यप्यसंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि भवन्ति। तथैव च सर्वोत्कृष्टानुभागबन्धनिमित्तानि सर्वोत्कृष्टानुभागाध्यवसायस्थानानि तान्यप्यसंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि च विज्ञेयानि। तेनैव प्रकारेण स्वकीयस्वकीयजघन्योत्कृष्टयोर्मध्ये तारतम्येन मध्यमानि च भवन्ति। तथैव जघन्यादुत्कृष्टपर्यन्तानि ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतीनांस्थितिबन्धस्थानानि च। तानि सर्वाणि परमागमकथितानुसारेणानन्तवारान् भ्रमितान्यनेन जीवेन परं किन्तु पूर्वोक्तसमस्तप्रकृतिबन्धादीनां सद्भावविनाशकारणानि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाणि यानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि तान्येव न लब्धानि। इति भावसंसारः।

अब भाव संसारका कथन करते हैं। वह इस प्रकार है—सबसे जघन्य प्रकृति बंध तथा प्रदेश बंधके कारणभूत और उसके योग्य श्रेणीके असंख्येय भाग प्रमाण वृद्धि हानि रूप चार स्थानोंमें पतित जो सर्व जघन्य मन, वचन तथा कायके परिस्पन्द हैं; वे सर्वजघन्य योगस्थान होते हैं। इसी प्रकार सबसे अधिक प्रकृतिबंध तथा प्रदेशबंधके निमित्त, उनके योग्य श्रेणीके असंख्येय भाग प्रमाण चार स्थानोंमें पतित जो सर्वोत्कृष्ट मन, वचन और कायके व्यापार हैं; वे सर्वोत्कृष्ट योग स्थान होते हैं। इसी प्रकार सर्वजघन्य स्थिति बंधके कारण जो सर्वजघन्य कषायोंके अध्यवसाय स्थान हैं, वे भी उनके योग्य असंख्येय लोक प्रमाण तथा वृद्धिहानिरूप षट् स्थानोंमें पतित होते हैं। एवमेव जो सर्वोत्कृष्ट कषायोंके अध्यवसाय स्थान हैं, वे भी असंख्येय लोक प्रमाण और षट् स्थानोंमें पतित होते हैं। और इसी प्रकार सबसे जघन्य अनुभाग बंधके कारण जो सबसे जघन्य (निकृष्ट) अनुभागोंके अध्यवसाय स्थान हैं वे भी असंख्यात लोक प्रमाण तथा षट् स्थानोंमें पतित होते हैं। तथा इसी प्रकार सबसे उत्कृष्ट अनुभाग बंधके निमित्तभूत जो सर्वोत्कृष्ट अनुभागके अध्यवसाय स्थान हैं उनको भी असंख्यात लोक प्रमाण और षट् स्थानोंमें पतित जानने चाहिये। और इस पूर्वोक्त प्रकारसे ही अपने अपने जघन्य और उत्कृष्टोंके बीचमें तारतम्यसे मध्यम भेद भी होते हैं। और एवमेव जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त ज्ञानावरण आदि मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंके स्थितिबंधके स्थान होते हैं। वे सब परमागममें कही हुई आज्ञाके अनुसार इस जीवने अनन्त वार प्राप्त किये हैं, परन्तु पूर्वोक्त संपूर्ण प्रकृतिबंध

आदिके सद्भावके नाशके कारण जो विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावका धारक निज परमात्मा तत्त्व है उसके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और चारित्ररूप जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र हैं, उन्हींको इस जीवने प्राप्त नहीं किये। इस प्रकार भावसंसारका स्वरूप है।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूपं पञ्चप्रकारं संसारं भावयतोऽस्य जीवस्य संसारातीतस्वशुद्धात्मसंवित्तिनाशकेषु संसारवृद्धिकारणेषु मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगेषु परिणामो न जायते, किन्तु संसारातीतसुखास्वादे रतो भूत्वा स्वशुद्धात्मसंवित्तिबलेन संसारविनाशकनिजनिरञ्जनपरमात्मन्येव भावनां करोति। ततश्च यादृशमेव परमात्मानं भावयति तादृशमेव लब्ध्वा संसारविलक्षणे मोक्षेऽनन्तकालं तिष्ठतीति। अयं तु विशेषः—नित्यनिगोदजीवान् विहाय पञ्चप्रकारसंसारव्याख्यानं ज्ञातव्यम्। कस्मादिति चेत्—नित्यनिगोदजीवानां कालत्रयेऽपि त्रसत्वं नास्तीति। तथा चोक्तं—"अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो। भावकलंकसुपउरा णिगोदवासं न मुंचंति॥ १॥" अनुपममद्वितीयमनादिमिथ्यादृशोऽपि भरतपुत्रास्त्रयोविंशत्यधिकनवशतपरिमाणास्ते च नित्यनिगोदवासिनः क्षपितकर्माण इन्द्रगोपाः संजातास्तेषां च पुञ्जीभूतानामुपरि भरतहस्तिन्या पादो दत्तस्ततस्ते मृत्वापि वर्द्धनकुमारादयो भरतपुत्रा जातास्ते च केनचिदपि सह न वदन्ति। ततो भरतेन समवसरणे भगवान् पृष्टो भगवता च प्राक्तनं वृत्तान्तं कथितम्। तच्छ्रुत्वा ते तपो गृहीत्वा क्षणस्तोककालेन मोक्षं गताः। आचाराराधनाटिप्पणे कथितमास्ते। इति संसारानुप्रेक्षा गता॥

इस पूर्वोक्त प्रकारसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप जो पांच प्रकारका संसार है उसको भावते हुए इस जीवके संसारसे हटानेको कारण जो निजशुद्ध आत्माका ज्ञान है उसका नाश करनेवाले और संसारकी वृद्धिके कारणभूत ऐसे जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं उनमें परिणाम नहीं होता है; किन्तु वह जीव संसारसे अतीत (नहीं होनेवाला) जो सुख है उसके आस्वादमें रत (तत्पर) होके, निजशुद्ध आत्माके ज्ञानके बलसे संसारको नष्ट करनेवाला जो निज निरंजन परमात्मा है, उसीमें भावना करता है। और इसके पश्चात् जैसे परमात्माको भावता है, वैसे ही परमात्माको प्राप्त होके, संसारसे विलक्षण जो मोक्ष है, उसमें अनन्त काल निवास करता है॥ यहांपर विशेष यह है कि नित्य निगोदके जीवोंको छोड़कर, इस उक्त पंच प्रकारके संसारका व्याख्यान जानना चाहिये, अर्थात् नित्य निगोद जीव इस पंच प्रकारके संसारमें परिभ्रमण नहीं करते हैं। क्योंकि—नित्य निगोदवर्त्ती जो जीव हैं उनके तीन कालमें भी त्रसता अर्थात् वेइन्द्रीपने आदिका धारण करना नहीं है। सोही कहा है—"ऐसे अनंत जीव हैं कि जिन्होंने त्रस पर्यायको प्राप्त ही नहीं किया. और भाव कलंकों (अशुभपरिणामों)से भरपूर हैं, जिससे वे निगोदके निवासको नहीं छोड़ते हैं"। और यह बात अनुपम और अद्वितीय है कि "अनादिकालसे मिथ्यादृष्टि ऐसे भी नौसो तेईस (९२३) भरतजीके पुत्र जो कि नित्य निगो-

दके निवासी थे और नित्य निगोदमें कर्मोंकी निर्जरा होनेसे वे इन्द्रगोप (सांवनकी डोकरी) नामक कीड़े हुए, सो उन सबके ढेरपर भरतके हाथीने पैर रख दिया इससे वे मरकर, भरतजीके वर्द्धनकुमार आदि पुत्र हुए और वे किसीके साथ भी न बोलते थे। इस कारण, भरतजीने समवसरणमें भगवान्से पूछा, तो भगवान्ने पुराना सब वृत्तान्त कहा। उसको सुनकर, उन सब वर्द्धनकुमारादि पुत्रोंने तप ग्रहण किया और बहुत ही अल्प कालमें मोक्ष चले गये।" यह कथा आचाराराधनाकी टिप्पणीमें कही हुई है। इस प्रकार संसार अनुप्रेक्षाका व्याख्यान समाप्त हुआ ॥

अथैकत्वानुप्रेक्षा कथ्यते । तद्यथा—निश्चयरत्नत्रयैकलक्षणैकत्वभावनापरिणतस्यास्य जीवस्य निश्चयनयेन सहजानन्दसुखाद्यनन्तगुणाधारभूतं केवलज्ञानमेवैकं सहजं शरीरम्। शरीरं कोऽर्थः स्वरूपं न च सप्तधातुमयौदारिकशरीरम्। तथैवार्त्तरौद्रदुर्ध्यानविलक्षणपरमसामायिकलक्षणैकत्वभावनापरिणतं निजात्मतत्त्वमेवैकं सदा शाश्वतं परमहितकारि न च पुत्रकलत्रगोत्रादिः। तेनैव प्रकारेण परमोपेक्षासंयमलक्षणैकत्वभावनासहितः स्वशुद्धात्मपदार्थ एक एवाविनश्वरहितकारी परमोऽर्थः न च सुवर्णाद्यर्थः। तथैव निर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्ननिर्विकारपरमानन्दैकलक्षणानाकुलत्वस्वभावात्मसुखमेवैकं सुखं न चाकुलत्वोत्पादकेन्द्रियसुखमिति। कस्मादिदं देहबन्धुजनसुवर्णाद्यर्थेन्द्रियसुखादिकं जीवस्य निश्चयेन निराकृतमिति चेत् यतो मरणकाले जीव एक एव गत्यन्तरं गच्छति न च देहादीनि। तथैव रोगव्याप्तिकाले विषयकषायादिदुर्ध्यानरहितः स्वशुद्धात्मैकसहायो भवति। तदपि कथमिति चेत्? यदि चरमदेहो भवति तर्हि केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपं मोक्षं नयति, अचरमदेहस्य तु संसारस्थितिं स्तोकां कृत्वा देवेन्द्राद्यभ्युदयसुखं दत्वा च पश्चात् पारम्पर्येण मोक्षं प्रापयतीत्यर्थः। तथा चोक्तं—"सग्गं तवेण सव्वो, वि पावए किंतु झाणजोयेण। जो पावइ सो पावइ, परं भवे सासयं सोक्खं। १।" एवमेकत्वभावनाफलं ज्ञात्वा निरन्तरं निजशुद्धात्मैकत्वभावना कर्त्तव्या। इत्येकत्वानुप्रेक्षा गता ॥ ३ ॥

अब एकत्व अनुप्रेक्षाका वर्णन करते हैं। वह इस प्रकार है—निश्चयरत्नत्रयरूप एक लक्षणका धारक जो एकत्व है उसकी भावनामें परिणत इस जीवके निश्चयनयसे सहज आनन्द, सुख आदि अनन्त गुणोंका आधाररूप जो केवल ज्ञान है वह एक ही सहज (स्वभाव)से उत्पन्न शरीर है। यहां 'शरीर' इस शब्दका अर्थ स्वरूप समझना; न कि सात धातुओंसे निर्मित औदारिक शरीर। इसी प्रकार आर्त्त और रौद्र इन दोनों ध्यानोंसे विलक्षण (उलटी) जो परमसामायिक रूप एकत्व भावना है उसमें परिणत जो एक अपना आत्मतत्त्व है वही सदा अविनाशी और परम हितका करनेवाला है; और पुत्र, मित्र, कलत्र आदि हितके कर्त्ता नहीं। पूर्वोक्त रीतिसे ही परम उपेक्षा संयमरूप जो एकत्व भावना है; उससे सहित जो निज शुद्धात्म पदार्थ है; वह एकही अविनाशी तथा हितकारी परम अर्थ (धन) है, और सुवर्ण आदिरूप अर्थ (धन) परम अर्थ नहीं है।

एवमेव निर्विकल्प ध्यानसे उत्पन्न तथा निर्विकार परम आनन्दमय लक्षण और आकुलता-रहित स्वभावका धारक ऐसा आत्मसुख ही एक सुख है, और आकुलताको उत्पन्न करनेवाला इन्द्रियजन्य जो सुख है सो सुख नहीं। ये पूर्वोक्त जो जीवके शरीर, बन्धुजन, सुवर्ण आदि अर्थ, और इन्द्रियसुख आदि हैं इनका निश्चयनयसे खंडन क्यों किया है, ऐसी शंका करो तो समाधान यह है कि जब मरणका समय आता है तब यह जीव एक (अकेला) ही दूसरी गतिमें गमन करता है और देह आदि इस जीवके साथ नहीं जाते, किन्तु यहांके यहां ही रह जाते हैं। और जब यह जीव रोगोंसे व्याप्त होता है तब विषय तथा कषाय आदिरूप जो खोटे ध्यान हैं उनसे रहित एक निजशुद्ध आत्माही इसका सहायक होता है। और वह सहायक भी कैसा होता है? इसका उत्तर यह है कि यदि उस जीवका अंतिम शरीर हो तब तो केवल ज्ञान आदिकी प्रकटतारूप जो मोक्ष है उसमें ले जाता है और यदि अंतिम शरीर न हो तो वह शुभ ध्यानरूप शुद्ध आत्मा उस जीवकी जो संसारकी स्थिति है उसको अल्प करके और देव, इन्द्र आदि पर्यायसंबंधी सुखोंको देकर, फिर परंपरासे मोक्षकी प्राप्ति करता है। यह भावार्थ है। सो ही कहा भी है—"तपके करनेसे स्वर्ग सब कोई पाते हैं, परंतु शुभ ध्यानके योगसे जो कोई स्वर्ग पाता है वह अग्रिम भवमें शाश्वत सुख अर्थात् मोक्षको पाता है॥ १॥" ऐसे एकत्व भावनाके फलको जानकर, सदा निजशुद्ध आत्माके एकत्वरूप भावनाही करनी चाहिये। इस प्रकार एकत्व नामक चतुर्थ अनुप्रेक्षा समाप्त हुई॥ ४॥

तथान्यत्वानुप्रेक्षां कथयति। तथा हि—पूर्वोक्तानि यानि देहबन्धुजनसुवर्णाद्यर्थेन्द्रियसुखादीनि कर्माधीनत्वे विनश्वराणि तथैव हेयभूतानि च, तानि सर्वाणि टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेन नित्यात्सर्वप्रकारोपादेयभूतान्निर्विकारपरमचैतन्यचिच्चमत्कारस्वभावान्निजपरमात्मपदार्थान्निश्चयनयेनान्यानि भिन्नानि। तेभ्यः पुनरात्माप्यन्यो भिन्न इति। अयमत्र भावः—एकत्वानुप्रेक्षायामेकोऽहमित्यादिविधिरूपेण व्याख्यानं, अन्यत्वानुप्रेक्षायां तु देहादयो मत्सकाशादन्ये मदीया न भवन्तीति निषेधरूपेण। इत्येकत्वान्यत्वानुप्रेक्षायां विधिनिषेधरूप एव विशेषस्तात्पर्यं तदेव। इत्यन्यत्वानुप्रेक्षा समाप्ता। ५।

अब पंचम अन्यत्व अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं। सो इस प्रकार है—पूर्व एकत्व भावनामें कहे हुए जो देह, बंधुजन, सुवर्ण आदि अर्थ और इन्द्रियसुख आदि हैं वे सब कर्मोंके आधीन हैं इसी कारण विनाश स्वभावके धारक हैं तथा हेय (त्याज्य) स्वरूप भी हैं। इस कारण टङ्कोत्कीर्ण एवं ज्ञायक रूप एक स्वभावसे नित्य, सब प्रकारोंसे उपादेय भूत और विकाररहित परम चैतन्य चित् चमत्कार स्वभावका धारक जो निज परमात्मा पदार्थ है, उससे वे सब निश्चयनयकी अपेक्षासे भिन्न हैं। और आत्मा भी उनसे भिन्न है। भावार्थ यहांपर यह है कि—एकत्व अनुप्रेक्षामें तो 'मैं एक हूं' इत्यादि प्रकारसे विधिरूप

व्याख्यान है और इस अन्यत्व अनुप्रेक्षामें 'देह आदिक पदार्थ मुझसे भिन्न हैं, ये मेरे नहीं हैं' इत्यादि निषेध रूपसे वर्णन है । इस प्रकार एकत्व और अन्यत्व इन दोनों अनुप्रेक्षाओंमें विधि तथा निषेधरूप ही विशेष (भेद) है और तात्पर्य तो दोनोंका एकही है । ऐसे अन्यत्व अनुप्रेक्षा समाप्त हुई ॥ ५ ॥

अतः परमशुचित्वानुप्रेक्षा कथ्यते । तद्यथा—सर्वाशुचिशुक्रशोणितकारणोत्पन्नत्वात्तथैव "वसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः" इत्युक्ताशुचिसप्तधातुमयत्वेन तथा नासिकादिनवरन्ध्रद्वारैरपि स्वरूपेणाशुचित्वात्तथैव मूत्रपुरीषाद्यशुचिमलानामुत्पत्तिस्थानत्वाच्चाशुचिरयं देहः । न केवलमशुचिकारणत्वेनाशुचिः स्वरूपेणाशुच्युत्पादकत्वेन चाशुचिः । शुचि सुगन्धमाल्यवस्त्रादीनामशुचित्वोत्पादकत्वाच्चाशुचिः । इदानीं शुचित्वं कथ्यते—सहजशुद्धकेवलज्ञानादिगुणानामाधारभूतत्वात्स्वयं निश्चयेन शुचिरूपत्वाच्च परमात्मैव शुचिः । "जीवो बह्मा जीवह्मि चेव चरिया हविज्ज जो जदिणो । तं जाण बह्मचेरं विमुक्कपरदेहभत्तीए । १ ।" इति गाथाकथितनिर्मलब्रह्मचर्यं तत्रैव निजपरमात्मनि स्थितानामेव लभ्यते । तथैव ब्रह्मचारी सदा शुचिरितिवचनात्तथाविधब्रह्मचारिणामेव शुचित्वं न च कामक्रोधादिरतानां जलस्नानादिशौचेऽपि । तथैव च—"जन्मना जायते शूद्रः क्रियया द्विज उच्यते । श्रुतेन श्रोत्रियो ज्ञेयो ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः । १ ।" इति वचनात्त एव निश्चयशुद्धाः ब्राह्मणाः । तथा चोक्तं नारायणेन युधिष्ठिरं प्रति विशुद्धात्मनदीस्नानमेव परमशुचित्वकारणं न च लौकिकगङ्गादितीर्थे स्नानादिकम् । "आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः । तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा । १ ।" इत्यशुचित्वानुप्रेक्षा गता । ६ ।

अब आगे अशुचित्व अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं । वह इस प्रकार है—सबसे अपवित्र ऐसे शुक्र (पिताका वीर्य) और शोणित (माताका रुधिर) रूप कारणसे उत्पन्न होनेके कारण तथा "वसा, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि (हाड़) मज्जा, और शुक्र ये धातु हैं' इस प्रकार पूर्वोक्त अपवित्र जो सप्त ७ धातु हैं इनरूप होनेसे तथा नाक आदि नौं ९ छिद्रोंद्वारा स्वरूपसे भी अशुचि होनेसे और इसी भांतिसे मूत्र, पुरीष (विष्ठा) आदि अशुचि मलोंकी उत्पत्तिका स्थान होनेसे यह देह अशुचि है । और केवल अशुचि कारणसे उत्पन्न होनेके कारण ही यह अशुचि नहीं है; किन्तु यह शरीर स्वरूपसे भी अशुचि है और अशुचि मल आदिका जनक होनेसे भी अशुचि है । और पवित्र जो सुगन्ध, माला, वस्त्र आदि हैं उनमें भी यह शरीर अपने संसर्गसे अपवित्रता उत्पन्न करता है, इस कारण भी अशुचि है । अब पवित्रताका कथन करते हैं—सहज शुद्ध ऐसे जो केवल ज्ञान आदि गुण हैं उनका आधारभूत होनेसे और निश्चयसे अपने आप पवित्र होनेसे यह परमात्मा ही शुचि है । "जीव ब्रह्म है, जीवहीमें जो मुनिकी चर्या (प्रवृत्ति) होवे उसको छोड़ी है परदेहकी सेवा जिसने ऐसा ब्रह्मचर्य जानो । १ ।" इस गाथामें कहा हुआ जो निर्मल ब्रह्मचर्य है, सो उस परमात्मामें स्थित हुए जीवोंकेही मिलता है । और इसी प्रकार

"ब्रह्मचारी सदा पवित्र है" इस वचनसे उन पूर्वोक्त प्रकारके ब्रह्मचारियोंके ही पवित्रता है। और जो काम तथा क्रोध आदिमें तत्पर जीव हैं उनके जलस्नान आदि शौचोंके करनेपर भी पवित्रत्व नहीं है। क्योंकि, इसी प्रकार "जन्मसे शूद्र होता है, क्रियासे द्विज कहलाता है, श्रुत (शास्त्र)से श्रोत्रिय जानना चाहिये और ब्रह्मचर्यसे ब्राह्मण जानना चाहिये ।१।" ऐसा वचन है। इसलिये पूर्वोक्त परमात्मामें तत्पर जो हैं, वे ही निश्चयनयसे शुद्ध ब्राह्मण हैं। और नारायणने युधिष्ठिरको कहा है कि शुद्ध जो आत्मारूप नदी है उसमें स्नानका करना ही परम पवित्रताका कारण है, किंतु लौकिक जो गंगा आदि तीर्थोंमें स्नानका करना आदि है सो शुचित्वका कारण नहीं। इस विषयमें जो श्लोक है उसका अर्थ यह है—"संयमरूपी जलसे पूर्ण, सत्यको धारण करनेवाली शीलरूप तट और दयामय तरङ्गोंकी धारक ऐसी जो आत्मारूप नदी है उसमें हे पाण्डुपुत्र (युधिष्ठिर) स्नान कर; क्योंकि, अन्तरात्मा जलसे शुद्ध नहीं होता। १।" इस प्रकार अशुचित्व अनुप्रेक्षाका वर्णन समाप्त हुआ॥६॥

अत ऊर्द्ध्वमास्रवानुप्रेक्षा कथ्यते। समुद्रे सच्छिद्रपोतवदयं जीव इन्द्रियाद्यास्रवैः संसारसागरे पततीति वार्त्तिकम्। अतीन्द्रियस्वशुद्धात्मसंवित्तिविलक्षणानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणीन्द्रियाणि भण्यन्ते। परमोपशममूर्त्तिपरमात्मस्वभावस्य क्षोभोत्पादकाः क्रोधमानमायालोभकषाया अभिधीयन्ते। रागादिविकल्पनिवृत्तिरूपायाः शुद्धात्मानुभूतेः प्रतिकूलानि हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहप्रवृत्तिरूपाणि पञ्चाव्रतानि। निष्क्रियनिर्विकारात्मतत्त्वाद्विपरीता मनोवचनकायव्यापाररूपाः परमागमोक्ताः सम्यक्त्वक्रिया मिथ्यात्वक्रियेत्यादिपञ्चविंशतिक्रियाः उच्यन्ते। इन्द्रियकषायाव्रतक्रियारूपास्रवाणां स्वरूपमेतद्विज्ञेयम्। यथा समुद्रेऽनेकरत्नभाण्डपूर्णस्य सच्छिद्रपोतस्य जलप्रवेशे पातो भवति न च वेलापत्तनं प्राप्नोति। तथा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणामूल्यरत्नभाण्डपूर्णजीवपोतस्य पूर्वोक्तास्रवद्वारैः कर्मजलप्रवेशे सति संसारसमुद्रे पातो भवति न च केवलज्ञानाव्याबाधसुखाद्यनन्तगुणरत्नपूर्णमुक्तिवेलापत्तनं प्राप्नोतीति। एवमास्रवगतदोषानुचिन्तनमास्रवानुप्रेक्षा ज्ञातव्येति ।७।

अब इसके अनन्तर सप्तम आस्रवानुप्रेक्षाको कहते हैं। "जैसे छिद्रसहित नौका (नाव) समुद्रमें डूबती है, ऐसे ही इन्द्रिय आदि छिद्रों द्वारा यह जीव संसार रूप समुद्रमें गिरता है" यह वार्त्तिक है। इन्द्रियोंके अगोचर जो निजशुद्ध आत्माका ज्ञान है उससे विलक्षण स्पर्शन, रसन (जिह्वा,) नासिका, नेत्र और कान ये पांच इन्द्रियें कहलाती हैं। परम उपशम स्वरूपका धारक जो परमात्माका स्वभाव है उसके क्षोभको उत्पन्न करनेवाले क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय कहे जाते हैं। राग आदि विकल्पोंसे रहित जो शुद्ध आत्माका अनुभव है उससे प्रतिकूल ऐसे हिंसा, झूंठ, चोरी अब्रह्म और परिग्रह इन पांचोंमें प्रवृत्तिरूप पांच अव्रत हैं। क्रियारहित और निर्विकार ऐसा जो आत्मतत्त्व है उससे विपरीत मन, वचन तथा कायके व्यापाररूप एवं शास्त्रमें कहीहुई सम्यक् क्रिया, मिथ्यात्व क्रिया इत्यादि पचीस क्रिया कही जाती हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त इन्द्रिय, कषाय,

अव्रत तथा क्रियारूप आस्रवोंका स्वरूप जानना चाहिये। जैसे समुद्रमें अनेक रत्नोंके भांडोंसे भरे हुए छिद्रसहित पोतका (जहाज) जलके प्रवेश होनेपर पतन होता है और वह पोत समुद्रके किनारे जो पत्तन (नगर) है उसको नहीं प्राप्त होता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप जो अमूल्य रत्नोंके भांड़े हैं उनसे पूर्ण इस जीव नामा पोतका पूर्वोक्त इन्द्रिय आदि आस्रवोंद्वारा जब कर्मरूपी जलमें प्रवेश हो जाता है तब संसाररूपी समुद्रमें ही पतन होता है। और केवलज्ञान अव्याबाध सुख आदि अनन्त गुणमय रत्नोंसे पूर्ण जो मुक्ति स्वरूप वेलापत्तन (संसार समुद्रके किनारेका शहर) है उसको यह जीव नहीं प्राप्त होता है। इत्यादि प्रकारसे आस्रवमें प्राप्त दोषोंका जो विचार करना है, वह आस्रवानुप्रेक्षा जाननी चाहिये ॥ ७ ॥

अथ संवरानुप्रेक्षा कथ्यते—यथा तदेव जलपात्रं छिद्रस्य झम्पने सति जलप्रवेशाभावे निर्विघ्नेन वेलापत्तनं प्राप्नोति; तथा जीवजलपात्रं निजशुद्धात्मसंवित्तिबलेन इन्द्रियाद्यास्रवच्छिद्राणां झम्पने सति कर्मजलप्रवेशाभावे निर्विघ्नेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणरत्नपूर्णमुक्तिवेलापत्तनं प्राप्नोतीति। एवं संवरगतगुणानुचिन्तनं संवरानुप्रेक्षा ज्ञातव्या ॥ ८ ॥

अब संवर अनुप्रेक्षाका वर्णन करते हैं। जैसे वही समुद्रका पोत अपने छिद्रोंके बंद हो जानेसे जलके प्रवेशका अभाव होनेपर निर्विघ्नतापूर्वक वेलापत्तनको प्राप्त हो जाता है; उसी प्रकार जीवरूपी पोत अपने शुद्ध आत्माके ज्ञानके बलसे इंद्रिय आदि आस्रवरूप छिद्रोंके मुँद जानेसे कर्मरूप जलके प्रवेशका अभाव होनेपर निर्विघ्न केवलज्ञान आदि अनन्त गुण रत्नोंसे पूर्ण जो मुक्तिरूप वेलापत्तन है, उसको प्राप्त होता है। ऐसे संवरमें विद्यमान जो गुण हैं उनके चिंतवन स्वरूप संवर अनुप्रेक्षा जाननी चाहिये। ८।

अथ निर्जरानुप्रेक्षां प्रतिपादयति। यथा कोऽप्यजीर्णदोषेण मलसञ्चये जाते सत्याहारं त्यक्त्वा किमपि हरीतक्यादिकं मलपाचकमग्निदीपकं चौषधं गृह्णाति। तेन च मलपाकेन मलानां पातने गलने निर्जरणे सति सुखी भवति। तथायं भव्यजीवोऽप्यजीर्णजनकाहारस्थानीयमिथ्यात्वरागाद्यज्ञानभावेन कर्ममलसञ्चये सति मिथ्यात्वरागादिकं त्यक्त्वा परमौषधस्थानीयं जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखादिसमभावनाप्रतिपादकं कर्ममलपाचकं शुद्धध्यानाग्निदीपकं च जिनवचनौषधं सेवते। तेन च कर्ममलानां गलने निर्जरणे सति सुखी भवति। किञ्च यथा कोऽपि धीमानजीर्णकाले यद्दुःखं जातं तदजीर्णे गतेऽपि न विस्मरति ततश्चाजीर्णजनकाहारं परिहरति तेन च सर्वदैव सुखीभवति। तथा विवेकिजनोऽपि "आर्त्ता नरा धर्मपरा भवन्ति" इति वचनाद्दुःखोत्पत्तिकाले ये धर्मपरिणामा जायन्ते तान् दुःखे गतेऽपि न विस्मरति। ततश्च निजपरमात्मानुभूतिबलेन निर्जरार्थं दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षादिविभावपरिणामपरित्यागरूपैः संवेगवैराग्यपरिणामैर्वर्त्तत इति। संवेगवैराग्यलक्षणं कथ्यते—"धम्मे य धम्मफलह्मि दंसणे य हरिसो य हुंति संवेगो। संसारदेहभोगेसु विरत्तभावो य वैरग्गं ।१।" इति निर्जरानुप्रेक्षागता ॥ ९ ॥

अब निर्जरानुप्रेक्षाका प्रतिपादन करते हैं—जैसे किसी मनुष्यके अजीर्ण दोषसे मलका संचय (पेटमें मलका जमाव) हो जावे तो वह मनुष्य आहारको छोड़ करके, मलको पचानेवाले तथा अग्निको तीव्र करनेवाले किसी हरड़े आदि औषधको ग्रहण करता है। और जब उस औषधसे मल पड़जाते हैं, गलजाते हैं अथवा निर्जर जाते हैं तब वह मनुष्य सुखी होता है। उसी प्रकार यह भव्यजीव भी अजीर्णको उत्पन्न करनेवाले आहारके स्थानभूत (एवज) जो मिथ्यात्व, राग तथा अज्ञान आदि भाव हैं उनसे कर्मरूपी मलका संचय होनेपर मिथ्यात्व, राग आदिको छोड़कर, परम औषधके स्थानभूत जीवन, मरणमें; लाभ अलाभमें और सुख दुःख आदिमें समान भावनाको उत्पन्न करनेवाला, कर्ममलको पकानेवाला तथा शुद्ध ध्यानरूप अग्निको दीप्त करनेवाला जो जिनवचनरूप औषध है उसका सेवन करता है। और उससे जब कर्मरूपी मलोंका गलन तथा निर्जरण होजाता है तब सुखी होता है। और भी विशेष है कि जैसे कोई बुद्धिमान् अजीर्णके समयमें जो दुःख हुआ उसको अजीर्णके नाश होजानेपर भी नहीं भूलता है और उसके स्मरणपूर्वक अजीर्णको उत्पन्न करनेवाले आहारको छोड़ देता है और इस कारण सदा ही सुखी होता है; वैसे ही विवेकी (ज्ञानी) मनुष्य भी "दुःखी मनुष्य धर्ममें तत्पर होते हैं" इस वाक्यानुसार दुःखके उत्पन्न होनेके समय जो धर्मरूप परिणाम होते हैं उनको दुःख नष्ट होजाने पर भी नहीं भूलता है। और इसके पश्चात् निज परम आत्माके अनुभवके बलसे निर्जराके निमित्त जो देखे, सुने तथा अनुभवमें किये हुए भोगवांछादि रूप विभाव परिणाम हैं उनके परित्याग (त्याग) रूप संवेग तथा वैराग्यरूप परिणामोंके साथ रहता है॥ संवेग और वैराग्यका लक्षण कहते हैं—"धर्ममें, धर्मके फलमें और दर्शनमें जो हर्ष होता है सो तो संवेग है; और संसार, देह तथा भोगोंमें विरक्त भावरूप वैराग्य है।१।" ऐसे निर्जरानुप्रेक्षा समाप्त हुई॥ ९॥

अथ लोकानुप्रेक्षां प्रतिपादयति। तद्यथा—अनन्तानन्ताकाशबहुमध्यप्रदेशे घनोदधिघनवाततनुवाताभिधानवायुत्रयवेष्टितानादिनिधनाकृत्रिमनिश्चलासंख्यातप्रदेशो लोकोऽस्ति। तस्याकारः कथ्यते—अधोमुखार्द्धमुरजस्योपरि पूर्णे मुरजे स्थापिते यादृशाकारो भवति तादृशाकारः परं किन्तु मुरजो वृत्तो लोकस्तु चतुष्कोण इति विशेषः। अथवा प्रसारितपादस्य कटितटन्यस्तहस्तस्य चोर्ध्वस्थितपुरुषस्य यादृशाकारो भवति तादृशः। इदानीं तस्यैवोत्सेधायामविस्ताराः कथ्यन्ते—चतुर्दशरज्जुप्रमाणोत्सेधस्तथैव दक्षिणोत्तरेण सर्वत्र सप्तरज्जुप्रमाणायामो भवति। पूर्वपश्चिमेन पुनरधोविभागे सप्तरज्जुविस्तारः। ततश्चाधोभागात् क्रमहानिरूपेण हीयते यावन्मध्यलोकएकरज्जुप्रमाणविस्तारो भवति। ततो मध्यलोकादूर्द्ध्वं क्रमवृद्ध्या वर्द्धते यावद्ब्रह्मलोकान्ते रज्जुपञ्चकविस्तारो भवति। ततश्चोर्द्ध्वं पुनरपि हीयते यावल्लोकान्ते रज्जुप्रमाणविस्तारो भवति। तस्यैव लोकस्य पुनरुदूखलस्य मध्याधोभागे छिद्रे कृते सति निक्षिप्तवंशनालिकेव चतुःकोणा त्रसनाडी भवति। सा चैकरज्जुविष्कम्भा चतुर्दशरज्ज्वुत्सेधा विज्ञेया। तस्यास्त्वधोभागे

सप्तरज्जवोऽधोलोकसंबन्धिन्यः । ऊर्ध्वभागे मध्यलोकोत्सेधसंबन्धिलक्षयोजनप्रमाणमेरूत्सेधः सप्तरज्जव ऊर्ध्वलोकसंबन्धिन्यः ॥

अब लोकानुप्रेक्षाका निरूपण करते हैं । वह इस प्रकार है. अनंतानन्त जो आकाश है उसके बहुत ही मध्यके प्रदेशमें घनोदधि, घनवात और तनुवात नामक तीन पवनोंसे वेष्टित (बेढ़ा हुआ), आदि और अंतरहित, अकृत्रिम, निश्चल और असंख्यात प्रदेशका धारक लोक है । उसके आकारका कथन करते हैं; नीचे मुख किये हुए अधे मृदंगके ऊपर पूरा मृदंग रखनेपर जैसा आकार होता है वैसा आकार लोकका है, परन्तु मृदंग गोल है और लोक चोकोर है, यह भेद है । अथवा फैलाये हैं पाद (पैर) जिसने और कटिके तटपर रक्खे हैं हाथ जिसने ऐसे खड़ेहुए मनुष्यका जैसा आकार होता है, वैसा लोकका आकार है । अब उसी लोककी ऊँचाई, लंबाई तथा विस्तारका निरूपण करते हैं—चौदह १४ रज्जु प्रमाण ऊंचा तथा दक्षिण उत्तरमें सब जगह सात राजू लम्बा यह लोक है और पूर्व पश्चिममें नीचेके भागमें सात राजू विस्तार है और फिर उस अधोभागसे क्रम हानिरूपसे इतना घटता है कि, मध्य (बीच) में एक रज्जु विस्तारका धारक होजाता है फिर मध्यलोकसे ऊपर क्रमवृद्धिसे बढ़ता है सो बढ़ता २ ब्रह्मलोक अर्थात् पंचम स्वर्गके अन्तमें पांच रज्जुके विस्तारका धारक होता है । उसके ऊपर फिर भी घटता है सो यहांतक घटता है कि, लोकके अन्तमें जाकर, एक रज्जु प्रमाण विस्तारवाला होता है । और इसी लोकके मध्यमें उदूखल (ऊखल) के मध्यभागसे नीचेकी ओर छिद्र करके एक बांसकी नाली रक्खी जावे उसका जैसा आकार होता है उसके समान एक चौकोर त्रस नाडी है; वह एक रज्जु व्यासकी धारक और चौदह रज्जु ऊंची जाननी चाहिये । उस त्रस नाडीके अधोभागकी जो सात रज्जु हैं वे अधोलोक संबन्धी हैं और ऊर्ध्वभागमें मध्यलोककी ऊँचाई संबन्धी लक्ष योजन प्रमाण मेरुकी ऊँचाई है इससहित सात रज्जु ऊर्ध्व लोकसंबन्धी हैं ॥

अतः परमधोलोकः कथ्यते । अधोभागे मेरोराधारभूता रत्नप्रभाख्या प्रथमपृथिवी । तस्याधोऽधः प्रत्येकमेकैकरज्जुप्रमाणमाकाशं गत्वा यथाक्रमेण शर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःसंज्ञा षड् भूमयो भवन्ति । तस्मादधोभागे रज्जुप्रमाणं क्षेत्रं भूमिरहितं निगोदादिपञ्चस्थावरभृतं च तिष्ठति । रत्नप्रभादिपृथिवीनां प्रत्येकं घनोदधिघनवाततनुवातत्रयमाधारभूतं भवतीति विज्ञेयम् । कस्यां पृथिव्यां कति नरकबिलानि सन्तीति प्रश्ने यथाक्रमेण कथयति तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ८४०००००। अथ रत्नप्रभादिपृथिवीनां क्रमेण पिण्डस्य प्रमाणं कथयति । पिण्डस्य कोऽर्थः मन्दत्वस्य बाहुल्यस्येति । अशीतिसहस्राधिकैकलक्षं तथैव द्वात्रिंशदष्टाविंशतिचतुर्विंशतिषोडशाष्टसहस्रप्रमितानि योजनानि ज्ञातव्यानि । तिर्यग्विस्तारस्तु चतुर्दिग्भागे यद्यपि त्रसनाड्यपेक्षयैकरज्जुप्रमाणस्तथापि त्रसरहितबहिर्भागे लोकान्तप्रमाणमिति । तथाचोक्तं "भुवामन्ते स्पृशन्तीनां लोकान्तं सर्वदिक्षु च" । अत्र विस्तारेण तिर्यग्विस्तारपर्यन्तमन्दत्वेन मन्दरावगाहयोजनसहस्रबाहुल्या मध्य-

मलोके या चित्रा पृथिवी तिष्ठति तस्या अधोभागे षोडशसहस्रवाहुल्यः खरभागस्तिष्ठति । तस्मादप्यधश्चतुरशीतियोजनसहस्रवाहुल्यः पङ्कभागस्तिष्ठति । ततोऽप्यधोभागे अशीतिसहस्रबाहुल्यो अब्बहुलभागस्तिष्ठतीत्येवं रत्नप्रभा पृथिवी त्रिभेदा ज्ञातव्या । तत्र खरभागेऽसुरकुलं विहाय नवप्रकारभवनवासिदेवानां तथैव राक्षसकुलं विहाय सप्तप्रकारव्यन्तरदेवानां आवासा ज्ञातव्या इति । पङ्कभागे पुनरसुराणां राक्षसानां चेति । अब्बहुलभागे नारकास्तिष्ठन्ति ।

इसके आगे अधोलोकका कथन करते हैं—अधोभागमें मेरुकी आधारभूता रत्नप्रभा नामा प्रथम पृथिवी है । उस रत्नप्रभा पृथिवीके नीचे २ प्रत्येक एक एक रज्जु प्रमाण आकाशमें चलकर क्रमानुसार शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा नामकी धारक ६ भूमि हैं । उनके अधोभागमें जो भूमिरहित एक रज्जुप्रमाण क्षेत्र है वह निगोद आदि पंच स्थावरोंसे भरा हुआ है । रत्नप्रभा आदि प्रत्येक पृथिवीके घनोदधि, घनवात और तनुवात नामक जो तीन वातवलय हैं वे आधारभूत हैं अर्थात् रत्नप्रभादि पृथिवी इन तीनों वातवलयोंके आधारसे हैं, यह जानना चाहिये । किस पृथिवीमें कितने नरकोंके विल हैं? इस प्रश्नपर यथाक्रमसे उत्तर कहते हैं कि, उनमें प्रथम भूमिमें तीस लाख, द्वितीयमें पचीस लाख, तृतीयमें पंद्रह लाख, चतुर्थमें दश लाख, पंचममें तीन लाख, षष्ठीमें पांच कम एक लाख तथा सप्तमी पृथिवीमें पांच, इस प्रकार सब मिलके चौरासी लाख ८४००००० नरकोंके विल हैं । अब रत्नप्रभा आदि भूमियोंका क्रमसे पिंड प्रमाण कहते हैं । यहां पिंड शब्दका अर्थ गंभीरता (गहराई) है । उनमें प्रथम पृथिवीका पिंड एक लाख अस्सी हजार योजन, दूसरीका एक लाख वत्तीस हजार, तीसरीका एक लाख अट्ठाईस हजार, चौथीका एकलाख चौवीस हजार, पाचवींका एक लाख वीस हजार, छठीका एक लाख सोलह हजार और सातवींका एक लाख आठ हजार योजन प्रमाण पिंड जानना चाहिये । और तिर्यग् अर्थात् तिरछा विस्तार तो यद्यपि त्रसनाडीकी अपेक्षासे एक रज्जु प्रमाण है तथापि त्रसोंसे रहित जो वाह्यभाग है उसमें लोकके अन्ततक है. सोही कहा है कि, "अन्तको स्पर्श करती हुई भूमियोंका प्रमाण सब दिशाओंमें लोकान्त प्रमाण है ।", अब यहां विस्तारसे तिर्यग्विस्तार पर्यन्त मंद्रतासे मेरुके अवगाह रूप जो एक हजार योजन हैं, उन प्रमाण वाहुल्य (गहराई) को धारण करनेवाली जो मध्यलोकमें चित्रा पृथिवी है, उसके नीचेके भागमें सोलह हजार योजन वाहुल्यका धारक खर भाग है । उस खर भागके भी नीचे चौरासी हजार योजन प्रमाण वाहुल्यवाला पंक भाग स्थित है । उसके भी नीचेके भागमें अस्सी हजार योजनके वाहुल्यका धारक अब्बहुल भाग है । इस प्रकार रत्नप्रभा पृथिवी है सो खरभाग, पंकभाग और अब्बहुल भागरूपी भेदोंसे तीन प्रकारकी जाननी चाहिये । उनमें खर भागमें असुरकुमार जातिके देवोंके समूहको छोड़कर, नव प्रकारके भवनवासी और इसी प्रकार राक्षसोंके समूहके विना सात प्रकारके व्यन्तर

देवोंके आवास (निवासस्थान) जानने चाहिये। पंकभागमें असुर तथा राक्षसोंके निवास हैं। अब्बहुल भागमें नारक हैं ॥

तत्र वहुभूमिकप्रासादवदधोऽधः सर्वपृथिवीषु स्वकीयस्वकीयबाहुल्यात् सकाशादध उपरि चैकैकयोजनसहस्रं विहाय मध्यभागे भूमिक्रमेण पटलानि भवन्ति त्रयोदशैकादशनवसप्तपञ्चत्र्येकसंख्यानि, तान्येव सर्वसमुदायेन पुनरेकोनपञ्चाशत्प्रमितानि। पटलानि कोऽर्थः? प्रस्तारा इन्द्रका अन्तर्भूमय इति। तत्र रत्नप्रभायां सीमन्तसंज्ञे प्रथमपटलविस्तारे नृलोकवत् यत्संख्येययोजनविस्तारवत् मध्यविलं तस्येन्द्रकसंज्ञा। तस्यैव चतुर्दिग्विभागे प्रतिदिशं पङ्क्तिरूपेणासंख्येययोजनविस्ताराण्येकोनपञ्चाशद्विलानि। तथैव विदिक्चतुष्टये प्रतिदिशं पङ्क्तिरूपेण यान्यष्टचत्वारिंशद्विलानि तान्यप्यसंख्यातयोजनविस्ताराणि। तेषामपि श्रेणीवद्धसंज्ञा। दिग्विदिगष्टकान्तरेषु पङ्क्तिरहितत्वेन पुष्पप्रकरवत्कानिचित्संख्येययोजनविस्ताराणि कानिचिदसंख्येययोजनविस्ताराणि यानि तिष्ठन्ति तेषां प्रकीर्णकसंज्ञा। इतीन्द्रकश्रेणीवद्धप्रकीर्णकरूपेण त्रिधा नरका भवन्ति। इत्यनेन क्रमेण प्रथमपटलव्याख्यानं विज्ञेयम्। तथैव पूर्वोक्तैकोनपञ्चाशत्पटलेष्वयमेव व्याख्यानक्रमः किन्त्वष्टश्रेणिष्वेकैकपटलं प्रत्येकैकं हीयते यावत्सप्तमपृथिव्यां चतुर्दिग्भागेष्वेकं विलं तिष्ठति ॥

उनमें वहुतसे खनोंवाले प्रासाद (महल) के समान नीचे २ सब पृथिवियोंमें अपने२ वाहुल्यसे नीचे और ऊपर एक एक हजार योजनको छोड़कर, जो वीचका भाग है उसमें भूमि (तल्ला, खण्ड, अथवा मंजिला) के क्रमसे पटल होते हैं। उनमें प्रथम भूमिमें तेरह, दूसरीमें ग्यारह, तीसरीमें नव, चौथीमें सात, पांचवीमें पांच, छट्ठीमें तीन और सातवीं पृथिवीमें एक; ऐसे ये सब समुदायसे उनचास ४९ संख्या प्रमाण पटल हैं। यहां पटल शब्दका अर्थ प्रस्तार (तह) इन्द्रक अथवा अन्तर्भूमि है। उनमें रत्नप्रभा नामक प्रथम पृथिवीमें सीमन्त नामक पहले पटलके विस्तारमें जो ढाई द्वीपके समान संख्येय (४५०००००) योजन विस्तारका धारक वीचका विल है उसकी इंद्रक संज्ञा है। उस इन्द्रककी चारों दिशाओंमें प्रत्येक दिशामें असंख्येय योजन विस्तारके धारक उनचास विल हैं। और इसी प्रकार चारों विदिशाओंमें प्रत्येक विदिशामें पङ्क्तिरूप (कतारदार) जो अड़तालीस (४८) विल हैं वे भी असंख्यात योजन प्रमाण विस्तारके धारक हैं, इन दोनों प्रकारके विलोंकी ही "श्रेणीवद्ध" यह संज्ञा है अर्थात् इन्द्रककी दिशा और विदिशाओंमें जो पंक्तिरूप विल हैं वे श्रेणीवद्ध कहलाते हैं। चारों दिशा और चारों विदिशा इन आठोंके वीचमें जो पङ्क्ति (सिलसिले) के विना होनेसे विखरे हुए पुष्पोंके समान कितने ही संख्यात योजन विस्तारके धारक और कितने ही असंख्यात योजन विस्तारके धारक विल हैं, उनका "प्रकीर्णक" यह नाम है। ऐसे इन्द्रक, श्रेणीवद्ध और प्रकीर्णकरूपसे तीन प्रकारके नरक होते हैं। इस पूर्वोक्त क्रमसे प्रथम पटलका व्याख्यान जानना चाहिये। इसी प्रकार पूर्वोक्त जो सातों पृथिवियोंमें उनचास पटल हैं उनमें भी यही व्याख्यानका क्रम है; परंतु विशेष यह है कि,

आठों दिशाओंकी जो आठों श्रेणियां हैं उनमें प्रत्येक पटलमें एक एक बिल घटता है, सो यहांतक कि, सप्तम पृथिवीमें चारों दिशाओंमें एक २ बिल ही रहजाता है ॥

रत्नप्रभादिनरकदेहोत्सेधः कथ्यते प्रथमपटले हस्तत्रयम् ततः क्रमवृद्धिवशात्त्रयोदशपटले सप्तचापानि हस्तत्रयमङ्गुलषट्कं चेति।ततो द्वितीयपृथिव्यादिषु चरमेन्द्रकेषु द्विगुणद्विगुणे क्रियमाणे सप्तमपृथिव्यां चापशतपञ्चकं भवति। उपरितने नरके यउत्कृष्टोत्सेधः सोऽधस्तने नरके विशेषाधिको जघन्यो भवति, तथैव पटलेषु च ज्ञातव्यः। आयुःप्रमाणं कथ्यते। प्रथमपृथिव्यां प्रथमे पटले जघन्येन दशवर्षसहस्राणि तत आगमोक्तक्रमवृद्धिवशादन्तपटले सर्वोत्कर्षेणैकसागरोपमम्। ततः परं द्वितीयपृथिव्यादिषु क्रमेण त्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपममुत्कृष्टजीवितम्। यच्च प्रथमपृथिव्यामुत्कृष्टं तद्द्वितीयायां समयाधिकं जघन्यं, तथैव पटलेषु च। एवं सप्तमपृथिवीपर्यन्तं ज्ञातव्यम्। स्वशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणनिश्चयरत्नत्रयविलक्षणैस्तीव्रमिथ्यात्वदर्शनज्ञानचारित्रैः परिणतानामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियसरठपक्षिसर्पसिंहस्त्रीणां क्रमेण रत्नप्रभादिषु षट्पृथिवीषु गमनशक्तिरस्ति सप्तम्यां तु कर्मभूमिजमनुष्याणां मत्स्यानामेव। किञ्च यदि कोऽपि निरन्तरं नरके गच्छति तदा पृथिवीक्रमेणाष्टसप्तषट्पञ्चचतुस्त्रिद्विसंख्यवारानेव। किन्तु सप्तमनरकादागताः पुनरप्येकवारं तत्रान्यत्र वा नरके गच्छन्तीति नियमः। नरकादागता जीवा बलदेववासुदेवप्रतिवासुदेवचक्रवर्तिसंज्ञाः शलाकापुरुषाः न भवन्ति। चतुर्थपञ्चमषष्टसप्तमनरकेभ्यः समागताः क्रमेण तीर्थकरचरमदेहभावसंयतश्रावका न भवन्ति। तर्हि किं भवन्ति? "णिरयादो णिस्सीरदो णरतिरएकम्मसण्णिपज्जत्तो। गब्भभवे उप्पज्जदि सत्तमणिरयादुतिरिएव।१।"॥

अब रत्नप्रभादि पृथिवियोंमें जो नारक निवास करते हैं उनके देहकी ऊँचाईका कथन करते हैं—प्रथम पटलमें तीन हाथका उत्सेध है और यहांसे क्रम क्रम बढ़नेके वशसे तेरहवें पटलमें सात धनुष, तीन हाथ और ६ अंगुलका उत्सेध है। इसके अनंतर द्वितीय आदि पृथिवियोंके अन्तके इन्द्रक विमानोंमें दूनादूना वृद्धिरूप करनेसे सप्तम पृथिवीमें पांचसो धनुषका उत्सेध होता है। ऊपरके नरकमें जो उत्कृष्ट उत्सेध है उससे कुछ अधिक नीचेके नरकमें जघन्य उत्सेध होता है। इसी प्रकार पटलोंमें भी जानना चाहिये। अब नारकोंके आयुका प्रमाण वर्णन करते हैं। प्रथम पृथिवीके प्रथम पटलमें जघन्यतासे दश हजार वर्षका आयु है; उसके पश्चात् आगममें कही–हुई क्रमानुसार वृद्धिसे अन्तका जो तेरहवां पटल है उसमें सर्वोत्कृष्टतासे एक सागर प्रमाण आयु है। इसके अनन्तर क्रमसे दूसरी पृथिवीमें तीन सागर, तीसरीमें सात सागर, चौथीमें दश सागर, पांचवींमें सत्रह सागर, छठीमें बाईस सागर और सातवींमें तेतीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। जो प्रथम पृथिवीमें उत्कृष्ट आयु है, वह दूसरीमें कुछ समय अधिक जघन्य आयु है। एवमेव जो प्रथम पटलमें उत्कृष्ट आयु है सो दूसरेमें समयाधिक जघन्य है। ऐसे सप्तम पृथिवीतक जानना चाहिये। निजशुद्ध आत्माके ज्ञानरूप लक्षणका धारक

जो निश्चय रत्नत्रय है उससे विलक्षण जो तीव्र मिथ्यादर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं इनसे परिणत असंज्ञी पंचेन्द्रिय, सरठ, पक्षी, सर्प, सिंह और स्त्री पर्यायके धारक जो जीव हैं उनके क्रमसे रत्नप्रभादि षट् पृथिवियोंमें गमन करनेकी शक्ति है अर्थात् असंज्ञी पंचेन्द्रिय प्रथम भूमिमें, सरठ दूसरीमें, पक्षी तीसरीमें, सर्प चौथीमें, सिंह पांचवीमें तथा स्त्रीका जीव छट्ठी भूमिमें जाकर नारक हो सकता है और सातवीं पृथिवीमें कर्मभूमिके उत्पन्न हुए मनुष्य और मगरमच्छ ही जासकते हैं। और भी विशेष यह है कि यदि कोई जीव निरन्तर नरकमें जाता है तो प्रथम पृथिवीमें क्रमसे आठ वार, दूसरीमें सात वार, तीसरीमें ६ वार, चौथीमें पांच वार, पांचवीमें चार वार, छट्ठीमें तीन वार और सातवींमें दो वारही जाता है। और सातवें नरकसे आये हुए जीव फिर भी एक वार उसी वा अन्य किसी नरकमें जाते हैं, यह नियम है। सातवें नरकसे आये हुए जीव बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण और चक्रवर्त्तिसंज्ञक शलाका पुरुष नहीं होते। और चौथे नरकके आये हुए तीर्थंकर, पांचवेंसे आये हुए चरमशरीरी, छठेसे आये हुए भावलिंगी मुनि और सातवेंसे आये हुए श्रावक नहीं होते हैं। तो क्या होते हैं? सो कहते हैं—"नरकसे आये हुए जीव मनुष्य, तिर्यंच, कर्मभूमिमें संज्ञीपर्याप्त तथा गर्भज होते हैं और सातवें नरकसे आये हुए तिर्यग् गतिमें ही उत्पन्न होते हैं॥

इदानीं नारकदुःखानि कथ्यन्ते। तद्यथा—विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानभावनोत्पन्ननिर्विकारपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादरहितैः पञ्चेन्द्रियविषयसुखास्वादलम्पटैर्मिथ्यादृष्टिजीवैर्यदुपार्जितं नरकायुर्नरकगत्यादिपापकर्म तदुदयेन नरके समुत्पद्य पृथिवीचतुष्टये तीव्रोष्णदुःखं, पञ्चम्यां पुनरुपरितनत्रिभागे तीव्रोष्णदुःखमधोभागे तीव्रशीतदुःखं, षष्ठीसप्तम्योरतिशीतोत्पन्नदुःखमनुभवन्ति। तथैव छेदनभेदनक्रकचविदारणयन्त्रपीडनशूलारोहणादितीव्रदुःखं सहन्ते। तथा चोक्तं—"अच्छिणिमीलणमित्तं णत्थि सुहं दुःखमेव अणुवद्धं। णिरये णेरयियाणं अहोणिसं पच्चमाणाणं।१।" प्रथमपृथिवीत्रयपर्यन्तमासुरोदीरितं चेति। एवं ज्ञात्वा नारकदुःखविनाशार्थं भेदाभेदरत्नत्रयभावना कर्त्तव्या। संक्षेपेणाधोलोकव्याख्यानं ज्ञातव्यम्॥

अब नारक जीवोंके दुःखोंका कथन करते हैं। वह इस प्रकार है—विशुद्ध ज्ञान तथा दर्शनरूप स्वभावका धारक जो निजशुद्ध परमात्मतत्त्व है उसके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरणकी भावनासे उत्पन्न जो विकाररहित परम आनंदमय सुखरूपी अमृत उसके आस्वादसे रहित और पांचों इन्द्रियोंके विषयोंके सेवनमें लम्पट ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवोंने जो नरक आयु तथा नरक गति आदि रूप पाप कर्म उपार्जन किया उसके उदयसे वे नरकमें उत्पन्न होते हैं। वहांपर पहलेकी जो चार पृथिवियें हैं उनमें तीव्र उष्ण (गर्मी) का दुःख, और पांचवीं पृथिवीमें ऊपरके त्रिभागमें अर्थात् पंचम पृथिवीके पहले तीसरे हिस्सेमें तीव्र उष्णका दुःख और नीचेके जो दो त्रिभाग हैं उनमें तीव्र शीत (ठंड वा जाड़े) का दुःख

तथा छट्ठी और सातवीं पृथिवीमें अत्यन्त शीतसे उत्पन्न हुए दुःखका अनुभव करते हैं। और इसी प्रकार छेदने, भेदने, करोतीसे चीरने, घानीमें पेरने और शूलपर चढ़ाने आदिरूप तीव्र दुःखका सहन करते हैं। सोही कहा है कि "नरकमें रातदिन दुःखरूप अग्निमें पचते हुए नारकोंके नेत्रोंके टिमकार मात्र भी सुख नहीं है; किन्तु सदा दुःखही लगा रहता है।१।" और पहली तीन पृथिवियोंतक असुरकुमार जातिके देवोंसे प्रकट किये हुए दुःखको भी सहते हैं। ऐसा जानकर, नरकसंबंधी दुःखके नाशके लिये भेद तथा अभेद रूप जो रत्नत्रय है उसकी भावना करनी चाहिये। ऐसे संक्षेप रीतिसे अधोलोकका व्याख्यान समाप्त हुआ॥

अतः परं तिर्यग्लोकः कथ्यते—जम्बूद्वीपादिशुभनामानो द्वीपाः, लवणोदादिशुभनामानः समुद्राश्च द्विगुणद्विगुणविस्तारेण पूर्वं पूर्वं परिवेष्ट्य वृत्ताकाराः स्वयम्भूरमणपर्यन्तास्तिर्यग्विस्तारेण विस्तीर्णास्तिष्ठन्ति यतस्तेन कारणेन तिर्यग्लोको भण्यते, मध्यलोकश्च। तद्यथा—तेषु सार्द्धतृतीयोद्धारसागरोपमलोमच्छेदप्रमितेष्वसंख्यातद्वीपसमुद्रेषु मध्ये जम्बूद्वीपस्तिष्ठति। स च जम्बूवृक्षोपलक्षितो मध्यभागस्थितमेरुपर्वतसहितो वृत्ताकारलक्षयोजनप्रमाणस्तद्द्विगुणविष्कम्भेण योजनलक्षद्वयप्रमाणेन वृत्ताकारेण वहिर्भागे लवणसमुद्रेण वेष्टितः। सोऽपि लवणसमुद्रस्तद्द्विगुणविस्तारेण योजनलक्षचतुष्टयप्रमाणेन वृत्ताकारेण वहिर्भागे धातकीखण्डद्वीपेन वेष्टितः। सोऽपि धातकीखण्डद्वीपस्तद्द्विगुणविस्तारेण योजनाष्टलक्षप्रमाणेन वहिर्भागे कालोदकसमुद्रेण वेष्टितः। सोऽपि कालोदकसमुद्रस्तद्द्विगुणविस्तारेण षोडशयोजनलक्षप्रमाणेन वृत्ताकारेण बहिर्भागे पुष्करद्वीपेन वेष्टितः। इत्यादिद्विगुणद्विगुणविष्कम्भः स्वयम्भूरमणद्वीपस्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यन्तो ज्ञातव्यः। यथा जम्बूद्वीपलवणसमुद्रविष्कम्भद्वयसमुदायाद्योजनलक्षत्रयप्रमितात्सकाशाद्धातकीखण्ड एकलक्षेणाधिकस्तथैवासंख्येयद्वीपसमुद्रविष्कम्भेभ्यः स्वयम्भूरमणसमुद्रविष्कम्भ एकलक्षेणाधिको ज्ञातव्यः। एवमुक्तलक्षणेष्वसंख्येयद्वीपसमुद्रेषु व्यन्तरदेवानां पर्वताद्युपरिगता आवासाः, अधोभूभागगतानि भवनानि, तथैव द्वीपसमुद्रादिगतानि पुराणि च, परमागमोक्तभिन्नलक्षणानि। तथैव खरभागपङ्कभागस्थितप्रतरासंख्येयप्रमाणासंख्येयव्यन्तरदेवावासाः, तथैव द्वासप्ततिलक्षाधिककोटिसप्तप्रमितभवनवासिदेवसंबन्धिभवनान्यकृत्रिमजिनचैत्यालयसहितानि भवन्ति। एवमतिसंक्षेपेण तिर्यग्लोको व्याख्यातः॥

अब इसके अनंतर तिर्यग् लोक अर्थात् मध्यलोकका वर्णन करते हैं। अपने दूने दूने विस्तारसे पूर्वपूर्व द्वीपको समुद्र और समुद्रको द्वीप इस क्रमसे वेढ़ करके, गोल आकारवाले जंबू द्वीप आदि शुभ नामोंके धारक द्वीप और लवणोद आदि शुभ नामोंके धारक समुद्र, स्वयंभूरमण समुद्रपर्यन्त तिर्यक् विस्तारसे विस्तृत होकर (फैल कर), स्थित हैं; इस कारणसे इसको तिर्यक् लोक कहते हैं और मध्यलोक भी कहते हैं। वह इस प्रकार है—साढे तीन उद्धार सागर समान लोमोंके टुकड़ोंके वरावर जो असंख्यात द्वीप समुद्रके मध्य (बीच)में जंबू द्वीप स्थित है वह जंबू (जामून) के वृक्षसे चिह्नित तथा मध्य भागमें

स्थित जो मेरु है उससे सहित है । तथा गोलाकार लाख योजन प्रमाण हैं । और गोलाकार दो लाख योजन प्रमाण अपनेसे दूने विष्कंभ (परिधि) का धारक जो वाह्य भागमें लवण समुद्र है उससे वेष्टित (वेढ़ा हुआ) है । वह लवण समुद्र भी अपने विस्तारसे दूने विस्तारवाला जो चार लाख योजन प्रमाण गोलाकार वाह्य भागमें धातकी खंड नामक द्वीप है उससे वेष्टित है । वह धातकी खंड द्वीप भी अपनेसे दूने विस्ताररूप आठ लाख योजन प्रमाण जो वाह्य भागमें कालोदक समुद्र है उससे वेष्टित है । वह कालोदक समुद्र भी अपने दूने विस्ताररूप सोलह लाख योजन प्रमाण गोलाकार वाह्य भागमें जो पुष्कर द्वीप है उससे वेष्टित है । इसको आदि ले, यह दूना २ विष्कंभ स्वयंभूरमण द्वीप तथा स्वयंभूरमण समुद्रपर्यन्त जानना चाहिये । और जैसे जंबू द्वीपका विष्कंभ एक लाख योजन, लवण समुद्रका विष्कंभ दो लाख योजन, इन दोनोंके समुदायरूप जो तीन लाख योजन प्रमाण है, उससे धातकी खंड एक लाख योजन अधिक अर्थात् चार लाख योजन है; इसी प्रकार असंख्यात द्वीप समुद्रोंका जो विष्कंभ है उससे एक लाख योजन अधिक स्वयंभूरमण समुद्रका विष्कंभ जानने योग्य है । ऐसे पूर्वोक्त लक्षणके धारक असंख्यात द्वीप समुद्रोंमें व्यन्तर देवोंके पर्वत आदिके ऊपर प्राप्त आवास (स्थान), अधोभूभाग (नीचेकी पृथिवीके भाग) में प्राप्त भवन और द्वीप तथा समुद्र आदिमें मिले हुए पुर हैं । ये आवास, भवन तथा पुर परमागममें कहे हुए जो भिन्न २ लक्षण हैं, उनके धारक हैं । और इसी प्रकार रत्नप्रभा भूमिके खर भाग और पंक भागमें स्थित प्रतरके असंख्यातवें भाग प्रमाण संख्यात व्यंतर देवोंके आवास हैं और सात करोड बहत्तर लाख संख्याके धारक भवनवासी देवों संबंधी भवन हैं वे सब अकृत्रिम जिन चैत्यालयोंसहित हैं । इस प्रकार अत्यन्त संक्षेपसे तिर्यग् लोक (मध्य लोक) का व्याख्यान किया गया ॥

अथ तिर्यग्लोकमध्यस्थितो मनुष्यलोको व्याख्यायते—तन्मध्यस्थितजम्बूद्वीपे सप्तक्षेत्राणि भण्यन्ते। दक्षिणदिग्विभागादारभ्य भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतसंज्ञानि सप्तक्षेत्राणि भवन्ति । क्षेत्राणि कोऽर्थः? वर्षा वंशा जनपदा इत्यर्थः । तेषां क्षेत्राणां विभागकारकाः षट् कुलपर्वताः कथ्यन्ते–दक्षिणदिग्भागमादीकृत्य हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिसंज्ञा भरतादिसप्तक्षेत्राणामन्तरेषु पूर्वापरायताः षट् कुलपर्वता भवन्ति । पर्वता इति कोऽर्थः। वर्षधरपर्वताः सीमापर्वता इत्यर्थः । तेषां पर्वतानामुपरि क्रमेण ह्रदा कथ्यन्ते । पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेशरिमहापुण्डरीकपुण्डरीकसंज्ञा अकृत्रिमा षट् ह्रदा भवन्ति । ह्रदा इति कोऽर्थः ? सरोवराणीत्यर्थः। तेभ्यः पद्मादिषड्ह्रदेभ्यः सकाशादागमकथितक्रमेण निर्गता याश्चतुर्दश नद्यस्ताः कथ्यन्ते । तथाहि–हिमवत्पर्वतस्थपद्मनाममहाह्रदादर्धकोशावगाहक्रोशार्धाधिकषट्योजनप्रमाणविस्तारपूर्वतोरणद्वारेण निर्गत्य तत्पर्वतस्यैवोपरि पूर्वदिग्विभागेन योजनशतपञ्चकं गच्छति ततो गङ्गाकूटसमीपे दक्षिणेन व्यावृत्य भूमिस्थकुण्डे पतति तस्माद् दक्षिणद्वारेण निर्गत्य भरतक्षेत्रमध्यमभागस्थितस्य दीर्घत्वेन पूर्वापरसमुद्रस्पर्शिनो विजयार्द्धस्य गुहाद्वारेण

निर्गत्य तत आर्यखण्डार्द्धभागे पूर्वेण व्यावृत्य प्रथमावगाहापेक्षया दशगुणेन गव्यूतिपञ्चकाव-गाहेन तथैव प्रथमविष्कम्भापेक्षया दशगुणेन योजनार्द्धसहितद्विषष्टियोजनप्रमाणविस्तारेण च पूर्वसमुद्रे प्रविष्टा गङ्गा। तथा गङ्गावत्सिन्धुरपि तस्मादेव हिमवत्पर्वतस्थपद्मह्रदात्पर्वतस्यैवो-परि पश्चिमद्वारेण निर्गत्य पश्चाद्दक्षिणदिग्विभागेनागत्य विजयार्द्धगुहाद्वारेण निर्गत्यार्यखण्डा-र्द्धभागे पश्चिमेन व्यावृत्य पश्चिमसमुद्रे प्रविष्टेति। एवं दक्षिणदिग्विभागसमागतगङ्गासि-न्धुभ्यां पूर्वापरायतेन विजयार्द्धपर्वतेन च षट्खण्डीकृतं भरतक्षेत्रम्॥

अब तिर्यग् लोक (मध्यलोक) के मध्यमें स्थित जो मनुष्य लोक (ढाई द्वीप) है उसका व्याख्यान करते हैं। उसमें प्रथम ही तिर्यग् लोकके बीचमें स्थित जो जंबू द्वीप है उसमें जो सात क्षेत्र हैं उनका कथन करते हैं। दक्षिण दिशाके भागसे आरंभित होकर भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत इन नामोंके धारक सात क्षेत्र हैं। यहां क्षेत्र शब्दसे वर्ष, वंश अथवा जनपद अर्थका ग्रहण है। उन क्षेत्रोंको भिन्न २ कर-नेवाले जो छः कुलपर्वत (कुलाचल) हैं उनके नाम कहते हैं—दक्षिण दिशाके भागको आदि लेके हिमवत् १ महाहिमवत् २ निषध ३ नील ४ रुक्मी ५ और शिखरी ६ इन नामोंके धारक, पूर्व पश्चिम लंबे कुलपर्वत उन भरत आदि सप्त क्षेत्रोंके बीचमें हैं। पर्वत इसका अर्थ वर्षधरपर्वत अथवा सीमापर्वत है। उन पर्वतोंके ऊपर क्रमसे जो ह्रद हैं वे कहेजाते हैं। पद्म १ महापद्म २ तिगिंछ ३ केसरी ४ महापुंडरीक ५ और पुंडरीक ६ इन नामोंवाले अकृत्रिम षट् ह्रद हैं, ह्रदका अर्थ सरोवर है। अब उन पद्म आदि ६ ह्रदोंसे आगममें कहे हुए क्रमके अनुसार जो चौदह नदियें निकली हैं उनका वर्णन करते हैं। वे इस प्रकार हैं—हिमवत् पर्वतपर स्थित जो पद्मनामक महाह्रद है उससे अर्ध कोस प्रमाण गहराई और साढे छः योजन प्रमाण चौड़ाईकी धारक गंगा नामक नदी पूर्वतोरण द्वारसे निकलकर, उसी हिमवत् पर्वतके ऊपर पूर्व दिशामें पांचसो योजनतक जाती है; फिर वहांसे गंगाकूटके पास दक्षिण दिशाको मुड़कर, भूमिमें स्थित जो कुंड है उसमें वह गंगा गिरती है. वहांसे दक्षिण द्वार (दरवाजे) से निकलकर, भरत क्षेत्रके मध्यभागमें स्थित जो लंबाईसे पूर्व पश्चिम समुद्रको स्पर्शित करनेवाला विजयार्द्ध पर्वत है उसकी गुहाके द्वारसे निकलकर, वहांसे आर्यखंडके अर्धभागमें पूर्वसे लौटकर, प्रथम अवगाहकी अपेक्षा दशगुणी अर्थात् ५ गव्यूति (कोस) की गहराई और इसी प्रकार प्रथमके विष्कंभसे दशगुण जो साढ़े बासठ योजन प्रमाण विस्तार है उस सहित गंगानदी पूर्व समुद्रमें प्रवेश करती है। और इस गंगाकी भांति सिंधुनामक महानदी भी उसी हिमवत्पर्वतपर विद्यमान पद्मह्रदके पश्चिमद्वारसे निकलके, पर्वतपर ही गमन करके फिर दक्षिण दिशाको आके, विजयार्द्धकी गुहाके द्वारसे निकलकर, पश्चिमको मुड़कर, आर्य खंडके अर्धभागमें आके, पश्चिम समु-द्रमें प्रवेश करती है॥ इस प्रकार दक्षिण दिशाको आई हुई जो गंगा और सिंधु नामक

दो नदियें हैं, इनसे और पूर्व तथा पश्चिमके समुद्रतक लंबा जो विजयार्द्ध पर्वत है उससे षट्खंड (छः विभागोंमें वटा) हुआ भरत क्षेत्र है ॥

अथ महाहिमवत्पर्वतस्थमहापद्महृदाद्दक्षिणदिग्विभागेन हैमवतक्षेत्रमध्ये समागत्य तत्रस्थनाभिगिरिपर्वतं योजनार्धेनास्पृशन्ती तस्यैवार्धं प्रदक्षिणं कृत्वा रोहित्पूर्वसमुद्रं गता । तथैव हिमवत्पर्वतस्थितपद्महृदादुत्तरेणागत्य तमेव नाभिगिरिं योजनार्धेनास्पृशन्ती तस्यैवार्द्धप्रदक्षिणं कृत्वा रोहितास्या पश्चिमसमुद्रं गता । इति रोहिद्रोहितास्यासंज्ञं नदीद्वन्द्वं हैमवतसंज्ञजघन्यभोगभूमिक्षेत्रे ज्ञातव्यम् । अथ निषधपर्वतस्थिततिगिञ्छनामहृदाद्दक्षिणेनागत्य नाभिगिरिपर्वतं योजनार्धेनास्पृशन्ती तस्यैवार्धप्रदक्षिणं कृत्वा हरित्पूर्वसमुद्रं गता । तथैव महाहिमवत्पर्वतस्थमहापद्मनामहृदादुत्तरदिग्विभागेनागत्य तमेव नाभिगिरिं योजनार्धेनास्पृशन्ती तस्यैवार्धप्रदक्षिणं कृत्वा हरिकान्ता नाम नदी पश्चिमसमुद्रं गता । इति हरिद्धरिकान्तासंज्ञं नदीद्वयं हरिसंज्ञमध्यमभोगभूमिक्षेत्रे विज्ञेयम् । अथ नीलपर्वतस्थितकेसरिनामहृदाद्दक्षिणेनागत्योत्तरकुरुसंज्ञोत्कृष्टभूमिक्षेत्रे मध्येन गत्वा मेरुसमीपे गजदन्तपर्वतं भित्त्वा च प्रदक्षिणेन योजनार्धेन मेरुं विहाय पूर्वभद्रशालवनस्य मध्येन पूर्वविदेहस्य च मध्ये शीतानामनदी पूर्वसमुद्रं गता । तथैव निषधपर्वतस्थिततिगिञ्छहृदादुत्तरदिग्विभागेनागत्य देवकुरुसंज्ञोत्तमभोगभूमिक्षेत्रमध्येन गत्वा मेरुसमीपे गजदन्तपर्वतं भित्वा च प्रदक्षिणेन योजनार्धेन मेरुं विहाय पश्चिमभद्रशालवनस्य मध्येन पश्चिमविदेहस्य च मध्येन शीतोदा पश्चिमसमुद्रं गता । एवं शीताशीतोदासंज्ञं नदीद्वयं विदेहाभिधाने कर्मभूमिक्षेत्रे ज्ञातव्यम् । यत्पूर्वं गङ्गासिन्धुनदीद्वयस्य विस्तारावगाहप्रमाणं भणितं तदेव क्षेत्रे क्षेत्रे नदीयुगलं प्रति विदेहपर्यन्तं द्विगुणं द्विगुणं ज्ञातव्यम् । अथ गङ्गा चतुर्दशसहस्रपरिवारनदीसहिता, सिन्धुरपि तथा, तद्द्विगुणसंख्यानं रोहिद्रोहितास्याद्वयम्, ततोऽपि द्विगुणसंख्यानं हरिद्धरिकान्ताद्वयमिति । तथा षड्विंशत्यधिकयोजनशतपञ्चकमेकोनविंशतिभागीकृतैकयोजनस्य भागषट्कं च यद्दक्षिणोत्तरेण कर्मभूमिसंज्ञभरतक्षेत्रस्य विष्कम्भप्रमाणं तद्द्विगुणं हिमवत्पर्वते, तस्माद्द्विगुणं हैमवतक्षेत्रे, इत्यादि द्विगुणं द्विगुणं विदेहपर्यन्तं ज्ञातव्यम् । तथा पद्महृदो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो दशयोजनावगाहो योजनैकप्रमाणपद्मविष्कम्भस्तस्मान्महापद्मे द्विगुणस्तस्मादपि तिगिञ्छे द्विगुण इति ॥

अब पूर्वकथनके पश्चात् वर्णन करते हैं—महाहिमवत् पर्वतपर स्थित जो महापद्मनामा ह्रद है, वहांसे चलकर, दक्षिणकी दिशाकी ओरसे हैमवत क्षेत्रके मध्यमें आकर, वहांपर स्थित जो नाभिगिरि नामक पर्वत है, उसको आधे योजनतक स्पर्श करतीहुई, उसी पर्वतकी आधी प्रदक्षिणा करती हुई रोहित् नामा नदी पूर्वसमुद्रको गई है । और इसी प्रकार रोहितास्या नामा जो नदी है वह हिमवत् पर्वतके पद्महृदसे उत्तरको आकर, उसी नाभिगिरिको अर्ध योजनपर्यन्त स्पर्श करती हुई, उसी पर्वतकी आधी प्रदक्षिणा करके पश्चिम समुद्रमें गई है । ऐसे रोहित और रोहितास्या नामकी धारक दो नदियें हैमवत नामक जो ज़घन्य भोगभूमिका क्षेत्र है उसमें जाननी चाहिये । और हरित नामा नदी निषध पर्वतके तिगिंछह्रदसे दक्षिणको आके, आधे योजनतक नाभिगिरि पर्वतको छूती हुई उसी पर्वतकी

आधी प्रदक्षिणा करके पूर्वसमुद्रमें गई है। एवमेव हरिकान्ता नामा नदी महाहिमवत् पर्वतके महापद्म नामक ह्रदसे उत्तर दिशाकी ओर आकर, उसी नाभिगिरिको आधे योजनतक स्पर्शती हुई उसकी अर्ध प्रदक्षिणा देकर, पश्चिम समुद्रमें गई है। ऐसे हरित् और हरिकान्ता नामक दो नदियें हरि नामका धारक जो मध्यम भोगभूमिका क्षेत्र है उसमें जाननी चाहिये। अब शीता नामा नदी नील पर्वतके केसरी नामा ह्रदसे दक्षिणको आकर, उत्तरकुरु नामक उत्कृष्ट भोगभूमिक्षेत्रके बीचमें होके, मेरुके पास जाकर, गजदंत पर्वतको भेदकर और आधे योजन पर्यन्त प्रदक्षिणासे मेरुको छोड़कर, पूर्व भद्रशालवन और पूर्व विदेहके मध्यमें होकर, पूर्व समुद्रको गई है। इसी प्रकार शीतोदा नामा नदी निषधपर्वत पर विद्यमान जो तिगिंछद्रह है, वहांसे उत्तरको आकर, देवकुरु संज्ञक उत्तम भोग भूमि क्षेत्रके बीचमेंसे जाकर मेरुके पास गजदंत पर्वतको भेदकर और आधे योजन प्रदक्षिणासे मेरुको छोड़कर, पश्चिम भद्रशाल वनके और पश्चिम विदेहके मध्यमें गमन करके, पश्चिम समुद्रको गई है। ऐसे शीता और शीतोदा नामक नदियोंका युगल विदेह नामक कर्मभूमिके क्षेत्रमें जानना चाहिये॥ जो विस्तार और अवगाहका प्रमाण पहले गंगा और सिंधु नामक दो नदियोंका कहा है, उससे दूना दूना प्रत्येक क्षेत्रमें जो नदियोंका युगल है, उसका विस्तार जानना चाहिये। अब गंगा चौदह हजार परिवारकी नदियोंसहित है। सिंधु भी चौदह हजार परिवार नदियोंकी धारक है। इनसे दूने अर्थात् अट्ठाईस हजार संख्या प्रमाण परिवारकी धारक रोहित तथा रोहितास्याको समझनी चाहिये। और हरित्, हरिकान्ता ये दो नदियें इनसे भी दूने परिवारकी धारक हैं। और पांचसो छब्बीस योजन तथा एक योजनके उन्नीस भागोंमेंसे ६ भाग प्रमाण दक्षिण और उत्तरसे कर्मभूमि संज्ञक भरतक्षेत्रके विष्कंभका प्रमाण है। उससे दूना हिमवत्पर्वतमें, हिमवत् पर्वतसे दूना हैमवतक्षेत्रमें, ऐसे उत्तरोत्तर दूना दूना विष्कंभ विदेह क्षेत्रपर्यन्त जानना चाहिये। और पद्मद्रह जो एक हजार योजन लंबा, पांचसो योजन चौड़ा तथा दश योजन गहरा है और जो उसमें एक योजन प्रमाण विष्कंभका धारक कमल है, उससे दूना महापद्मह्रदमें और उससे दूना तिगिंछ ह्रदमें जानना॥

अथ यथा भरते हिमवत्पर्वतान्निर्गतं गङ्गासिन्धुद्वयं, तथोत्तरे कर्मभूमिसंज्ञैरावतक्षेत्रे शिखरिपर्वतान्निर्गतं रक्तारक्तोदानदीद्वयम्। यथा च हैमवतसंज्ञे जघन्यभोगभूमिक्षेत्रे महाहिमवद्धिमवन्नामपर्वतद्वयात्क्रमेण निर्गतं रोहितरोहितास्यानदीद्वयं, तथोत्तरे हैरण्यवतसंज्ञजघन्यभोगभूमिक्षेत्रे शिखरिरुक्मिसंज्ञपर्वतद्वयात्क्रमेण निर्गतं सुवर्णकूलारूप्यकूलानदीद्वयम्। तथैव यथा हरिसंज्ञमध्यमभोगभूमिक्षेत्रे निषधमहाहिमवन्नामपर्वतद्वयात्क्रमेण निर्गतं हरिद्धरिकान्तानदीद्वयं, तथोत्तरे रम्यकसंज्ञमध्यमभोगभूमिक्षेत्रे रुक्मिनीलनामपर्वतद्वयात्क्रमेण निर्गतं नारीनरकान्तानदीद्वयमिति विज्ञेयम्। सुषमसुषमादिषट्कालसंबन्धिपरमागमोक्तायुरुत्सेधादिसहिता दशसागरोपमकोटिकोटिप्रमितावसर्पिणी तथोत्सर्पिणी च यथा भरते वर्त्तते तथैवैरावते च। अयन्तु विशेषः भरतम्लेच्छखण्डेषु विजयार्धनगेषु च चतुर्थकालसमयाद्यन्ततुल्यका-

लोऽस्ति नापरः । किं बहुना यथा खट्वाया एकभागे ज्ञाते द्वितीयभागस्तथैव ज्ञायते तथैव जम्बूद्वीपस्य क्षेत्रपर्वतनदीह्रदादीनां यदेव दक्षिणविभागे व्याख्यानं तदुत्तरेऽपि विज्ञेयम् ।

अब जैसे भरतक्षेत्रमें हिमवत् पर्वतसे गंगा तथा सिंधु ये दो नदियें निकली हैं वैसे ही उत्तर दिशामें कर्मभूमि संज्ञक जो ऐरावत क्षेत्र है उसमें शिखरी पर्वतसे निकलीं हुई रक्ता तथा रक्तोदा नामक दो नदियें हैं । और जैसे हैमवत नामक जघन्य भोगभूमिके क्षेत्रमें महाहिमवत् और हिमवत् नामक दो पर्वतोंसे क्रमानुसार रोहित तथा रोहितास्या ये दो नदियें निकली हैं, इसी प्रकार उत्तरमें हैरण्यवत संज्ञक जो जघन्य भोगभूमि क्षेत्र है उसमें शिखरी और रुक्मी नामक दो पर्वतोंसे क्रमानुसार सुवर्णकूला तथा रूप्यकूला ये दो नदियें निकली हैं । इसी प्रकार हरिसंज्ञक मध्यम भोगभूमि क्षेत्रमें निषध और महाहिमवत् नामक दो पर्वतोंसे जैसे क्रमानुसार हरित तथा हरिकान्ता ये दो नदियें निकली हैं, उसी प्रकार उत्तरमें रम्यक नामा मध्यम भोगभूमिके क्षेत्रमें रुक्मी और नीलसंज्ञक दो पर्वतोंसे नारी तथा नरकान्ता इन दो नदियोंको क्रमानुसार निकली हुई जानना चाहिये । सुषमसुषमा आदि छहों कालों संबधी जो परमागममें कहे हुए आयु तथा उत्सेध आदि हैं उनसहित दशकोटाकोटि सागर प्रमाण अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी काल जैसे भरतमें है वैसे ही ऐरावतमें भी है । और यह विशेष है कि भरतके म्लेच्छखंडोंमें और विजयार्ध पर्वतोंमें चतुर्थकालकी आदि तथा अन्तके समान काल है, इस सिवाय दूसरा नहीं । विशेष क्या कहें—जैसे खट्वा (खाट) का एक भाग जान लिया जावे तो उसका दूसरा भाग भी उसी प्रकार समझ लिया जाता है; इसी प्रकार जंबू द्वीपके क्षेत्र, नदी, पर्वत और ह्रद आदिका जो दक्षिणदिशा संबंधी व्याख्यान है वही उत्तर दिशामें भी जानना चाहिये ॥

अथ देहममत्वमूलभूतमिथ्यात्वरागादिविभावरहिते केवलज्ञानदर्शनसुखाद्यनन्तगुणसहिते च निजपरमात्मद्रव्ये यया सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभावनया कृत्वा विगतदेहा देहरहिताः सन्तो मुनयः प्राचुर्येण यत्र मोक्षं गच्छन्ति स विदेहो भण्यते । तस्य जम्बूद्वीपस्य मध्यमवर्त्तिनः किमपि विवरणं क्रियते । तद्यथा—नवनवतिसहस्रयोजनोत्सेध एकसहस्रावगाह आदौ भूमितले दशयोजनसहस्रप्रवृत्तविस्तार उपर्युपरि पुनरेकादशांशहानिक्रमेण हीयमानत्वे सति मस्तके योजनसहस्रविस्तार आगमोक्ताकृत्रिमचैत्यालयदेववनदेवावासाद्यागमकथितानेकाश्चर्यसहितो विदेहक्षेत्रमध्ये महामेरुर्नाम पर्वतोऽस्ति । स च गजो जातस्तस्मान्मेरुगजात्सकाशादुत्तरमुखे दन्तद्वयाकारेण यन्निर्गतं पर्वतद्वयं तस्य गजदन्तद्वयसंज्ञेति, तथोत्तरे भागे नीलपर्वते लग्नं तिष्ठति । तयोर्मध्ये यत्त्रिकोणाकारक्षेत्रमुत्तमभोगभूमिरूपं तस्योत्तरकुरुसंज्ञा । तस्य च मध्ये मेरोरीशानदिग्विभागे शीतानीलपर्वतयोर्मध्ये परमागमवर्णितानाद्यकृत्रिमपार्थिवो जम्बूवृक्षस्तिष्ठति । तस्या एव शीताया उभयतटे यमलगिरिसंज्ञं पर्वतद्वयं विज्ञेयम् । तस्मात्पर्वतद्वयाद्दक्षिणभागे कियन्तमध्वानं गत्वा शीतानदीमध्ये अन्तरान्तरेण पद्मादिह्रदपञ्चकमस्ति । तेषां ह्रदानामुभयपार्श्वयोः प्रत्येकं सुवर्णरत्नमयजिनगृहमण्डिता लोकानुयोगव्याख्यानेन दश दश सुवर्णपर्वता भवन्ति । तथैव निश्चयव्यवहाररत्नत्रयाराधकोत्तमपात्रपर-

मभक्तिदत्ताहारदानफलेनोत्पन्नानां तिर्यग्मनुष्याणां स्वशुद्धात्मभावनोत्पन्ननिर्विकारसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादविलक्षणस्य चक्रवर्त्तिभोगसुखादप्यधिकस्य विविधपञ्चेन्द्रियभोगसुखस्य प्रदायका ज्योतिर्गृहप्रदीपतूर्यभोजनवस्त्रमाल्यभाजनभूषणरागमदोत्पादकरसाङ्गसंज्ञा दशप्रकारकल्पवृक्षाः भोगभूमिक्षेत्रं व्याप्य तिष्ठन्तीत्यादिपरमागमोक्तप्रकारेणानेकाश्चर्याणि ज्ञातव्यानि। तस्मादेव मेरुगजाद्दक्षिणदिग्विभागेन गजदन्तद्वयमध्ये देवकुरुसंज्ञमुत्तमभोगभूमिक्षेत्रमुत्तरकुरुवद्विज्ञेयम् ॥

अव शरीरमें ममत्वके कारणभूत जो मिथ्यात्व तथा राग आदि विभाव हैं, उनसे रहित और केवल ज्ञान, केवल दर्शन, अनन्त सुख आदि अनन्त गुणोंसे सहित जो निज परमात्मा द्रव्य है, उसमें जिस सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप भावना करके मुनिजन विगतदेह अर्थात् देहरहित होकर अधिकतासे मोक्षको गमन करते हैं उसको विदेह कहते हैं। इसलिये जंबूद्वीपके मध्यमें वर्त्तमान जो विदेह क्षेत्र है उसका विस्तारसे वर्णन करते हैं। वह इस प्रकार है—निन्यानवे हजार योजन ऊंचा एक हजार योजन गहरा और, प्रथम भूमितलमें दशहजार योजन प्रमाण गोल विस्तारका धारक तथा ऊपर ऊपर एकादशांश (ग्यारवें हिस्से) हानि क्रमसे घटते घटते होनेपर मस्तक (शिखर) पर एक हजार योजन विस्तारका धारक और शास्त्रमें कहेहुए अकृत्रिम चैत्यालय, देव, वन तथा देवोंके स्थान आदि नाना प्रकारके आश्चर्योंसहित ऐसा विदेह क्षेत्रमें महामेरु नामक पर्वत है। वही मानों गज (हाथी) होगया। अतः उस मेरुरूप गजसे उत्तर दिशामें दो दन्तोंके आकारसे जो दो पर्वत निकले हुए हैं, उनकी 'दो गजदन्त' यह संज्ञा है। और वे दोनों उत्तर भागमें जो नील पर्वत है उसमें लगे हुए हैं। उन दोनों गजदंतोंके मध्यमें जो त्रिकोण आकारवाला (तिकोना) उत्तम भोगभूमिरूप क्षेत्र है, उसका 'उत्तरकुरु' यह नाम है। और उसके मध्यमें मेरुकी ईशान दिशामें शीता नदी और नील पर्वतके वीचमें परमागममें कहा हुआ अनादि, अकृत्रिम तथा पृथ्वीका विकाररूप जंवू वृक्ष है। उसी शीता नदीके दोनों किनारोंपर यमलगिरि नामक दो पर्वत जानने चाहिये। उन दोनों यमलगिरि पर्वतोंसे दक्षिण दिशामें कितने ही मार्गके चले जानेपर शीता नदीके बीच २ में पद्म आदि पांच ह्रद हैं। उन ह्रदोंके दोनों पार्श्वों (पसवाड़ों) में से प्रत्येक पार्श्वमें लोकानुयोगके व्याख्यानके अनुसार सुवर्ण तथा रत्ननिर्मित ऐसे जिनचैत्यालयोंसे भूषित दश दश सुवर्णपर्वत हैं। इसी प्रकार निश्चय तथा व्यवहाररूप रत्नत्रयकी आराधना करनेवाले जो उत्तम पात्र हैं, उनको परम भक्तिसे दिया हुआ जो आहारदान उसके फलसे उत्पन्न ऐसे तिर्यंच और मनुष्योंको निज शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न, निर्विकार एवं सदा आनंदरूप सुखामृत रसके आस्वादसे विलक्षण और चक्रवर्तिके जो भोगसुख हैं उनसे भी अधिक ऐसे नानाप्रकारके पंचेन्द्रियों संवन्धी भोग सुखोंको देनेवाले ज्योतिरङ्ग, गृहाङ्ग, प्रदीपांग, तूर्यांग, भोजनांग,

वस्त्रांग, माल्यांग, भाजनांग, भूषणांग तथा राग एवं मदको उत्पन्न करनेवाले रसांग इन उक्त नामोंके धारक दश प्रकारके कल्पवृक्ष हैं । वे भोगभूमि क्षेत्रको व्याप्त करके, स्थित हैं । इत्यादि परमागमकथित प्रकारसे अनेक आश्चर्य समझने चाहिये । और उसी मेरुगजसे निकले हुए दक्षिण दिशामें जो 'दो गजदन्त' हैं उनके मध्यमें उत्तर कुरुके समान देवकुरु नामक उत्तम भोग भूमिका क्षेत्र जानने योग्य है ॥

तस्मादेव मेरुपर्वतात्पूर्वस्यां दिशि पूर्वापरेण द्वाविंशतिसहस्रयोजनविष्कम्भं सवेदिकं भद्रशालवनमस्ति । तस्मात्पूर्वदिग्भागे कर्मभूमिसंज्ञः पूर्वविदेहोऽस्ति । तत्र नीलकुलपर्वताद्दक्षिणभागे शीतानद्या उत्तरभागे मेरोः प्रदक्षिणेन यानि क्षेत्राणि तिष्ठन्ति तेषां विभागः कथ्यते। तथाहि—मेरोः पूर्वदिशाभागे या पूर्वभद्रशालवनवेदिका तिष्टति तस्याः पूर्वदिग्भागे प्रथमं क्षेत्रं भवति, तदनन्तरं दक्षिणोत्तरायतो वक्षारनामा पर्वतो भवति, तदनन्तरं क्षेत्रं तिष्टति, ततोऽप्यनन्तरं विभङ्गा नदी भवति, ततोऽपि क्षेत्रं, तस्मादपि वक्षारपर्वतस्तिष्ठति, ततश्च क्षेत्रं, ततोऽपि विभङ्गानदी, तदनन्तरं क्षेत्रं, ततः परं वक्षारपर्वतोऽस्ति, तदनन्तरं क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, ततश्च क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, तदनन्तरं पूर्वसमुद्रसमीपे यद्देवारण्यं तस्य वेदिका चेति नवभित्तिभिरष्टक्षेत्राणि ज्ञातव्यानि । तेषां क्रमेण नामानि कथ्यन्ते—कच्छा १ सुकच्छा २ महाकच्छा ३ कच्छावती ४ आवर्त्ता ५ लाङ्गलावर्त्ता ६ पुष्कला ७ पुष्कलावती ८ चेति । इदानीं क्षेत्रमध्यस्थितनगरीणां नामानि कथ्यन्ते । क्षेमा १ क्षेमपुरी २ रिष्टा ३ रिष्टपुरी ४ खङ्गा ५ मञ्जूषा ६ औषधी ७ पुण्डरीकिणी चेति ॥

उसी मेरुपर्वतसे पूर्व दिशामें पूर्व पश्चिमको बाईस हजार योजन विष्कंभका धारक वेदीसहित भद्रशाल वन है । उससे पूर्व दिशामें कर्मभूमि संज्ञक पूर्व विदेह है । वहां नील नामक कुलाचलसे दक्षिण दिशामें और शीता नदीके उत्तर भागमें मेरुकी प्रदक्षिणा रूप जो क्षेत्र हैं उनके विभागोंका कथन करते हैं । सो इस प्रकार है—मेरुसे पूर्वदिशाके भागमें जो पूर्वभद्रशालवनकी वेदिका स्थित है, उससे पूर्व दिशाके भागमें प्रथम क्षेत्र है, उसके पीछे दक्षिण उत्तर लंबा वक्षार नामक पर्वत है, उसके पीछे क्षेत्र है, उसके भी आगे विभंगा नाम नदी है, उससे भी आगे क्षेत्र है, उस क्षेत्रके अनन्तर भी वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, फिर भी विभंगा नदी है, उसके अनन्तर क्षेत्र है, उसके पश्चात् वक्षार पर्वत है, उसके आगे क्षेत्र है, उससे आगे फिर विभंगा नदी और फिर क्षेत्र है, उससे आगे फिर वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, उसके अनन्तर पूर्व समुद्रके पास जो देवारण्य नामक वन है; उसकी वेदिका है । ऐसे नौ भित्तियों (दीवारों) से आठ क्षेत्र जानने चाहिये । उनके क्रमसे नाम कहते हैं—कच्छा १, सुकच्छा २, महाकच्छा ३, कच्छावती ४, आवर्त्ता ५, लाङ्गलावर्त्ता ६, पुष्कला ७, और पुष्कलावती ८, ऐसे यह क्रमानुसार आठों क्षेत्रोंके नाम हैं । अब क्षेत्रोंके मध्यमें स्थित जो नगरियें हैं, उनके नाम कहते हैं । वे क्रमसे ये हैं—क्षेमा १ क्षेमपुरी २ रिष्टा ३ रिष्टपुरी ४ खड्गा, ५ मंजूषा ६ औषधी ७ और पुंडरीकिणी ८ ॥

अत ऊर्ध्वं शीताया दक्षिणविभागे निषधपर्वतादुत्तरविभागे यान्यष्टक्षेत्राणि तानि कथ्यन्ते। तद्यथा—पूर्वोक्ता या देवारण्यवेदिका तस्याः पश्चिमभागे क्षेत्रमस्ति, तदनन्तरं वक्षारपर्वतस्ततः परं क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, ततश्च क्षेत्रं, तस्माद्वक्षारपर्वतस्ततश्च क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी ततः क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतः, ततः क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, तदनन्तरं क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, ततो मेरुदिग्भागे पूर्वभद्रशालवनवेदिका भवतीति नवभित्तिमध्येऽष्टौ क्षेत्राणि ज्ञातव्यानि। इदानीं तेषां क्रमेण नामानि कथ्यन्ते—वच्छा १, सुवच्छा२, महावच्छा ३, वच्छावती ४, रम्या ५, रम्यका ६, रमणीया ७, मङ्गलावती ८ चेति। इदानीं तन्मध्यस्थितनगरीणां नामानि कथ्यन्ते—सुसीमा १, कुण्डला २, अपराजिता ३, प्रभाकरी४, अङ्का ५, पद्मा ६, शुभा ७, रत्नसंचया ८ चेति, इति पूर्वविदेहक्षेत्रविभागव्याख्यानं समाप्तम्॥

इसके आगे शीता नदीसे दक्षिण भागमें निषध पर्वतसे उत्तर भागमें जो आठ क्षेत्र हैं उनको कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—पहले कही हुई जो देवारण्यकी वेदी है उसके पश्चिम भागमें क्षेत्र है, तदनन्तर वक्षार पर्वत है, उसके आगे क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी है, उसके पश्चात् क्षेत्र है वक्षार पर्वत है, और फिर क्षेत्र है, तत्पश्चात् विभंगा नदी है, फिर क्षेत्र है, पुनः वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी है, उसके अनन्तर क्षेत्र है, फिर वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, उससे आगे मेरुकी (उत्तर) दिशाके भागमें पूर्वभद्रशाल वनकी वेदी है। ऐसे नौ भित्तियोंके मध्यमें आठ क्षेत्र जानने योग्य हैं। उन क्षेत्रोंके क्रमसे नाम कहते हैं—वच्छा १, सुवच्छा २, महावच्छा ३, वच्छावती ४, रम्या ५, रम्यका ६, रमणीया ७ और मंगलावती ८। अब उन क्षेत्रोंमें स्थित जो नगरियें हैं उनके नाम कहते हैं—सुसीमा १, कुण्डला २, अपराजिता ३, प्रभाकरी ४, अंका ५, पद्मा ६, शुभा ७, और रत्नसंचया ८। इस प्रकार पूर्वविदेहक्षेत्रके विभागोंका व्याख्यान समाप्त हुआ॥

अथ मेरोः पश्चिमदिग्भागे पूर्वापरद्वाविंशतिसहस्रयोजनविष्कम्भो पश्चिमभद्रशालवनानन्तरं पश्चिमविदेहस्तिष्ठति। तत्र निषधपर्वतादुत्तरविभागे शीतोदानद्या दक्षिणभागे यानि क्षेत्राणि तेषां विभाग उच्यते। तथाहि—मेरुदिग्भागे या पश्चिमभद्रशालवनवेदिका तिष्ठति तस्याः पश्चिमभागे क्षेत्रं भवति, ततो दक्षिणोत्तरायतो वक्षारपर्वतस्तिष्ठति, तदनन्तरं क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, ततश्च क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः परं क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, ततः क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, तदनन्तरं पश्चिमसमुद्रसमीपे यद्भूतारण्यवनं तिष्ठति तस्य वेदिका चेति नवभित्तिषु मध्येऽष्टौ क्षेत्राणि भवन्ति। तेषां नामानि कथ्यन्ते। पद्मा १, सुपद्मा २, महापद्मा ३, पद्मकावती ४, शंखा ५, नलिना ६, कुमुदा ७, सलिला ८ चेति। तन्मध्यस्थितनगरीणां नामानि कथयन्ति—अश्वपुरी १, सिंहपुरी २, महापुरी ३, विजयापुरी ४, अरजापुरी ५, विरजापुरी ६, अशोकापुरी ७, विशोकापुरी ८ चेति॥

अब मेरुसे पश्चिम दिशाके भागमें पूर्व पश्चिममें बाईस हजार योजन विष्कंभका धारक पश्चिम भद्रशालवनके पश्चात् पश्चिम विदेह है। वहां निषध पर्वतसे उत्तरके विभागमें और शीतोदा नदीके दक्षिण विभागमें जो क्षेत्र हैं, उनका विभाग कहा जाता है। सोही दिखाते

हैं-मेरु दिशाके (उत्तरके) भागमें जो पश्चिम भद्रशालवनकी वेदिका है, उसके पश्चिम भागमें क्षेत्र है, उससे आगे दक्षिण उत्तर लंबा वक्षार पर्वत है, उसके अनन्तर क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी हैं, और फिर क्षेत्र है, उसके आगे वक्षार पर्वत है, उसके पश्चात् क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी है, उसके अनन्तर क्षेत्र है, उस क्षेत्रके पश्चात् वक्षार पर्वत है, पश्चात् क्षेत्र है, उसके अनंतर पश्चिम समुद्रके समीपमें जो भूतारण्य नामक वन है उसकी वेदिका है। ऐसे नौ भित्तियोंके मध्यमें आठ क्षेत्र होते हैं। उनके नाम कहते हैं,-पद्मा १, सुपद्मा २, महापद्मा ३, पद्मकावती ४, शंखा ५, नलिना ६, कुमुदा ७, और सलिला ८। उन क्षेत्रोंके मध्यमें स्थित नगरियोंके नाम कहते हैं। अश्वपुरी १ सिंहपुरी २ महापुरी ३ विजयापुरी ४ अरजापुरी ५ विरजापुरी ६ अशोकापुरी ७ और विशोकापुरी ८ ॥

अत ऊर्ध्वं शीतोदाया उत्तरभागे नीलकुलपर्वताद्दक्षिणे भागे यानि क्षेत्राणि तिष्ठन्ति तेषां विभागभेदं कथयति। पूर्वभणिता या भूतारण्यवनवेदिका तस्याः पूर्वभागे क्षेत्रं भवति। तदनन्तरं वक्षारपर्वतस्तदनन्तरं क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, ततः क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतः, ततश्च क्षेत्रं, ततश्च विभङ्गा नदी, ततोऽपि क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, ततः क्षेत्रं, ततश्च वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, ततो मेरुदिशाभागे पश्चिमभद्रशालवनवेदिका चेति नवभित्तिपु मध्येऽष्टौ क्षेत्राणि भवन्ति। तेषां क्रमेण नामानि कथ्यन्ते-वप्रा १, सुवप्रा २, महावप्रा ३, वप्रकावती ४, गन्धा ५, सुगन्धा ६, गन्धिला ७, गन्धमालिनी ८ चेति। तन्मध्यस्थितनगरीणां नामानि कथ्यन्ते। विजया १, वैजयन्ती २, जयन्ती ३, अपराजिता ४, चक्रपुरी ५, खड्गपुरी ६, अयोध्या ७, अवध्या ८ चेति ॥

अब इसके अनन्तर शीतोदाके उत्तर भागमें और नील कुलाचलसे दक्षिणभागमें जो क्षेत्र हैं उनके विभाग भेदका वर्णन करते हैं। पहले कही हुई जो भूतारण्यवनकी वेदिका है उसके पूर्वभागमें क्षेत्र है १ और उसके पश्चात् वक्षार नामा पर्वत है, उसके अनंतर पुनः क्षेत्र है २ उसके पश्चात् विभंगा नदी है, उसके पश्चात् पुनः क्षेत्र है ३ उसके पश्चात् पुनः वक्षार पर्वत है, उसके अनंतर पुनः क्षेत्र है ४ उसके पश्चात् पुनः विभंगा नदी है, उसके अनन्तर पुनः क्षेत्र है ५ उसके पश्चात् पुनः वक्षार पर्वत है, उसके पश्चात् पुनः क्षेत्र हैं ६ उसके पश्चात् पुनः विभंगा नदी है, उसके अनन्तर क्षेत्र है, ७ उसके पश्चात् वक्षार पर्वत है, उसके अनन्तर पुनः क्षेत्र है ८ उसके अनंतर मेरुकी दिशाके भागमें पश्चिम भद्रशालवनकी वेदिका है। इस रीतिसे नौ भित्तियोंके मध्यमें आठ क्षेत्र हैं। अब क्रमसे उनके नाम कहते हैं-वप्रा १ सुवप्रा २ महावप्रा ३ वप्रकावती ४ गंधा ५ सुगंधा ६ गंधिला ७ और गंधमालिनी ८ ये अष्ट क्षेत्र हैं। अब उन क्षेत्रोंके मध्यमें वर्त्तमान नगरियोंके नाम कहते हैं। विजया १ वैजयन्ती २ जयन्ती ३ अपराजिता ४ चक्रपुरी ५ खड्गपुरी ६ अयोध्या ७ और अवध्या ८ ये क्रमसे हैं ॥

अथ भरतक्षेत्रे यथा गङ्गासिन्धुनदीद्वयेन विजयार्धपर्वतेन च म्लेच्छखण्डपञ्चकमार्यखण्डं चेति षट् खण्डानि जातानि। तथैव तेषु द्वात्रिंशत्क्षेत्रेषु गङ्गासिन्धुसमाननदीद्वयेन विजयार्धपर्वतेन च प्रत्येकं षट् खण्डानि ज्ञातव्यानि। अयं तु विशेषः। एतेषु सर्वदैव चतुर्थकालादिसमानकालः, उत्कर्षेण पूर्वकोटिजीवितं, पञ्चशतचापोत्सेधश्चेति विज्ञेयम्। पूर्वप्रमाणं कथ्यते। "पुव्वस्स हु परिमाणं सदरिं खलु सदसहस्सकोडीउ। छप्पण्णं च सहस्सा बोधव्वा वासगणनाउ॥१॥" इति संक्षेपेण जम्बूद्वीपव्याख्यानं समाप्तम्॥

अब भरत क्षेत्रमें जैसे गंगा और सिंधु इन दोनों नदियोंसे तथा विजयार्ध पर्वतसे पांच म्लेच्छ खंड और एक आर्य खंड ऐसे छः खंड हुए हैं, उसी प्रकार पूर्वोक्त जो बत्तीस विदेह क्षेत्र हैं उनमें गङ्गा सिंधु समान दो नदियों और विजयार्ध पर्वतसे प्रत्येक क्षेत्रके छः खंड जानने चाहिये। और यह विशेष (अधिकता) है कि इन सब क्षेत्रोंमें सदा ही चौथे कालकी आदिमें जैसा काल रहता है वैसा ही है। उत्कर्ष (उत्कृष्टता) से कोटि पूर्व प्रमाण तो आयु है, और पांचसै धनुष प्रमाण शरीरका उत्सेध है, यह जानना चाहिये। पूर्वका प्रमाण कहते हैं—"सत्तर लाख कोडि छप्पन हजार ये वासगणनासे पूर्वका प्रमाण जानना चाहिये। ऐसे संक्षेपसे जंबूद्वीपका व्याख्यान समाप्त हुआ।

तदनन्तरं यथा सर्वद्वीपेषु सर्वसमुद्रेषु च द्वीपसमुद्रमर्यादाकारिका योजनाष्टकोत्सेधा वज्रवेदिकास्ति तथा जम्बूद्वीपेऽप्यस्तीति विज्ञेयम्। तद्बहिर्भागे योजनलक्षद्वयवलयविष्कम्भ आगमकथितषोडशसहस्रयोजनजलोत्सेधाद्यनेकाश्चर्यसहितो लवणसमुद्रोऽस्ति। तस्मादपि बहिर्भागे योजनलक्षचतुष्टयवलयविष्कम्भो धातकीखण्डद्वीपोऽस्ति। तत्र च दक्षिणभागे लवणोदधिकालोदधिसमुद्रद्वयवेदिकास्पर्शी दक्षिणोत्तरायामः सहस्रयोजनविष्कम्भः शतचतुष्टयोत्सेध इक्ष्वाकारनामपर्वतोऽस्ति। तथोत्तरविभागेऽपि। तेन पर्वतद्वयेन खण्डीकृतं पूर्वापरधातकीखण्डद्वयं ज्ञातव्यम्। तत्र पूर्वधातकीखण्डद्वीपमध्ये चतुरशीतिसहस्रयोजनोत्सेधः सहस्रयोजनावगाहः क्षुल्लकमेरुरस्ति। तथा पश्चिमधातकीखण्डेऽपि। यथा जम्बूद्वीपमहामेरौ भरतादिक्षेत्रहिमवदादिपर्वतगङ्गादिनदीपद्मादिह्रदानां दक्षिणोत्तरेण व्याख्यानं कृतं तथात्र पूर्वधातकीखण्डमेरौ पश्चिमधातकीखण्डमेरौ च ज्ञातव्यम्। अत एव जम्बूद्वीपापेक्षया संख्यां प्रति द्विगुणानि भवन्ति भरतक्षेत्राणि, न च विस्तारायामापेक्षया। कुलपर्वताः पुनर्विस्तारापेक्षयैव द्विगुणा नत्वायामं प्रति। तत्र धातकीखण्डद्वीपे यथा चक्रस्यारास्तथाकाराः कुलपर्वता भवन्ति। यथा चाराणां विवराणि छिद्राणि मध्यान्यभ्यन्तरे सङ्कीर्णानि बहिर्भागे विस्तीर्णानि तथा क्षेत्राणि ज्ञातव्यानि॥

उस जंबूद्वीपके पश्चात् जैसे सब द्वीप और समुद्रोंमें द्वीप और समुद्रकी मर्यादा (सीमा व हद) करनेवाली आठ योजन ऊंची वज्रकी वेदिका (दीवार) है, उसी प्रकारसे जंबूद्वीपमें भी है, यह जानना चाहिये। उस वेदिकाके बाह्य भागमें दो लाख योजन प्रमाण गोलाकार विष्कंभधारक, शास्त्रमें उक्त सोलह हजार योजन जलकी ऊँचाई आदि अनेक

आश्चर्यों सहित लवणसमुद्र है। उस लवणसमुद्रके बाह्य भागमें चार लाख योजन गोल विष्कंभका धारक धातकीखंड द्वीप है। और वहांपर दक्षिण भागमें लवणोदधि और कालोदधि इन दोनो समुद्रोंकी वेदिकाको स्पर्श करनेवाला, दक्षिणसे उत्तरकी ओर लंबा, एक हजार योजन विष्कंभका धारक तथा चारसो योजन ऊंचा इक्ष्वाकारनामा पर्वत है। और इसी प्रकार उत्तर भागमें भी एक इक्ष्वाकार पर्वत है। इन दोनों पर्वतोंसे खंडरूप हुए ऐसे, पूर्वधातकीखंड तथा पश्चिमधातकीखण्ड ऐसे दो खंड जानने चाहिये। उनमें जो पूर्वधातकीखंड नामा द्वीप है उसके मध्यमें चौरासी हजार योजन ऊंचा और एक हजार योजन गहरा छोटा मेरु है। और उसी प्रकार पश्चिमधातकीखंडमें भी एक छोटा मेरु है। और जैसे जंबूद्वीपके महामेरुमें भरत आदि क्षेत्र, हिमवत् आदि पर्वत, गंगा आदि नदी और पद्म आदि हृदोंका दक्षिण उत्तर रूपसे व्याख्यान किया है; वैसे ही इस पूर्वधातकीखंडके मेरु और पश्चिमधातकीखंडके मेरुमें जानना चाहिये। और इसी कारण धातकीखंडमें जंबूद्वीपकी अपेक्षा गिनतीमें ही भरत आदि दूने होते हैं; परन्तु विस्तार तथा आयामकी अपेक्षासे नहीं। और जो कुलपर्वत हैं वे तो विस्तारकी अपेक्षा ही द्विगुण हैं न कि, आयाम (लंबाई) की अपेक्षासे। उस धातकीखंडद्वीपमें जैसे चक्रके आरा होते हैं वैसे आकारके धारक कुलाचल हैं। और जिस प्रकार चक्रके आरोंके छिद्र भीतरसे तो संकीर्ण (सकड़े) होते हैं और बाह्य देशमें विस्तीर्ण (बड़े) होते हैं, इसी प्रकार क्षेत्रोंको समझना चाहिये॥

इत्थंभूतं धातकीखण्डद्वीपमष्टलक्षयोजनवलयविष्कम्भः कालोदकसमुद्रः परिवेष्ट्य तिष्ठति। तस्माद्बहिर्भागे योजनलक्षाष्टकं गत्वा पुष्करद्वीपस्य वलयाकारेण चतुर्दिशाभागे मानुषोत्तरनामा पर्वतस्तिष्ठति। तत्र पुष्करार्धेऽपि धातकीखण्डद्वीपवद्दक्षिणोत्तरेणेक्ष्वाकारनामपर्वतद्वयं पूर्वापरेण क्षुल्लकमेरुद्वयं च। तथैव भरतादिक्षेत्रविभागश्च बोद्धव्यः। परं किन्तु जम्बूद्वीपभरतादिसंख्यापेक्षया भरतक्षेत्रादिद्विगुणत्वं न च धातकीखण्डापेक्षया। कुलपर्वतानां तु धातकीखण्डकुलपर्वतापेक्षया द्विगुणो विष्कम्भ आयामश्च। उत्सेधप्रमाणं पुनर्दक्षिणभागे विजयार्धपर्वते योजनानि पञ्चविंशतिः, हिमवति पर्वते शतं, महाहिमवति द्विशतं, निषधे चतुःशतं, तथोत्तरभागे च। मेरुसमीपगजदन्तेषु शतपञ्चकं, नदीसमीपे वक्षारेषु चान्यनिषधनीलसमीपे चतुःशतं च, शेषपर्वतानां च मेरुं त्यक्त्वा यदेव जम्बूद्वीपे भणितं तदेवार्धतृतीयद्वीपेषु च विज्ञेयम्। तथा नामानि च क्षेत्रपर्वतनदीदेशनगरादीनां तान्येव। तथैव क्रोशद्वयोत्सेधा पञ्चशतधनुर्विस्तारा पद्मरागरत्नमयी वनादीनां वेदिका सर्वत्र समानेति। अत्रापि चक्राकारवत्पर्वता आरविवरसंस्थानानि क्षेत्राणि ज्ञातव्यानि। मानुषोत्तरपर्वतादभ्यन्तरभाग एव मनुष्यास्तिष्ठन्ति न च बहिर्भागे। तेषां च जघन्यजीवितमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणम्, उत्कर्षेण पल्यत्रयं, मध्ये मध्यमविकल्पा बहवस्तथा तिरश्चां च। एवमसंख्येयद्वीपसमुद्रविस्तीर्णतिर्यग्लोकमध्येऽर्धतृतीयद्वीपप्रमाणः संक्षेपेण मनुष्यलोको व्याख्यातः॥

इस प्रकार जो धातकीखंड द्वीप है उसको आठ लाख योजनप्रमाण विष्कंभका धारक कालोदक समुद्र वेढ़े हुए स्थित है। उस कालोदक समुद्रके बाह्य भागमें आठ लाख योजन चलके पुष्करवर द्वीपके अर्ध भागमें गोलाकार रूपसे चारों दिशाओंमें मानुषोत्तर नामा पर्वत विद्यमान है। उस पुष्करार्ध द्वीपमें भी धातकीखंडनामक द्वीपके समान दक्षिण तथा उत्तर दिशामें इक्ष्वाकार नामके धारक दो पर्वत, पूर्व पश्चिममें दो छोटे मेरु, और इसी प्रकार भरत आदि क्षेत्रोंका विभाग जानना चाहिये। परन्तु विशेष यह है कि जंबूद्वीपके भरत आदिकी अपेक्षासे यहांपर द्विगुण २ (दूने २) भरत आदि क्षेत्र हैं और धातकीखंडकी अपेक्षासे भरत आदि दूने नहीं हैं। और कुलपर्वतोंका विष्कंभ तथा आयाम धातकीखंडके कुलपर्वतोंकी अपेक्षासे द्विगुण है। और उँचाईका प्रमाण तो जो दक्षिण भागमें विजयार्धपर्वत है उसमें पच्चीस योजन है, हिमवत् पर्वतमें सौ १०० योजन, महाहिमवान् पर्वतमें दोसौ योजन, निषधमें चारसौ योजन प्रमाण है। तथा उत्तर भागमें भी इसी प्रकार उत्सेध प्रमाण हैं। मेरुके समीप भागमें जो गजदंत हैं उनमें पांचसो योजनकी उँचाई है। नदीके निकटवर्त्ती जो वक्षार पर्वत हैं उनमें तथा अन्तिम नील और निषध पर्वतके पास चारसो योजनकी उँचाई है। और मेरुको छोड़कर जो शेष (बाकीके) पर्वत हैं उनमें जो जंबूद्वीपमें कही है सोही ढाई द्वीपमें जाननी चाहिये। तथा क्षेत्र, पर्वत, नदी, देश, नगर आदिके नाम भी वेही हैं जो कि जंबूद्वीपमें हैं। और इसी प्रकार दो कोश ऊंची पांचसो धनुष चौड़ी पद्मराग रत्ननिर्मित जो वन आदिकी वेदिका है वह सब द्वीपोंमें समान है। इस पुष्करार्ध द्वीपमें भी चक्रके आकार समान पर्वत हैं और आरोंके छिद्रोंके समान क्षेत्र हैं, यह समझना चाहिये। मानुषोत्तर पर्वतके अभ्यन्तर (अंदर) के भागमें ही मनुष्य निवास करते हैं और बाह्य भागमें नहीं; और उन मनुष्योंका जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्तके तथा उत्कृष्ट आयु तीन पल्यके बराबर है। मध्यमें मध्यम विकल्प बहुतसे हैं। तिर्यंचोंका आयु भी मनुष्योंके आयुके सदृश ही है। इस प्रकार असंख्यात द्वीप समुद्रोंसे विस्तारको प्राप्त जो तिर्यग्लोक है, उसके मध्यमें ढाई द्वीप प्रमाण जो मनुष्यलोक है, उसका संक्षेपसे व्याख्यान किया ॥

अथ मानुषोत्तरपर्वतसकाशाद्बहिर्भागे स्वयम्भूरमणद्वीपार्धे परिक्षिप्य योऽसौ नागेन्द्रनामा पर्वतस्तस्मात्पूर्वभागे ये संख्यातीता द्वीपसमुद्रास्तिष्ठन्ति तेषु यद्यपि व्यन्तरा निरन्तरा इति वचनाद् व्यन्तरदेवावासास्तिष्ठन्ति तथापि पल्यप्रमाणायुषां तिरश्चां संबन्धिनी जघन्यभोगभूमिरिति ज्ञेयम्। नागेन्द्रपर्वताद्बहिर्भागे स्वयम्भूरमणद्वीपार्धे समुद्रे च पुनर्विदेहवत्सर्वदैव कर्मभूमिश्चतुर्थकालश्च। परं किन्तु मनुष्या न सन्ति। एवमुक्तलक्षणतिर्यग्लोकस्य तदनन्तरं मध्यमभागवर्त्तिनो मनुष्यलोकस्य च प्रतिपादनेन संक्षेपेण मध्यमलोकव्याख्यानं समाप्तम्। अथ मनुष्यलोके द्विहीनशतचतुष्टयं तिर्यग्लोके तु नन्दीश्वरकुण्डलरुचकाभिधानद्वीपत्रयेषु क्रमेण द्विपञ्चाशच्चतुष्टयचतुष्टयसंख्याश्चाकृत्रिमाः स्वतन्त्रजिनगृहा ज्ञातव्याः ॥

अब मानुषोत्तर पर्वतसे बाह्य भागमें स्वयंभूरमण नामा द्वीपके अर्धभागको वेढ़कर जो नागेन्द्र नामक पर्वत है उस पर्वतके पूर्व भागमें जो असंख्यात द्वीप समुद्र हैं उनमें यद्यपि व्यन्तर देव निरन्तर रहते हैं इस वचनसे व्यन्तर देवोंके आवास हैं तथापि एक पल्य प्रमाण आयुके धारक तिर्यंचों संबंधिनी जघन्य भोगभूमि है ऐसा जानना चाहिये। तथा नागेन्द्रपर्वतसे बाह्य भागमें जो स्वयंभूरमण नामक आधा द्वीप और पूर्ण स्वयंभूरमण समुद्र है उसमें विदेह क्षेत्रके समान सदा ही कर्मभूमि और चतुर्थ काल रहता है। परन्तु विशेष यह है कि वहांपर मनुष्य नहीं हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणके धारक तिर्यग् लोकके तथा उसके पश्चात उस तिर्यक् लोकके मध्यमें विद्यमान जो मनुष्य लोक है उसके संक्षेपसे निरूपणद्वारा मध्यलोकका व्याख्यान समाप्त हुआ। और मनुष्यलोकमें तीनसो अट्ठानवे ३९८ और तिर्यक् लोकमें नन्दीश्वर द्वीपमें बावन ५२, कुण्डल द्वीपमें चार तथा रुचक द्वीपमें चार, इस प्रकार सब मिलके मध्यलोकमें चारसो अट्ठावन ४५८ अकृत्रिम स्वतंत्र चैत्यालय जानने चाहिये॥

अत ऊर्ध्वं ज्योतिर्लोकः कथ्यते। तद्यथा—चन्द्रादित्यग्रहनक्षत्राणि प्रकीर्णतारकाश्चेति ज्योतिष्कदेवाः पञ्चविधा भवन्ति। तेषां मध्येऽस्माद्भूमितलादुपरि नवत्यधिकसप्तशतयोजनान्याकाशे गत्वा तारकविमानाः सन्ति, ततोऽपि योजनदशकं गत्वा सूर्यविमानाः, ततः परमशीतियोजनानि गत्वा चन्द्रविमानाः, ततोऽपि त्रैलोक्यसारकथितक्रमेण योजनचतुष्टयं गते अश्विन्यादिनक्षत्रविमानाः, ततःपरं योजनचतुष्टयं गत्वा बुधविमानाः, ततःपरं योजनत्रयं गत्वा शुक्रविमानाः, ततो योजनत्रये गते बृहस्पतिविमानाः, ततो योजनत्रयानन्तरं मङ्गलविमानाः, ततोऽपि योजनत्रयानन्तरं शनैश्चरविमाना इति। तथा चोक्तं "णउदुत्तरसत्तसया दस सीदि चउदुगं तु तिचउक्कं। तारारविससिरिक्खा बुहभग्गवअंगिरारसणी।१।" ते च ज्योतिष्कदेवा अर्धतृतीयद्वीपेषु निरन्तरं मेरोः प्रदक्षिणेन परिभ्रमणगतिं कुर्वन्ति। तत्र घटिकाप्रहरदिवसादिरूपः स्थूलव्यवहारकालः समयनिमिषादिसूक्ष्मव्यवहारकालवत् यद्यप्यनादिनिधनेन समयघटिकादिविवक्षितविकल्परहितेन कालाणुद्रव्यरूपेण निश्चयकालेनोपादानभूतेन जन्यते तथापि चन्द्रादित्यादिज्योतिष्कदेवविमानगमनागमनेन कुम्भकारेण निमित्तभूतेन मृत्पिण्डोपादानजनितघट इव व्यज्यते प्रकटीक्रियते ज्ञायते तेन कारणेनोपचारेण ज्योतिष्कदेवकृत इत्यभिधीयते। निश्चयकालस्तु तद्विमानगतिपरिणतेर्बहिरङ्गसहकारिकारणं भवति कुम्भकारचक्रभ्रमणस्याधस्तनशिलावदिति॥

अब इसके अनंतर ज्योतिष्कलोकका वर्णन करते हैं। वह इस प्रकार है—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णकतारा ऐसे ज्योतिष्क देव पांच प्रकारके होते हैं। उनके मध्यमें इस पृथ्वीतलसे ऊपर सातसौ नव्वे ७९० योजन आकाशमें जाकर तारोंके विमान हैं, और वहांसे दश योजन ऊपर जाके सूर्योंके विमान हैं। उसके पश्चात् अस्सी ८० योजन ऊपर जाकर चन्द्रमाके विमान हैं। उसके अनंतर त्रैलोक्यसारमें कहेहुए क्रमानुसार चार योजन ऊपर जाके अश्विनी आदि नक्षत्रोंके विमान हैं। उसके पश्चात् चार योजन ऊपर जाके बुधके

विमान हैं। उसके अनन्तर तीन योजन ऊपर जाके शुक्रके विमान हैं। और वहांसे तीन योजन ऊपर चलकर बृहस्पतिके विमान हैं। उसके पश्चात् तीन योजनपर मंगलके विमान हैं। और वहांसे भी तीन योजनके अनन्तर शनैश्चरके विमान हैं। सोही कहा है—"सातसौ नब्बे, दस, अस्सी, चार, चार, तीन, तीन, तीन, और तीन योजन ऊपर क्रमसे तारा, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, बुध, शुक्र, बृहस्पति, मंगल और शनैश्चर इनके विमान हैं। १।"। वे ज्योतिष्कदेव ढाई द्वीपमें निरन्तर (सदा) मेरुकी प्रदक्षिणापूर्वक परिभ्रमण (गमन) करते हैं। उन ढाई द्वीपोंमें घटिका प्रहर, दिवस आदिरूप स्थूल (मोटा) व्यवहार काल है. समय निमिष आदि सूक्ष्म कालके समान यद्यपि यह काल अनादिनिधन (आदि और अंतरहित) और समय, घटिका आदि विवक्षित भेदोंसे रहित जो कालाणुद्रव्यरूप उपादानभूत निश्चयकाल है उससे उत्पन्न होता है; तथापि जैसे निमित्तभूत कुंभकारद्वारा मृत्तिकापिंड है उपादान कारण जिसका ऐसा घट प्रकट किया जाता है, उसी प्रकार चन्द्र, सूर्य आदि ज्योतिष्कदेवोंके विमानोंके गमनागमन (जाने आने)से यह काल जाना जाता है, इस कारण उपचारसे "व्यवहार काल ज्योतिष्कदेवोंका किया हुआ है" ऐसा कहा जाता है। और जो निश्चय काल है वह तो जैसे कुंभकारके चक्र (चाक)के भ्रमणमें उस चक्रके नीचेकी शिला बहिरंग सहकारी कारण है उस प्रकार उन ज्योतिष्कदेवोंके विमानोंकी गति परिणति (गमनरूप परिणाम)में बहिरंग सहकारी कारण होता है॥

इदानीमर्धतृतीयद्वीपेषु चन्द्रादित्यसंख्या कथ्यते। तथाहि—जम्बूद्वीपे चन्द्रद्वयं सूर्यद्वयं च, लवणोदे चतुष्टयं, धातकीखण्डद्वीपे द्वादश चन्द्रादित्याश्च, कालोदकसमुद्रे द्विचत्वारिंशच्चन्द्रादित्याश्च, पुष्करार्धे द्वीपे द्वासप्ततिचन्द्रादित्याश्चेति। ततःपरं भरतैरावतस्थितजम्बूद्वीपचन्द्रसूर्ययोः किमपि विवरणं क्रियते। तद्यथा—जम्बूद्वीपाभ्यन्तरे योजनानामशीतिशतं बहिर्भागे लवणसमुद्रसंबन्धे त्रिंशदधिकशतत्रयमिति समुदायेन दशोत्तरयोजनशतपञ्चकं चारक्षेत्रं भण्यते तच्चन्द्रादित्ययोरेकमेव। तत्र भरतेन बहिर्भागे तस्मिंश्चारक्षेत्रे सूर्यस्य चतुरशीतिशतसंख्या मार्गा भवन्ति, चन्द्रस्य पञ्चदशैव। तत्र जम्बूद्वीपाभ्यन्तरे कर्कटसङ्क्रान्तिदिने दक्षिणायनप्रारम्भे निषधपर्वतस्योपरि प्रथममार्गे सूर्यः प्रथमोदयं करोति। यत्र सूर्यविमानस्थं निर्दोषपरमात्मनो जिनेश्वरस्याकृत्रिमं जिनबिम्बं प्रत्यक्षेण दृष्ट्वा अयोध्यानगरीस्थितो निर्मलसम्यक्त्वानुरागेण भरतचक्री पुष्पाञ्जलिमुत्क्षिप्यार्घं ददातीति। तन्मार्गस्थितभरतक्षेत्रादित्यस्यैरावतादित्येन सह तथापि चन्द्रस्याचन्द्रेण सह यदन्तरं भवति तद्विशेषेणागमतो ज्ञातव्यम्॥

अब ढाई द्वीपोंमें जो चन्द्र और सूर्य हैं उनकी संख्याका कथन करते हैं। वह इस प्रकार है—जंबूद्वीपमें दो चन्द्रमा और दो सूर्य हैं, लवणोदक समुद्रमें चार चन्द्रमा और चार सूर्य हैं, धातकी खण्ड द्वीपमें बारह चन्द्रमा और बारह सूर्य हैं, कालोदक समुद्रमें बयालीस ४२ चन्द्रमा और बयालीस ४२ ही सूर्य हैं तथा पुष्करार्ध द्वीपमें बहत्तर ७२ चन्द्रमा

और बहत्तर ही सूर्य हैं। इसके अनन्तर भरत और ऐरावतमें स्थित जो जम्बूद्वीपके चन्द्र तथा सूर्य हैं उनका कुछ थोड़ासा विवरण करते हैं। वह इस प्रकार है–जम्बूद्वीपके भीतर एकसो अस्सी और बाह्य भागमें अर्थात् लवण समुद्रके संबंधमें तीनसो तीस योजन ऐसे दोनों मिलके पांचसो दश योजन प्रमाण सूर्यका चारक्षेत्र (गमनका क्षेत्र) कहलाता है। सो चन्द्र तथा सूर्य इन दोनोंका एक ही है। इनमें भरतक्षेत्रसे बाह्य भागमें उस चारक्षेत्रमें सूर्यके एकसो चौरासी मार्ग होते हैं और चन्द्रमाके पन्द्रह ही मार्ग हैं। उनमें जंबूद्वीपके भीतर कर्कट संक्रान्तिके दिवस जब कि दक्षिण अयनका प्रारंभ होता है तब निषध पर्वतके ऊपर प्रथम मार्गमें सूर्य प्रथम उदय करता है। जहांपर सूर्यके विमानमें वर्तमान जो निःदोंष परमात्मा श्रीजिनेन्द्र हैं उनके अकृत्रिम जिनबिंबको अयोध्या नगरीमें स्थित भरतक्षेत्रका चक्रवर्ती निर्मल सम्यक्त्वके अनुरागसे अवलोकन करके, पुष्पांजलि उछालकर, अर्घ देता है। उस प्रथम मार्गमें स्थित जो भरतक्षेत्रका सूर्य है उसका ऐरावत क्षेत्रके सूर्यके साथ तथा चंद्रमाका चंद्रमाके साथ और भरतक्षेत्रके सूर्य चंद्रमाओंका मेरुके साथ जो अन्तर (फासला व दूरी) रहता है वह विशेषतासे आगमोंसे जानना चाहिये॥

अथ "सदभिस भरणी अद्दा सादी असलेस जेट्ठमवरवरा। रोहिणिविसहपुणव्वसु तिउत्तरा मज्झिमा सेसा ।१।" इति गाथाकथितक्रमेण यानि जघन्योत्कृष्टमध्यनक्षत्राणि तेषु मध्ये कस्मिन्नक्षत्रे कियन्ति दिनान्यादित्यस्तिष्टतीति। "इंदु रवीदो रिक्खा सत्तट्ठियपंचगयणखंडहिया। अहियहिदरिक्खखंडा इंदुरविअत्थणमुहुत्ता ।१।" इत्यनेन गाथासूत्रेणागमकथितक्रमेण पृथक्पृथगानीय मेलापके कृते सति षडधिकषष्टियुतत्रिशतसंख्यदिनानि भवन्ति। तस्य दिनसमूहार्धस्य यदा द्वीपाभ्यन्तराद्दक्षिणेन वहिर्भागेषु दिनकरो गच्छति तदा दक्षिणायनसंज्ञा; यदा पुनः समुद्रात्सकाशादुत्तरेणाभ्यन्तरमार्गेषु समायाति तदोत्तरायणसंज्ञेति। तत्र यदा द्वीपाभ्यन्तरे प्रथममार्गपरिधौ कर्कटसंक्रान्तिदिने दक्षिणायनप्रारम्भे तिष्ठत्यादित्यस्तदा चतुर्णवतिसहस्रपञ्चविंशत्यधिकपञ्चयोजनशतप्रमाण उत्कर्षेणादित्यविमानस्य पूर्वापरेणातपविस्तारो ज्ञेयः। तत्र पुनरष्टादशमुहूर्तैर्दिवसो भवति द्वादशमुहूर्तैं रात्रिरिति। ततः क्रमेणातपहानौ सत्यां मुहूर्तद्वयस्यैकषष्टिभागीकृतस्यैको भागो दिवसमध्ये दिनं प्रति हीयते यावल्लवणसमुद्रेऽवसानमार्गे माघमासे मकरसंक्रान्तावुत्तरायणदिवसे त्रिषष्टिसहस्राधिकषोडशयोजनप्रमाणो जघन्येनादित्यविमानस्य पूर्वापरेणातपविस्तारो भवति। तथैव द्वादशमुहूर्तैर्दिवसो भवत्यष्टादशमुहूर्तैं रात्रिश्चेति। शेषं विशेषव्याख्यानं लोकविभागादौ विज्ञेयम्।

अब "शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाती, आश्लेषा, ज्येष्ठा ये छः नक्षत्र जघन्य हैं। रोहिणी, विशाखा, पुनर्वसु, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, और उत्तराभाद्रपद ये ६ नक्षत्र उत्कृष्ट हैं। इनके अतिरिक्त शेष जो नक्षत्र हैं वे मध्यम हैं ।१। इस गाथामें कहे हुए क्रमके अनुसार जो जघन्य, उत्कृष्ट तथा मध्यम नक्षत्र हैं, उनमें किस नक्षत्रमें कितने दिन सूर्य ठहरता है सो कहते हैं "चंद्र १७६८, सूर्य १८३५ और नक्षत्र १८४० गगन खंडमें

एक मुहूर्तमें गमन करते हैं सो अधिक भागोंसे नक्षत्रखंडोंके भाग देनेसे जो मुहूर्त लब्ध होते हैं उन प्रमाण एक नक्षत्रपर चंद्र और सूर्यकी स्थिति जानो. इस प्रकार इस गाथामें कहे हुए क्रमसे भिन्नभिन्न दिनोंको लेकर, उनको जोड़नेसे तीनसो छाछठ ३६६ दिन होते हैं। जब द्वीपके भीतरसे दक्षिण दिशाके बाह्य मार्गोंमें सूर्य गमन करता है तब तीनसो छाछठ दिनके आधे जो एकसो तिरासी १८३ दिन हैं उनकी दक्षिणायन संज्ञा होती है, और इसी प्रकार जब सूर्य समुद्रसे उत्तर दिशाको अभ्यन्तर मार्गोंमें आता है तब शेष जो १८३ दिन हैं उनका उत्तरायण यह नाम होता है। उनमें जब द्वीपके अभ्यन्तर भागमें कर्कट संक्रान्तिके दिन दक्षिण अयनके प्रारंभमें सूर्य प्रथम मार्गकी परिधिमें स्थित होता है तब चौरानवे हजार पांचसो पचीस योजन प्रमाण सूर्यके विमानका पूर्व पश्चिमसे आतप (धूपका) विस्तार (फैलाव) होता है यह जानना चाहिये। और उस समय अठारह मुहूर्तोंसे दिन और बारह मुहूर्तोंसे रात्रि होती है। फिर यहांसे क्रम क्रमसे आतपकी हानि होनेपर दो मुहूर्तोंके इकसठ भागोंमेंसे एक भाग प्रतिदिन दिवसमें घटता है। यह तबतक घटता है जबतक कि लवणसमुद्रके अन्तके मार्गमें माघमासमें मकर संक्रान्तिमें उत्तरायण दिवसके प्रारंभमें जघन्यतासे सूर्यके विमानका आतप विस्तार त्रेसठ हजार सोलह योजन प्रमाण होता है। उस समय उसी प्रकार बारह मुहूर्तोंसे दिन और अठारह मुहूर्तोंसे रात्रि होती है। इसके अतिरिक्त अन्य जो विशेष वर्णन है सो लोकत्रिभाग आदिमें जानना चाहिये ॥

ये तु मनुष्यक्षेत्राद्बहिर्भागे ज्योतिष्कविमानास्तेषां चलनं नास्ति। ते च मानुषोत्तरपर्वताद्बहिर्भागे पञ्चाशत्सहस्राणि योजनानां गत्वा वलयाकारं पङ्क्तिक्रमेण पूर्वक्षेत्रं परिवेष्टय तिष्ठन्ति। तत्र प्रथमवलये चतुश्चत्वारिंशदधिकशतप्रमाणाश्चन्द्रास्तथादित्याश्चान्तरान्तरेण तिष्ठन्ति। ततः परं योजनलक्षे लक्षे गते तेनैव क्रमेण वलयं भवति। अयन्तु विशेषः--वलये वलये चन्द्रचतुष्टयं सूर्यचतुष्टयं च वर्धते यावत्पुष्करार्धबहिर्भागे वलयाष्टकमिति। ततः पुष्करसमुद्रप्रवेशे वेदिकायाः सकाशात्पञ्चाशत्सहस्रप्रमितयोजनानि जलमध्ये प्रविश्य यत्पूर्वं चत्वारिंशदधिकशतप्रमाणं प्रथमवलयं व्याख्यातं तस्माद्द्विगुणसंख्यानं प्रथमवलयं भवति। तदनन्तरं पूर्ववद्योजनलक्षे लक्षे गते वलयं भवति चन्द्रचतुष्टयस्य सूर्यचतुष्टयस्य च वृद्धिरित्यनेनैव क्रमेण स्वयम्भूरमणसमुद्रबहिर्भागवेदिकापर्यन्तं ज्योतिष्कदेवानामवस्थानं बोद्धव्यम्। एते च प्रतरासंख्येयभागप्रमिता असंख्येया ज्योतिष्कविमाना अकृत्रिमसुवर्णमयरत्नमयजिनचैत्यालयमण्डिता ज्ञातव्याः। इति संक्षेपेण ज्योतिष्कलोकव्याख्यानं समाप्तम् ॥

और जो मनुष्यक्षेत्र (ढाई द्वीप)से बहिर्भागमें ज्योतिष्कविमान हैं उनका चलन(गमन) नहीं है; तथा वे मानुषोत्तर पर्वतके बाह्य भागमें पचास हजार योजन गमन कर, वलयाकार (गोलाकार) पंक्तिरूप क्रमसे पूर्व (पहिले) क्षेत्रको वेढ़ (घेर) कर, रहते हैं। उनमें जो प्रथम वलय है उसमें एकसो चवालीस १४४ चन्द्रमा तथा सूर्य अन्तरान्तर (दूर दूर)

से निवास करते हैं। उसके पश्चात् एक एक लाख योजन चले जानेपर इसी पूर्वोक्त क्रमानुसार वलय होता है। और विशेष यह है कि वलय २ (हर एक वलय)में चार चन्द्रमा तथा चार सूर्य बढ़ते हैं सो ये पुष्करार्धके बाह्य भागमें जो आठ वलय हैं वहांतक बढ़ते हैं। उसके पश्चात् पुष्कर समुद्रके प्रवेशमें जो वेदिका है उससे पचास हजार योजन प्रमाण जलभागमें जाकर, जो पहले प्रथम वलयमें एकसो चवालीस चन्द्र तथा सूर्योंका कथन किया है उससे द्विगुण अर्थात् दोसो अट्ठासी चंद्रमा और सूर्योंका धारक प्रथम वलय है। उसके पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार एक एक लाख योजन चले जानेपर वलय है और प्रत्येक वलयमें चार चन्द्रमा और चार सूर्योंकी वृद्धि होती है। सो इसी क्रमसे स्वयंभूरमण समुद्रकें अन्तकी वेदिका पर्यन्त ज्योतिष्कदेवोंका निवास जानना चाहिये। और ये सब प्रतरके असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यात ज्योतिष्कविमान अकृत्रिम सुवर्ण तथा रत्नमय जो जिनचैत्यालय हैं उनसे भूषित हैं ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार संक्षेपसे ज्योतिष्क लोकका वर्णन समाप्त हुआ॥

अथानन्तरमूर्ध्वलोकः कथ्यते। तथाहि सौधर्मैशानसनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्टशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारानतप्राणतारणाच्युतसंज्ञाः षोडश स्वर्गास्ततोऽपि नवग्रैवेयकसंज्ञास्ततश्च नवानुदिशसंज्ञं नवविमानसंख्यमेकपटलं ततोऽपि पञ्चानुत्तरसंज्ञं पञ्चविमानसंख्यमेकपटलं चेत्युक्तक्रमेणोपर्युपरि वैमानिकदेवास्तिष्ठन्तीति वार्त्तिकं सङ्ग्रहवाक्यं समुदायकथनमिति यावत्। आदिमध्यान्तेषु द्वादशाष्टचतुर्योजनवृत्तविष्कम्भा चत्वारिंशत्प्रमितयोजनोत्सेधा या मेरुचूलिका तिष्ठति तस्योपरि कुरुभूमिजमर्त्यवालाग्रान्तरितः पुनर्ऋजुविमानमस्ति। तदादिं कृत्वा चूलिकासहितलक्षयोजनप्रमाणं मेरूत्सेधमानमर्द्धाधिकैकरज्जुप्रमाणं यदाकाशक्षेत्रं तत्पर्यन्तं सौधर्मैशानसंज्ञं स्वर्गयुगलं तिष्ठति। ततः परमर्द्धाधिकैकरज्जुपर्यन्तं सनत्कुमारमाहेन्द्रसंज्ञं स्वर्गयुगलं भवति, तस्मादर्द्धरज्जुप्रमाणाकाशपर्यन्तं ब्रह्मब्रह्मोत्तराभिधानं स्वर्गयुगलमस्ति, ततोऽप्यर्द्धरज्जुपर्यन्तं लान्तवकापिष्टनामस्वर्गयुगलमस्ति, ततश्चार्द्धरज्जुपर्यन्तं शुक्रमहाशुक्राभिधानं स्वर्गद्वयं ज्ञातव्यम्, तदनन्तरमर्द्धरज्जुपर्यन्तं शतारसहस्रारसंज्ञं स्वर्गयुगलं भवति, ततोऽप्यर्द्धरज्जुपर्यन्तमानतप्राणतनामस्वर्गयुगलं, ततः परमर्द्धरज्जुपर्यन्तमाकाशं यावदारणाच्युताभिधानं स्वर्गद्वयं ज्ञातव्यमिति। तत्र प्रथमयुगलद्वये स्वकीयस्वकीयस्वर्गनामानश्चत्वार इन्द्रा विज्ञेयाः, मध्ययुगलचतुष्टये पुनः स्वकीयस्वकीयप्रथमस्वर्गाभिधान एकैक एवेन्द्रो भवति, उपरितनयुगलद्वयेऽपि स्वकीयस्वकीयस्वर्गनामानश्चत्वार इन्द्रा भवन्तीति समुदायेन षोडशस्वर्गेषु द्वादशेन्द्रा ज्ञातव्याः। षोडशस्वर्गादूर्ध्वमेकरज्जुमध्ये नवग्रैवेयकनवानुदिशपञ्चानुत्तरविमानवासिदेवास्तिष्ठन्ति। ततः परं तत्रैव द्वादशयोजनेषु गतेष्वष्टयोजनबाहुल्या मनुष्यलोकवत्पञ्चाधिकचत्वारिंशल्लक्षयोजनविस्तारा मोक्षशिला भवति। तस्योपरि घनोदधिघनवाततनुवातत्रयमस्ति। तत्र तनुवातमध्ये लोकान्ते केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहिताः सिद्धास्तिष्ठन्ति॥

अब इसके अनंतर ऊर्ध्वलोकका कथन करते हैं। वह इस प्रकार है—सौधर्म, ईशान,

सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ट, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन नामोंके धारक सोलह स्वर्ग हैं। वहांसे आगे नव ग्रैवेयक नाम वाले विमान हैं, और इनके भी अनंतर नव ९ विमानोंकी संख्याका धारक नवानुदिश नामक एक पटल है, तथा इसके भी अनंतर पांच विमानोंकी संख्यावाला पञ्चानुत्तर संज्ञक एक पटल है, इस प्रकार पूर्वोक्त क्रमसे वैमानिक देव निवास करते हैं। यह वार्तिक अर्थात् संग्रह वाक्य अथवा समुदायसे कथन है। आदिमें वारह, मध्यमें आठ और अंतमें चार योजन प्रमाण गोल विष्कंभ (व्यास) की धारक, चालीस योजन प्रमाण ऊँची जो मेरुकी चूलिका है; उसके ऊपर देवकुरु अथवा उत्तरकुरु नामक उत्तम भोगभूमिमें उत्पन्न जो मनुष्य हैं उनके वालके अग्रभाग जितने अन्तर (फासले) पर ऋजु विमान है। उस ऋजुविमानको आदिमें करके चूलिका सहित एक लाख योजन प्रमाण मेरुकी ऊँचाईका प्रमाण है, और वहांसे डेढ़ रज्जु प्रमाण जो आकाशक्षेत्र है वहांतक सौधर्म तथा ईशान नामक दो स्वर्ग हैं। इनके अनंतर डेढ़ रज्जुपर्यन्त सनत्कुमार और माहेन्द्र नामक दो स्वर्ग हैं। वहांसे अर्ध रज्जु प्रमाण आकाशतक ब्रह्म तथा ब्रह्मोत्तर संज्ञक स्वर्गोंका युगल है। वहांसे भी आधे रज्जुतक लांतव और कापिष्ट नामक दो स्वर्ग हैं। वहांसे भी आधे रज्जु प्रमाण आकाशमें शुक्र तथा महाशुक्र नामक स्वर्गोंका युगल जानना चाहिये। उसके अनन्तर आधे रज्जुतक शतार और सहस्रार नामक स्वर्गोंका युगल है। तत्पश्चात् आधे रज्जुपर्यन्त आकाशतक आरण और अच्युत नामक दो स्वर्ग जानने चाहिये। उनमें पहलेके जो दो युगल हैं उनमें तो अपने २ स्वर्गके नामके धारक चार इन्द्र हैं अर्थात् पहले चार स्वर्गोंमें स्वर्गोंके नामवाले ही (सौधर्म, ईशान) आदि चार इन्द्र हैं। और वीचके जो चार युगल हैं उनमें अपने २ प्रथम स्वर्गके नामका धारक एक एक ही इंद्र है अर्थात् ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्गका एक इन्द्र है और ब्रह्म स्वर्गका इंद्र कहलाता है। ऐसे वारहवें स्वर्गतक आठ स्वर्गोंमें चार इन्द्र जानने। और इनके ऊपर जो दो युगल हैं उनमें भी अपने २ स्वर्गके नामके धारक (आनत, प्राणत आदि) चार इंद्र होते हैं। इस प्रकार समुदायसे सोलह स्वर्गोंमें वारह इन्द्र जानने चाहिये। सोलह स्वर्गोंसे ऊपर एक रज्जुमें नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पांच अनुत्तर विमानोंमें निवास करनेवाले देव हैं। उसके आगे इस एक रज्जुमें ही वारह योजन चलेजानेपर आठ योजन प्रमाण मोटाईकी धारक और मनुष्यलोक (ढाईद्वीप)के समान पैंतालीस लाख ४५००००० योजन प्रमाण विस्तारकी धारक मोक्षशिला है। उस मोक्षशिलाके ऊपर घनोदधि, घनवात तथा तनुवात नामक तीन वात (वायु) हैं। इनमें जो तनुवात है, वहांपर लोकके अन्तभागमें केवलज्ञान आदि अनंत गुणोंसहित श्रीसिद्ध परमेष्ठी निवास करते हैं॥

इदानीं स्वर्गपटलसंख्या कथ्यते—सौधर्मैशानयोरेकत्रिंशत्, सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त,

ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोश्चत्वारि, लान्तवकापिष्टयोर्द्वयम्, शुक्रमहाशुक्रयोः पटलमेकम्, शतारसहस्रारयोरेकम्, आनतप्राणतयोस्त्रयम्, आरणाच्युतयोस्त्रयमिति।नवसु ग्रैवेयकेषु नवकं, नवानुदिशेषु पुनरेकं, पञ्चानुत्तरेषु चैकमिति समुदायेनोपर्युपरि त्रिषष्टिपटलानि ज्ञातव्यानि। तथा चोक्तं "इगतीससत्तचत्तारिदोण्णिएक्केक्कछक्कचदुकप्पे। तित्तियएक्केक्किंदियणामा उडु आदि तेवट्ठी॥

अब स्वर्गके पटलोंकी संख्याका वर्णन करते हैं। सौधर्म और ईशान इन दो स्वर्गोंमें इकतीस ३१ पटल हैं, सनत्कुमार तथा माहेन्द्रमें सात ७ पटल हैं, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तरमें चार पटल हैं, लान्तव तथा कापिष्टमें दो पटल हैं, शुक्र और महाशुक्रमें एक पटल है, शतार और सहस्रारमें एक पटल है, आनत तथा प्राणतमें तीन पटल हैं और आरण तथा अच्युत इन दो स्वर्गोंमें भी तीन पटल हैं। नव ग्रैवेयकोंमें नव ९ पटल हैं, नव अनुदिशोंमें एक पटल है, और पंचानुत्तरोंमें एक पटल है। ऐसे समुदायसे ऊपर ऊपर तिरसठ ६३ पटल जानने चाहिये। सोही कहा है—"सौधर्म युग्ममें ३१, सनत्कुमार युगलमें ७, ब्रह्मयुगलमें ४, लांतव युग्ममें २, शुक्र युग्ममें १, शतार युग्ममें १, आनत आदि चार स्वर्गोंमें ६, प्रत्येक तीनों ग्रैवेयकोंमें तीन ३, नव अनुदिशोंमें एक, पंचानुत्तरोंमें एक, ऐसे समुदायसे ६३ इंद्रक होते हैं,—

अतःपरं प्रथमपटलव्याख्यानं क्रियते। ऋजु विमानं यदुक्तं पूर्वं मेरुचूलिकाया उपरि तस्य मनुष्यक्षेत्रप्रमाणविस्तारस्येन्द्रकसंज्ञा। तस्य चतुर्दिग्भागेष्वसंख्येययोजनविस्ताराणि पङ्क्तिरूपेण सर्वद्वीपसमुद्रेषूपरि प्रतिदिशं यानि त्रिषष्टिविमानानि तिष्ठन्ति तेषां श्रेणीबद्धसंज्ञा। यानि च पङ्क्तिरहितपुष्पप्रकरवद्विदिक्चतुष्टये तिष्ठन्ति तेषां संख्येयासंख्येययोजनविस्ताराणां प्रकीर्णकसंज्ञेति समुदायेन प्रथमपटललक्षणं ज्ञातव्यम्। तत्र पूर्वापरदक्षिणश्रेणित्रयविमानानि। तन्मध्ये विदिग्द्वयविमानानि च सौधर्मसंबन्धीनि भवन्ति, शेषविदिग्द्वयविमानानि च पुनरीशानसंबन्धीनि। अस्मात्पटलादुपरि जिनदृष्टमानेन संख्येयान्यसंख्येयानि योजनानि गत्वा तेनैव क्रमेण द्वितीयादिपटलानि भवन्ति। अयं च विशेषः—श्रेणीचतुष्टये पटले पटले प्रतिदिशमेकैकविमानं हीयते यावत्पञ्चानुत्तरपटले चतुर्दिक्ष्वेकैकविमानं तिष्ठति। एते सौधर्मादिविमानाश्चतुरशीतिलक्षसप्तनवतिसहस्रत्रयोविंशतिप्रमिता अकृत्रिमसुवर्णमयजिनगृहमण्डिता ज्ञातव्या इति।

इसके आगे प्रथम पटलका व्याख्यान किया जाता है। जो पहले मेरुकी चूलिकाके ऊपर ऋजु विमान कहा गया है उस मनुष्यक्षेत्र (ढाईद्वीप) प्रमाण विस्तारके धारक ऋजु विमानकी इंद्रक यह संज्ञा है। उसकी चारों दिशाओंके भागमें जो प्रत्येक दिशामें सब द्वीप समुद्रोंके ऊपर असंख्यात योजन विस्तारके धारक पंक्तिरूपसे तिरसठ ६३ विमान हैं उनकी श्रेणीबद्ध संज्ञा है। और जो विमान पंक्तिसे विना पुष्पोंके प्रकरके समान चार विदिशाओंमें हैं उन संख्यात, असंख्यात योजन प्रमाण विस्तारवाले विमानोंकी प्रकीर्णक संज्ञा है। ऐसे समुदायसे प्रथम पटलका लक्षण जानना चाहिये। उन विमानोंमें

जो पूर्व, पश्चिम और दक्षिण इन तीन श्रेणियोंके विमान हैं वे, और इन तीनों दिशाओंके बीचमें जो दो विदिशाओंमें स्थित विमान हैं ये सब प्रथम सौधर्म स्वर्ग संबंधी हैं। तथा शेष दो विदिशाओंके विमान और उत्तर श्रेणीके विमान जो हैं वे ईशान स्वर्ग संबंधी हैं। इस पटलके ऊपर भगवान् करके देखे हुए प्रमाणके अनुसार संख्यात तथा असंख्यात योजन जाकर इसी पूर्वोक्त क्रमसे द्वितीय, तृतीय, आदि पटल होते हैं। और विशेष यह है कि पटल पटलमें प्रत्येक दिशाकी प्रत्येक श्रेणीमें एक २ विमान घटता है सो यहांतक घटता है कि पंचानुत्तर पटलमें चारों दिशाओंमें एक एक ही विमान रह जाता है। और ये सब सौधर्म स्वर्ग आदि संबंधी विमान चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस ८४९७०२३ संख्या प्रमाण हैं। और अकृत्रिम सुवर्णमय जिनचैत्यालयोंसे मंडित हैं ऐसे जानने चाहिये॥

अथ देवानामायुःप्रमाणं कथ्यते। भवनवासिषु जघन्येन दशवर्षसहस्राणि, उत्कर्षेण पुनरसुरकुमारेषु सागरोपमम्, नागकुमारेषु पल्यत्रयं, सुपर्णे सार्धद्वयं; द्वीपकुमारे द्वयं, शेषकुलषट्के सार्धपल्यमिति। व्यन्तरे जघन्येन दशवर्षसहस्राणि, उत्कर्षेण पल्यमधिकमिति। ज्योतिष्कदेवे जघन्येन पल्याष्टमविभागः, उत्कर्षेण चन्द्रे लक्षवर्षाधिकं पल्यं, सूर्ये सहस्राधिकं पल्यं, शेषज्योतिष्कदेवानामागमानुसारेणेति। अथ सौधर्मेशानयोर्जघन्येन साधिकपल्यं, उत्कर्षेण साधिकसागरोपमद्वयं, सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः साधिकसागरोपमसप्तकं, ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोः साधिकसागरोपमदशकं, लान्तवकापिष्ठयोः साधिकानि चतुर्दशसागरोपमानि, शुक्रमहाशुक्रयोः षोडश साधिकानि, शतारसहस्रारयोरष्टादश साधिकानि, आनतप्राणतयोर्विंशतिरेव, आरणाच्युतयोर्द्वाविंशतिरिति। अतः परमच्युतादूर्ध्वं कल्पातीतनवग्रैवेयकेषु द्वाविंशतिसागरोपमप्रमाणादूर्ध्वमेकैकसागरोपमे वर्धमाने सत्येकत्रिंशत्सागरोपमान्यवसानन्वग्रैवेयके भवन्ति। नवानुदिशपटले द्वात्रिंशत्, पञ्चानुत्तरपटले त्रयस्त्रिंशत्, उत्कृष्टायुःप्रमाणं ज्ञातव्यम्। तदायुः सौधर्मादिषु स्वर्गेषु यदुत्कृष्टं तत्परस्मिन् परस्मिन् स्वर्गे सर्वार्थसिद्धिं विहाय जघन्यं चेति। शेषं विशेषव्याख्यानं त्रिलोकसारादौ बोद्धव्यम्॥

अब देवोंके आयुका प्रमाण कहते हैं। भवनवासियोंमें न्यूनसे न्यून दश हजार वर्षका जघन्य आयु होता है और उत्कर्षसे असुरकुमारोंमें एक सागर, नागकुमारोंमें तीन पल्य, सुपर्णकुमारोंमें ढाई पल्य, द्वीपकुमारोंमें दो पल्य और बाकी जो ६ प्रकारके भवनवासी हैं उनमें डेढ़ पल्य प्रमाण आयु है। व्यन्तरोंमें दश हजार वर्षका जघन्य और कुछ अधिक एक पल्यका उत्कृष्ट आयु है। ज्योतिष्क देवोंमें जघन्य आयु पल्यके आठवें भाग प्रमाण है, उत्कृष्टतासे चंद्रमामें एक पल्य एक लाख वर्ष और सूर्यमें एक पल्य एक हजार वर्षका आयु है। शेष ज्योतिष्क देवोंका उत्कृष्ट आयु आगमके अनुसार जानना चाहिये। अब कल्पवासियोंमें जो सौधर्म तथा ईशान स्वर्गके देव हैं उनके जघन्यतासे कुछ अधिक एक पल्य और उत्कृष्टतासे कुछ अधिक दो सागर प्रमाण आयु है। सनत्कुमार तथा माहेन्द्र देवोंमें कुछ अधिक सात सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। ब्रह्म और ब्रह्मोत्तरमें कुछ

अधिक दश सागर, लांतव कापिष्टमें कुछ अधिक चौदह सागर, शुक्र महाशुक्रमें कुछ अधिक सोलह सागर, शतार और सहस्रारमें किंचित् अधिक अठारह सागर, आनत तथा प्राणतमें पूरे वीसही सागर, और आरण अच्युतमें वाईस २२ सागर प्रमाण आयु है। अव इसके अनंतर अच्युत स्वर्गके ऊपर कल्पातीत जो नव ग्रैवेयक हैं उनमें प्रत्येक ग्रैवेयकमें वाईस सागर प्रमाण आयुमें क्रमानुसार एक एक सागर वढ़ाये जानेपर अंतके नवें ग्रैवेयकमें इकतीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु होता है। नौ ९ अनुदिशोंके पटलमें वत्तीस सागर और पंचानुत्तर पटलमें तेतीस सागर जितना उत्कृष्ट आयुका प्रमाण जानना चाहिये। और जो आयु सौधर्म आदि स्वर्गोंमें उत्कृष्ट है वह सर्वार्थसिद्धिके विना अन्य सव स्वर्गोंमें आगे आगे जघन्य है अर्थात् जो सौधर्म ईशान स्वर्गमें उत्कृष्ट कुछ अधिक दो सागर प्रमाण आयु है वह सनत्कुमार माहेन्द्रमें जघन्य है। इस क्रमसे सर्वार्थसिद्धिके पहले २ जघन्य आयु जानना। इसके अतिरिक्त जो अधिक व्याख्यान है सो त्रिलोकसार आदिमेंसे समझना चाहिये॥

किञ्च आदिमध्यान्तमुक्ते शुद्धबुद्धैकस्वभावे परमात्मनि सकलविमलकेवलज्ञानलोचनेनादर्शे विम्वानीव शुद्धात्मादिपदार्था लोक्यन्ते दृश्यन्ते ज्ञायन्ते परिच्छिद्यन्ते यतस्तेन कारणेन स एव निश्चयलोकस्तस्मिन्निश्चयलोकाख्ये स्वकीयशुद्धपरमात्मनि अवलोकनं वा स निश्चयलोकः। "सन्नाओ य तिलेस्सा इंदियवसदाय अट्टरुद्दाणि। नाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदो होदि। १।" इति गाथोदितविभावपरिणाममादिं कृत्वा समस्तशुभाशुभसंकल्पविकल्पत्यागेन निजशुद्धात्मभावनोत्पन्नपरमाह्लादैकसुखामृतरसास्वादानुभवनेन च या भावना सैव निश्चयलोकानुप्रेक्षा। शेषा पुनर्व्यवहारेणेत्येवं संक्षेपेण लोकानुप्रेक्षाव्याख्यानं समाप्तम्॥

और आदि मध्य तथा अन्तसे रहित, शुद्ध वुद्ध एक स्वभावका धारक जो परमात्मा है उसमें सकल (पूर्ण)रूपसे विमल (स्वच्छ) जो केवल ज्ञान नामक नेत्र है उसके द्वारा जैसे दर्पणमें प्रतिविम्वोंका भान होता है उसी प्रकार शुद्ध आत्मा आदि पदार्थ आलोके जाते हैं अर्थात् देखे जाते हैं, जाने जाते हैं, परिच्छिन्न किये जाते हैं इस कारण वह निज शुद्ध आत्मा ही निश्चय लोक है अथवा उस निश्चय लोक नामके धारक निज शुद्ध परमात्मामें जो अवलोकन (देखना) है वह निश्चय लोक है। "संज्ञा, तीन लेश्या, इंद्रियोंके वशीभूतपना, आर्त्त, रौद्र, ध्यान तथा दुष्प्रयुक्त ज्ञान और मोह ये सव पापको देनेवाले होते हैं।" इस गाथामें कहे हुए विभाव परिणामको आदि लेके, संपूर्ण जो शुभ तथा अशुभ रूप संकल्प विकल्प हैं उनके त्यागसे और निजशुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न जो परम आह्लादरूप एक सुखरूपी अमृतके आस्वादका अनुभव है उससे जो भावना होती है वही निश्चयसे लोकानुप्रेक्षा है। और इसके अतिरिक्त शेष जो पूर्वोक्त भावना है वह व्यवहारसे है। इस प्रकार संक्षेपसे लोकानुप्रेक्षाका वर्णन समाप्त हुआ॥

अथ दुर्लभानुप्रेक्षां कथयति। तथाहि एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्य-

देशकुलरूपेन्द्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्कवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसंयमविषयसुखव्यावर्त्तनक्रोधादिकषायनिवर्त्तनेषु परं परं दुर्लभेषु कथंचित्काकतालीयकन्यायेन लब्धेष्वपि तल्लब्धिरूपबोधे फलभूतस्वशुद्धात्मसंवित्त्यात्मकनिर्मलधर्मध्यानशुक्लध्यानरूपः परमसमाधिर्दुर्लभः । कस्मादिति चेत्तत्प्रतिबन्धकमिथ्यात्वविषयकषायनिदानबन्धादिविभावपरिणामानां प्रबलत्वादिति । तस्मात्स एव निरन्तरं भावनीयः । तद्भावनारहितानां पुनरपि संसारे पतनमिति । तथा चोक्तम्—"इत्यतिदुर्लभरूपां बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात् । संसृतिभीमारण्ये भ्रमति वराको नरः सुचिरम् । १ ।" पुनश्चोक्तं मनुष्यभवदुर्लभत्वम्—"अशुभपरिणामबहुलता लोकस्य विपुलता महामहती । योनिविपुलता च कुरुते सुदुर्लभां मानुषीं योनिम् । १ ।" बोधिसमाधिलक्षणं कथ्यते—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामप्राप्तप्रापणं बोधिस्तेषामेव निर्विघ्नेन भवान्तरप्रापणं समाधिरिति । एवं संक्षेपेण दुर्लभानुप्रेक्षा समाप्ता ।

अब दुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं । सो इस प्रकार है—एकेन्द्रिय, विकलेंद्रिय, पंचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्त, मनुष्य, देश, कुल, रूप, इंद्रियोंमें पटुता, नीरोग, आयु, उत्तम बुद्धि, उत्तम धर्मका सुनना, ग्रहण करना, धारण करना, श्रद्धान करना, संयम, विषयसुखोंसे रहित होना, क्रोध आदि कषायोंका दूर होना; ये जो पूर्वोक्त सब हैं; इनमें पूर्व २ की अपेक्षा पर पर अर्थात् एकेन्द्रियताकी अपेक्षा विकलेन्द्रियता आदि दुर्लभ हैं । यदि कथंचित् काकतालीय न्यायसे इन सबकी प्राप्ति होजाय तो भी इन सबकी प्राप्तिरूप जो ज्ञान है उसमें फलभूत जो निजशुद्ध आत्माके ज्ञानस्वरूप निर्मल धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानरूप परमसमाधि है वह दुर्लभ है । परमसमाधि दुर्लभ क्यों है ऐसी शंका करो तो समाधान यह है कि—परम समाधिको रोकनेवाले मिथ्यात्व, विषय, कषाय, निदानबंध आदि जो विभाव परिणाम हैं उनकी जीवके प्रबलता है इसलिये परम समाधिका होना दुर्लभ है। इस कारण उस परम समाधिकी दुर्लभताकी ही निरंतर भावना करनी चाहिये। क्योंकि, जो जीव उसकी भावना नहीं करते उनका फिर भी संसारमें पतन होता है। सो ही कहा है—"कि जो मनुष्य अत्यन्त दुर्लभरूप बोधिको प्राप्त होकर, प्रमादी होता है वह वराक (दीनजीव) संसाररूपी भयंकर वनमें चिरकाल तक भ्रमण करता है। १ ।" और पुनः मनुष्यभवकी दुर्लभताके विषयमें कहा है—"अशुभ परिणामोंकी अधिकता, संसारकी विशालता, और बड़ी २ योनियोंकी अधिकता ये सब मनुष्ययोनिको दुर्लभ करती हैं; अर्थात् जीवोंके अशुभ परिणाम बहुत हैं, तीनो लोकोंमें उनके लिये स्थान बहुत हैं और उत्पन्न होनेको योनियें भी अधिक हैं अतः मनुष्य भवका प्राप्त होना दुर्लभ है। अब बोधि और समाधिका लक्षण कहते हैं । पहले नहीं मिले हुए जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र हैं इनका जो मिलना है वह तो बोधि कहलाती है और उन्हीं सम्यग्दर्शनादिकोंको निर्विघ्नता पूर्वक जो अन्य भवमें साथ ले जाना सो समाधि है । ऐसे संक्षेपसे दुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त किया ॥

अथ धर्मानुप्रेक्षां कथयति । तद्यथा-संसारे पतन्तं जीवमुद्धृत्य नागेन्द्रनरेन्द्रदेवेन्द्रादिवन्द्ये अव्याबाधानन्तसुखाद्यनन्तगुणलक्षणे मोक्षपदे धरतीति धर्मः । तस्य च भेदाः कथ्यन्ते—अहिंसालक्षणः सागारानगारलक्षणो वा उत्तमक्षमादिलक्षणो वा निश्चयव्यवहाररत्नत्रयात्मको वा शुद्धात्मसंवित्त्यात्मकमोहक्षोभरहितात्मपरिणामो वा धर्मः । अस्य धर्मस्यालाभेऽतीतानन्तकाले "णिच्चेदरधाउसत्तय तरुदस वियलेंदियासु छच्चेव । सुरणिरयतिरियचउरो चउदस मणुयेसु सदसहस्सा । १ ।" इति गाथाकथितचतुरशीतियोनिलक्षेपु मध्ये परमस्वास्थ्यभावनोत्पन्ननिर्व्याकुलपारमार्थिकसुखविलक्षणानि पञ्चेन्द्रियसुखाभिलापजनितव्याकुलत्वोत्पादकानि दुःखानि सहमानः सन् भ्रमितोऽयं जीवो यदा पुनरेवंगुणविशिष्टस्य धर्मस्य लाभो भवति तदा राजाधिराजमहाराजार्द्धमाण्डलिकमहामाण्डलिकबलदेववासुदेवकामदेवसकलचक्रवर्त्तिदेवेन्द्रगणधरदेवतीर्थंकरपरमदेवप्रथमकल्याणत्रयपर्यन्तं विविधाभ्युदयसुखं प्राप्य पश्चादभेदरत्नत्रयभावनाबलेनाक्षयानन्तसुखादिगुणास्पदमर्हत्पदं सिद्धपदं च लभते । तेन कारणेन धर्म एव परमरसरसायनं निधिनिधानं कल्पवृक्षः कामधेनुश्चिन्तामणिरिति । किं बहुना ये जिनेश्वरप्रणीतं धर्म प्राप्य दृढमतयो जातास्त एव धन्याः । तथाचोक्तम्—"धन्या ये प्रतिबुद्धा धर्मे खलु जिनवरैः समुपदिष्टे । ये प्रतिपन्ना धर्मं स्वभावनोपस्थितमनीपाः । १ ।" इति संक्षेपेण धर्मानुप्रेक्षा समाप्ता ॥

अब धर्मानुप्रेक्षाका कथन करते हैं । वह इस प्रकार है—संसारमें गिरते हुए जीवको उठाकर जो धरणेन्द्र, चक्रवर्त्ती, देव, इन्द्र आदिकोंके पूज्य पदमें अथवा बाधारहित अनंत सुख आदि अनंत गुणोंरूप लक्षणका धारक जो मोक्षपद है उसमें धरता है वह धर्म है । अब उस धर्मके भेद कहे जाते हैं—अहिंसारूप लक्षणका धारक धर्म है, गृहस्थ और मुनि इन दो भेदोंवाला धर्म है, अथवा उत्तम क्षमा आदि लक्षणवाला दश प्रकारका धर्म है, अथवा निश्चय और व्यवहाररूप रत्नत्रय स्वरूप धर्म है; अथवा शुद्ध आत्माके ज्ञान स्वरूप जो मोह तथा क्षोभरहित आत्माका परिणाम है उसरूप धर्म है । इस धर्मकी प्राप्ति न होनेसे अतीत (गये हुए) अनंत कालमें "नित्यनिगोद वनस्पतिमें सात लाख, इतर निगोद वनस्पतिमें सात लाख, पृथ्वीकायमें ७लाख, जलकायमें ७लाख, तेजकायमें ७ लाख, वायुकायमें ७ लाख, प्रत्येक वनस्पतिमें दस लाख, बे इंद्री, ते इंद्री और चौ इंद्री इनमें दो दो लाख, देव, नारकी और तिर्यंच इन तीनोंमें चार चार लाख तथा मनुष्योंमें चौदह लाख योनि हैं । १ । इस गाथामें कही हुई चौरासी लाख योनियोंमें परम स्वास्थ्यकी भावनासे उत्पन्न, व्याकुलतारहित ऐसे पारमार्थिक सुखसे विलक्षण (भिन्न) और पांचों इंद्रियोंके सुखोंकी अभिलाषा (वांछा)से उत्पन्न, व्याकुलताको पैदा करनेवाले ऐसे जो दुःख हैं उनको सहते हुए इस जीवने परिभ्रमण किया । जब इस जीवको पूर्वोक्त प्रकारके धर्मकी प्राप्ति होती है तब राजाधिराज, महाराज, अर्धमंडलेश्वर, महामंडलेश्वर, बलदेव, नारायण, कामदेव, चक्रवर्त्ती, देव, इंद्र, गणधर देव, तीर्थंकर परम देवके पदों तथा तीर्थंकरोंके गर्भ,

जन्म तथा तप कल्याणकों पर्यन्तके जो अनेक प्रकारके अभ्युदय सुख हैं उन सुखोंको प्राप्त होके, तदनन्तर अभेद रत्नत्रयकी भावनाके वलसे अक्षय और अनंत गुणोंका स्थान जो अरहंत पद है उसको और सिद्ध पदको प्राप्त होता है। इस कारण धर्म ही परम रसका रसायन है, धर्म ही निधियोंका निधान (भंडार) है, धर्म ही कल्पवृक्ष है, धर्म ही कामधेनु गाय है और धर्म ही चिंतामणि रत्न है। विशेष क्या कहें जो जिनेश्वरके कहे हुए धर्मको प्राप्त होकर, दृढ बुद्धिके धारक (सम्यग्दृष्टी) हुए हैं वे ही धन्य हैं। सोही कहा है—"जिन्होंने जिनवरसे उपदिष्ट धर्मको जाना है और आत्मज्ञानमें तत्पर बुद्धिके धारक जिन्होंने उस धर्मको ग्रहण किया है वे सब धन्य हैं। १।" इस प्रकार संक्षेपसे धर्मानुप्रेक्षा समाप्त हुई।

इत्युक्तलक्षणा अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मतत्त्वानुचिन्तनसंज्ञा निरास्रवस्वशुद्धात्मतत्त्वपरिणतिरूपस्य संवरस्य कारणभूता द्वादशानुप्रेक्षाः समाप्ताः॥

इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणकी धारक अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ, और धर्मतत्त्व इनका अनुचिंतन (विचार)रूप है नाम जिनका ऐसी और आस्रवरहित—शुद्ध आत्मतत्त्वकी परिणतिरूप जो संवर है उसकी कारणरूप ऐसी बारह अनुप्रेक्षा (भावना) समाप्त हुईं॥

अथ परीषहजयः कथ्यते—क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानदर्शनानीति द्वाविंशतिपरीषहा विज्ञेयाः। तेषां क्षुधादिवेदनानां तीव्रोदयेऽपि सुखदुःखजीवितमरणलाभालाभनिन्दाप्रशंसादिसमतारूपपरमसामायिकेन नवतरशुभाशुभकर्मसंवरणचिरन्तनशुभाशुभकर्मनिर्जरणसमर्थेनायं निजपरमात्मभावनासंजातनिर्विकारनित्यानन्दलक्षणसुखामृतसंवित्तेरचलनं स परीषहजय इति॥

अब परीषहोंका जय (जीतना) जो है उसका कथन करते हैं—क्षुधा १ प्यास २ शीत ३ उष्ण (गर्मी) ४ दंश मशक ५ नग्नता ६ अरति ७ स्त्री ८ चर्या (गमन) ९ निषद्या (बस्ती) १० शय्या ११ आक्रोश (कटु वचन) १२ वध (मारण) १३ याचना १४ अलाभ १५ रोग १६ तृणस्पर्श १७ मल १८ सत्कारपुरस्कार १९ प्रज्ञा २० अज्ञान २१ और दर्शन २२ ये बाईस परीषह जानने चाहिये। इन क्षुधा तृषा आदि वेदनाओंके तीव्र उदय होनेपर भी सुख, दुःख, जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, निंदा, प्रशंसा आदिमें समानतारूप जो नवीन शुभ तथा अशुभ कर्मोंको रोकनेमें और पुराने शुभ अशुभ कर्मोंके निर्जरण करने में समर्थ ऐसा परम सामायिक है उस करके निज परमात्माकी भावनासे उत्पन्न विकाररहित नित्यानंदरूप लक्षणका धारक जो सुखामृत है उसके ज्ञानसे जो नहीं चलना सो परीषहजय है॥

अथ चारित्रं कथयति । शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयपरिणते स्वशुद्धात्मस्वरूपे चरणमवस्थानं चारित्रम् । तच्च तारतम्यभेदेन पञ्चविधम् । तथाहि—सर्वे जीवाः केवलज्ञानमया इति भावनारूपेण समतालक्षणं सामायिकम्, अथवा परमस्वास्थ्यबलेन युगपत्समस्तशुभाशुभसङ्कल्पविकल्पत्यागरूपसमाधिलक्षणं वा, निर्विकारस्वसंवित्तिबलेन रागद्वेषपरिहाररूपं वा, स्वशुद्धात्मानुभूतिबलेनार्त्तरौद्रपरित्यागरूपं वा, समस्तसुखदुःखादिमध्यस्थरूपं चेति । अथ छेदोपस्थापनं कथयति—यदा युगपत्समस्तविकल्पत्यागरूपे परमसामायिके स्थातुमशक्तोऽयं जीवस्तदा समस्तहिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतमित्यनेन पञ्चप्रकारविकल्पभेदेन व्रतच्छेदेन रागादिविकल्परूपसावद्येभ्यो निवर्त्य निजशुद्धात्मन्यात्मानमुपस्थापयतीति छेदोपस्थापनम् । अथवा छेदे व्रतखण्डे सति निर्विकारसंवित्तिरूपनिश्चयप्रायश्चित्तेन तत्साधकबहिरङ्गव्यवहारप्रायश्चित्तेन वा स्वात्मन्युपस्थापनं छेदोपस्थापनमिति । अथ परिहारविशुद्धिं कथयति—"तीसं वासा जम्मे वासपहुत्तं च तित्थयरमूले । पच्चक्खाणं पढिदो संज्झण दुग्गाउ अविहारो । १ ।" इति गाथाकथितक्रमेण मिथ्यात्वरागादिविकल्पमलानां प्रत्याख्यानेन परिहारेण विशेषेण स्वात्मनः शुद्धिर्नैर्मल्यं परिहारविशुद्धिश्चारित्रमिति । अथ सूक्ष्मसाम्परायचारित्रं कथयति । सूक्ष्मातीन्द्रियनिजशुद्धात्मसंवित्तिबलेन सूक्ष्मलोभाभिधानसाम्परायस्य कषायस्य यत्र निरवशेषोपशमनं क्षपणं वा तत्सूक्ष्मसाम्परायचारित्रमिति । अथ यथाख्यातचारित्रं कथयति—यथा सहजशुद्धस्वभावत्वेन निष्कम्पत्वेन निष्कषायमात्मस्वरूपं तथैवाख्यातं कथितं यथाख्यातचारित्रमिति ॥

अब चारित्रका निरूपण करते हैं । शुद्ध उपयोग स्वरूप जो निश्चय रत्नत्रय उसमें परिणत जो आत्मरूप उसमें जो चरण कहिये स्थित होना सो चारित्र है । वह तारतम्य भेदसे पांच प्रकारका है । सोही दिखाते हैं—सब जीव केवल ज्ञानमय हैं ऐसी भावनारूपसे जो समता लक्षण परिणामका करना सो सामायिक है । अथवा परम स्वास्थ्यके बलसे एक ही समयमें संपूर्ण शुभ और अशुभ संकल्प विकल्पोंका त्यागरूप जो समाधि (ध्यान) है वह है लक्षण जिसका सो सामायिक है । अथवा विकाररहित आत्मज्ञानके बलसे जो राग और द्वेषका परिहार (त्याग) है उसरूप सामायिक है । अथवा शुद्ध आत्माके अनुभवके बलसे आर्त्त तथा रौद्र ध्यानका त्याग करने स्वरूप सामायिक है । अथवा समस्त सुख तथा दुःखोंमें जो मध्यस्थ रहना तद्रूप सामायिक है ॥ अब छेदोपस्थापन नामक चारित्रके द्वितीय भेदका वर्णन करते हैं—जब एकही समयमें संपूर्ण विकल्पोंके त्यागरूप परम सामायिकमें स्थित होनेको यह जीव असमर्थ होता है तब "समस्तहिंसा, अनृत (असत्य), स्तेय (चोरी), अब्रह्म तथा परिग्रह इन पांचोंसे जो विरति (रहितता) सो व्रत है" इस कथनके अनुसार विकल्प भेदसे पांच प्रकारके व्रतोंका छेदन होनेपर जो राग आदि विकल्परूप सावद्योंसे जीवको छुड़ाकर निजशुद्ध आत्मामें उपस्थापन करै सो छेदोपस्थापन है । अथवा छेद अर्थात् व्रतका खंड (भंग वा नाश) होनेपर निर्विकार निज आत्माके ज्ञानरूप

निश्चय प्रायश्चित्तके वलसे अथवा व्यवहार प्रायश्चित्तसे जो निज आत्मामें स्थितिका होना सो छेदोपस्थापन है। अव परिहारविशुद्धिका कथन करते हैं—

इस गाथामें कहे हुए क्रमानुसार मिथ्यात्व, राग इत्यादिक जो विकल्प मल हैं उनका प्रत्याख्यान (परिहार अथवा त्याग) करके अधिकताके साथ जो आत्माकी शुद्धि अर्थात् निर्मलता है सो परिहारविशुद्धिनामक तृतीय चारित्र है। अव सूक्ष्म सांपराय चारित्रका कथन करते हैं—सूक्ष्म, इंद्रियोंके अगोचर ऐसा जो निजशुद्ध आत्मा उसके ज्ञानके वलसे सूक्ष्म लोभ नामक सांपरायकषायका जहांपर पूर्ण रूपसे उपशमन अथवा क्षपण (नाश) होता है वह सूक्ष्म सांपराय चारित्र है। अव यथाख्यात चारित्रका वर्णन करते हैं—जैसा निष्कंप सहजशुद्ध स्वभावसे कषायरहित आत्माका स्वरूप है वैसा ही आख्यात अर्थात् कहा गया हो सो यथाख्यात चारित्र है॥

इदानीं सामायिकादिचारित्रपञ्चकस्य गुणस्थानस्वामित्वं कथयति । प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वानिवृत्तिसंज्ञगुणस्थानचतुष्टये सामायिकचारित्रं भवति छेदोपस्थापनञ्च, परिहारविशुद्धिस्तु प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानद्वये, सूक्ष्मसांपरायचारित्रं पुनरेकस्मिन्नेव सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थाने, यथाख्यातचारित्रमुपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगिजिनायोगिजिनाभिधानगुणस्थानचतुष्टये भवतीति। अथ संयमप्रतिपक्षं कथयति संयमासंयमसंज्ञं दार्शनिकाद्यैकादशभेदभिन्नं देशचारित्रमेकस्मिन्नेव पञ्चमगुणस्थाने ज्ञातव्यम् । असंयमस्तु मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिसंज्ञगुणस्थानचतुष्टये भवति। इति चारित्रव्याख्यानं समाप्तम्॥

अव सामायिक आदि जो पांच चारित्र हैं उनके गुणस्थानोंके स्वामित्वका अर्थात् किस२ गुणस्थानमें कौन २ सा चारित्र होता है इस विषयका कथन करते हैं। प्रमत्त ६ अप्रमत्त ७ अपूर्वकरण ८ और अनिवृत्तिकरण ९ नामक जो चार गुणस्थान हैं इनमें सामायिक और छेदोपस्थापन ये दो चारित्र होते हैं। और परिहार विशुद्धि नामक चारित्र तो प्रमत्त तथा अप्रमत्त इन दो गुणस्थानोंमें ही होता है, और सूक्ष्म सांपराय चारित्र भी एक ही सूक्ष्म सांपराय नामक दशम गुणस्थानमें होता है, तथा यथाख्यात चारित्र जो है वह उपशांत कषाय, ११ क्षीणकषाय, १२ सयोगिजिन १३ और अयोगिजिन इन नामोंके धारक जो चार गुणस्थान हैं उनमें होता है। अव संयमके प्रतिपक्षी जो संयमासंयम और असंयम हैं वे किस २ गुणस्थानमें होते हैं यह वर्णन करते हैं। दार्शनिक आदि एकादश प्रतिमारूप एकादश भेदोंसे भेदको प्राप्त हुआ जो संयमासंयम नामक देश चारित्र है वह एक पंचम गुणस्थानमें ही जानना चाहिये। और असंयम जो है वह तो मिथ्यादृष्टी १ सासादन २ मिश्र ३ और अविरत सम्यग्दृष्टी नामक चार गुणस्थानोंमें होता है। ऐसे चारित्रका व्याख्यान समाप्त हुआ॥

एवं व्रतसमितिगुप्तिधर्मद्वादशानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्राणां भावसंवरकारणभूतानां यद्-

व्याख्यानं कृतं, तत्र निश्चयरत्नत्रयसाधकव्यवहाररत्नत्रयरूपस्य शुभोपयोगस्य प्रतिपादकानि यानि वाक्यानि तानि पापास्रवसंवरकारणानि ज्ञातव्यानि । यानि तु व्यवहाररत्नत्रयसाध्यस्य शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयस्य प्रतिपादकानि तानि पुण्यपापद्वयसंवरकारणानि भवन्तीति ज्ञातव्यम् । अत्राह सोमनामराजश्रेष्ठी । भगवन्नेतेषु व्रतादिसंवरकारणेषु मध्ये संवरानुप्रेक्षैव सारभूता, सा चैव संवरं करिष्यति किं विशेषप्रपञ्चेनेति। भगवानाह—त्रिगुप्तिलक्षणनिर्विकल्पसमाधिस्थानां यतीनां तथैव पूर्यते तत्रासमर्थानां पुनर्बहुप्रकारेण संवरप्रतिभूतो मोहो विजृम्भते तेन कारणेन व्रतादिविस्तरं कथयन्त्याचार्याः ॥ ३५ ॥ "असिदिसदं किरियाणं अक्किरियाणं तु होइ चुलसीदी । सत्तट्ठी अण्णाणी वेणइया हुंति वत्तीसं । १ । जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो हुंति। अपरिणिड्डुच्छिनेसु अवंधट्ठिदिकारणं नत्थि । २ ।" एवं संवरतत्त्वव्याख्याने सूत्रद्वयेन तृतीयं स्थलं गतम् ॥

इस पूर्वोक्त प्रकारसे भावसंवरके कारणभूत व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, द्वादशानुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र इन सबका जो व्याख्यान किया, उस व्याख्यानमें निश्चयरत्नत्रयको साधनेवाला जो व्यवहार रत्नत्रयरूप शुभोपयोग है उसका निरूपण करनेवाले जो वाक्य हैं वे तो पापास्रवके संवरमें कारण जानने चाहिये । और जो व्यवहार रत्नत्रयसे सिद्ध होने योग्य शुद्धोपयोग लक्षण निश्चयरत्नत्रयके प्रतिपादक वाक्य हैं वे पुण्य तथा पाप इन दोनों आस्रवोंके संवरके कारण होते हैं यह समझना चाहिये । यहां सोम नामक राजशेठ कहता है कि हे भगवान्? ये जो पूर्वोक्त व्रत, समिति आदिक संवरके कारण हैं इनमें संवरानुप्रेक्षा जो है सो ही सारभूत है और वही इस जीवके आस्रवका संवर कर देगी फिर आपने जो विशेष प्रपंच (अधिक विस्तारसे कथन) किया है, इससे क्या प्रयोजन है? । इस प्रश्नका उत्तर भगवान् नेमिचंद्र स्वामी देते हैं कि—मन वचन तथा काय इन तीनोंकी गुप्ति स्वरूप जो निर्विकल्प समाधि (ध्यान) हैं उसमें स्थित जो मुनि हैं उनके तो उस गुप्तिसे ही पूर्ति अर्थात् संवर होजाता है और उसमें असमर्थ जो जीव हैं उनके नाना प्रकारसे संवरका प्रतिपक्षीभूत मोह उत्पन्न होता है इस कारण आचार्य व्रत आदिका कथन करते हैं ॥ ३५ ॥ क्रियावादियोंके एकसो अस्सी १८०, अक्रियावादियोंके चोरासी ८४, अज्ञानियोंके सड़सठ ६७ और वैनयिकोंके बत्तीस ३२, ऐसे कुल मिलाकर तीनसो तिरसठ भेद पाखंडियोंके हैं । १ । योगसे प्रकृति और प्रदेश बंध होते हैं, कषायोंसे स्थिति तथा अनुभाग बंध होता है और जो ....

....है उनमें बंध तथा स्थितिका कारण नहीं है । २ । इस प्रकार संवर तत्त्वके व्याख्यानमें दो सूत्रोंद्वारा तृतीय स्थल समाप्त हुआ ॥

अथ सम्यग्दृष्टिजीवस्य संवरपूर्वकं निर्जरातत्त्वं कथयति ।

अब सम्यग्दृष्टी जीवके संवर पूर्वक निर्जरा होती है इस कारण निर्जरा तत्त्वका कथन करते हैं।

गाथा। जह कालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ॥ ३६ ॥

गाथाभावार्थः—जिस आत्माके परिणामरूप भावसे कर्म्मरूपी पुद्गल फल देकर नष्ट होते हैं वह तो भाव निर्जरा है और सविपाक निर्जराकी अपेक्षासे यथाकाल अर्थात् काल लब्धिरूप कालसे तथा अविपाक निर्जराकी अपेक्षासे तपसे जो कर्मरूप पुद्गलोंका नष्ट होना है सो द्रव्य निर्जरा है ॥ ३६ ॥

व्याख्या। 'णेया' इत्यादिव्याख्यानं क्रियेत—"णेया" ज्ञातव्या का "णिज्जरा" भाव-निर्जरा। सा का निर्विकारपरमचैतन्यचिच्चमत्कारानुभूतिसञ्जातसहजानन्दस्वभावसुखामृतर-सास्वादरूपो भाव इत्यध्याहारः। "जेण भावेण" येन भावेन जीवपरिणामेन किं भवति "सडदि" विशीर्यते पतति गलति विनश्यति किं कर्तृकम्मपुद्गलं कर्मारिविध्वंसकस्वकीय-शुद्धात्मनो विलक्षणं कर्मपुद्गलद्रव्यं कथंभूतं "भुत्तरसं" स्वोदयकालं प्राप्य सांसारिकसुख-दुःखरूपेण भुक्तरसं दत्तफलं केन कारणभूतेन गलति "जह कालेण" स्वकालपच्यमानाम्र-फलवत्सविपाकनिर्जरापेक्षया, अभ्यन्तरे निजशुद्धात्मसंवित्तिपरिणामस्य वहिरङ्गसहकारि-कारणभूतेन काललब्धिसंज्ञेन यथाकालेन न केवलं यथाकालेन "तवेणय" अकालपच्यमा-नानामाम्रादिफलवदविपाकनिर्जरापेक्षया अभ्यन्तरेण समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधलक्षणेन वहि-रङ्गेणान्तस्तत्त्वसंवित्तिसाधकसंभूतेनानशनादिद्वादशविधेन तपसा चेति "तस्स" कर्म्मणो गलनं यच्च सा द्रव्यनिर्जरा। ननु पूर्वं यदुक्तं 'सडदि' तेनैव द्रव्यनिर्जरा लब्धा पुनरपि सडनं किमर्थं भणितम्? तत्रोत्तरं—तेन सडदिशब्देन निर्मलात्मानुभूतिग्रहणभावनिर्जराभिधान-परिणामस्य सामर्थ्यमुक्तं न च द्रव्यनिर्जरेति। "इदि" इति द्रव्यभावरूपेण निज्जरा द्विवि-धा भवति॥

व्याख्यार्थः—"णेया" इत्यादि सूत्रका व्याख्यान करते हैं। "णेया" जानना चाहिये किसको "णिज्जरा" भाव निर्जराको, वह क्या है? कि विकारोंसे रहित और परम चैतन्य रूप जो चित् चमत्कार है उसके अनुभवसे उत्पन्न जो सहज आनंद स्वभाव सुखामृतके आस्वादरूप भाव है उसरूप है। यहांपर भाव शब्दका अध्याहार (विवक्षासे ग्रहण) किया गया है। **"जेण भावेण"** जिस जीवके परिणामरूप भावसे क्या होता है कि **"सडदि"** जीर्ण होता है, गिरता है, गलता है अथवा नाशको प्राप्त होता है; कौन कर्त्ता? **"कम्मपुग्गलं"** कर्मरूपी शत्रुओंका नाश करनेवाला जो निजशुद्ध आत्मा है उससे विल-क्षण कर्मरूपी पुद्गल द्रव्य; कैसा होके? **"भुत्तरसं"** अपने उदयकालको प्राप्त होके संसार संबंधी सुख तथा दुःखरूपसे भुक्तरस अर्थात् दिया है रस जिसने ऐसा होकर; किस कार-णसे गलता है **"जह कालेण"** अपने समयमें पकते हुए आम्रके फलके समान तो सविपाक

निर्जराकी अपेक्षासे, और अन्तरंगमें निजशुद्ध आत्माके ज्ञान रूप परिणामके वहिरंग सहकारी कारणभूत जो काललब्धि है उस नामके धारक यथाकालसे, और केवल यथाकालसे ही नहीं किंतु "तवेणय" विना समय पकते हुए आम्र आदि फलोंके समान अविपाक निर्जराकी अपेक्षासे, तथा समस्त परद्रव्योंमें इच्छाके रोकनेरूप अभ्यंतर तपसे और अन्तस्तत्त्व (आत्मरूपत्व)के ज्ञानको साधनेवाले अनशन (उपवास) आदि द्वादश प्रकारके वहिरंग तपसे "तस्स" उस कर्मका जो गलना सो द्रव्य निर्जरा है। शंका–आपने जो पहले 'सडदि' ऐसा कहा है उसीसे द्रव्यनिर्जरा प्राप्त होगई फिर 'सडन' इस शब्दका कथन क्यों किया? इसका समाधान यह है कि पहले जो 'सडदि' शब्द कहा गया है उससे निर्मल आत्माके अनुभवको ग्रहण करनेरूप जो भाव निर्जरा नामक परिणाम है उसका सामर्थ्य कहा गया है और द्रव्यनिर्जराका कथन नहीं किया गया। 'इदि' इसप्रकार द्रव्य और भावरूपसे दो प्रकारकी निर्जरा जाननी चाहिये ॥

अत्राह शिष्यः—सविपाकनिर्जरा नरकादिगतिष्वज्ञानिनामपि दृश्यते संज्ञानिनामेवेति नियमो नास्ति। तत्रोत्तरं—अत्रैव मोक्षकारणं या संवरपूर्विका निर्जरा सैव ग्राह्या। या पुनरज्ञानिनां निर्जरा सा गजस्नानवन्निष्फला। यतः स्तोकं कर्म निर्जरयति बहुतरं बध्नाति तेन कारणेन सा न ग्राह्या। या तु सरागसदृष्टीनां निर्जरा सा यद्यप्यशुभकर्मविनाशं करोति तथापि संसारस्थितिं स्तोकां कुरुते। तद्भवे तीर्थकरप्रकृत्यादिविशिष्टपुण्यबन्धकारणं भवति पारम्पर्येण मुक्तिकारणं चेति। वीतरागसदृष्टीनां पुनः पुण्यपापद्वयविनाशे तद्भवेऽपि मुक्तिकारणमिति। उक्तं च श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः "जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसदसहस्सकोडीहिं। तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमित्तेण। १।" कश्चिदाह—सदृष्टीनां वीतरागविशेषणं किमर्थं रागादयो हेया मदीया न भवन्तीति भेदविज्ञाने जाते सति रागानुभवेऽपि ज्ञानमात्रेण मोक्षो भवतीति। तत्र परिहारः। अन्धकारे पुरुषद्वयम् एकः प्रदीपहस्तस्तिष्ठति। अन्यः पुनरेकः प्रदीपरहितस्तिष्ठति। स च कूपे पतनं सर्पादिकं वा न जानाति तस्य विनाशे दोषो नास्ति। यस्तु प्रदीपहस्तस्तस्य कूपपतनादिविनाशे प्रदीपफलं नास्ति। यस्तु कूपपतनादिकं त्यजति तस्य प्रदीपफलमस्ति। तथा कोऽपि रागादयो हेया मदीया न भवन्तीति भेदविज्ञानं न जानाति स कर्मणा बध्यते तावत्, अन्यः कोऽपि रागादिभेदविज्ञाने जातेऽपि यावतांशेन रागादिकमनुभवति तावतांशेन सोऽपि बध्यत एव, तस्यापि रागादिभेदविज्ञानफलं नास्ति। यस्तु रागादिभेदविज्ञाने जाते सति रागादिकं त्यजति तस्य भेदविज्ञानफलमस्तीति ज्ञातव्यम्। तथा चोक्तं—"चक्खुस्स दंसणस्स य सारो सप्पादिदोसपरिहारो। चक्खू होदि णिरत्थं दट्ठूण बिले पडं तस्स"॥ ३६ ॥ एवं निर्जराव्याख्याने सूत्रेणैकेन चतुर्थस्थलं गतम् ॥

यहां शिष्य कहता है कि जो सविपाक निर्जरा है वह तो नरक आदि गतियोंमें अज्ञानियोंके भी होती हुई देख पड़ती है। इसलिये सम्यग्ज्ञानियोंके सविपाक निर्जरा होती है यह नियम नहीं है? इस विषयमें उत्तर यह है कि यहांपर जो संवर पूर्वक निर्जरा है उसीको ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि, वही मोक्षका कारण है। और जो अज्ञानियोंके

निर्जरा होती है वह तो गजस्नान (हाथीके स्नान) के समान निष्फल है। क्योंकि, अज्ञानी जीव थोड़े कर्मोंकी तो निर्जरा करता है और बहुतसे कर्मोंको बांधता है। इस कारण अज्ञानियोंकी सविपाक निर्जराका यहां ग्रहण नहीं करना चाहिये। तथा जो सराग सम्यग्दृष्टियोंके निर्जरा है वह यद्यपि अशुभ कर्मोंका नाश करती है और शुभ कर्मोंका नाश नहीं करती तथापि संसारकी स्थितिको अल्प करती है अर्थात् जीवके संसारपरिभ्रमणको घटाती है। उसी भवमें तीर्थंकर प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्यबंधका कारण हो जाती है और परंपरासे मोक्षकी कारणभूत है। और जो वीतराग सम्यग्दृष्टी हैं उनके पुण्य तथा पाप दोनोंका नाश होनेपर उसी भवमें वह सविपाक निर्जरा मोक्षकी कारण हो जाती है। सोही श्रीमान् कुंदकुंद आचार्य देवने कथन किया है–"अज्ञानी जिन कर्मोंका एक लाख करोड़ वर्षोंमें नाश करता है उन्हीं कर्मोंको ज्ञानी जीव मनोवचनकायकी गुप्तिका धारक होके एक उच्छ्वास मात्रमें नष्ट कर देता है। १।" यहां कोई शंकाका कथन करता है कि जो सम्यग्दृष्टी हैं उनके वीतराग यह विशेषण किसलिये लगाया गया है। क्योंकि राग आदिक हेय (त्याज्य) हैं, ये मेरे नहीं हैं ऐसा भेद विज्ञान उत्पन्न होनेपर वह रागका अनुभव करे तो भी उसके ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष होजाता है। इस शंकाका खंडन यह है कि, अन्धकारमें दो पुरुष हैं, एक हाथमें दीपक लिये हुए है और दूसरा विना दीपकके है। वह दीपकरहित पुरुष न तो कूपके पतनको जानता है और न सर्प आदिको जानता है इसलिये वह अंधकारमें कुये आदिमें अज्ञानसे गिर जावे तो दोष नहीं है। तथा जिसके हाथमें दीपक है वह मनुष्य यदि कूपपतन आदिसे नष्ट हो जावे तो उसके हाथमें जो दीपक था उसका कोई फल नहीं हुआ। और जो उस अंधकारमें दीपकके प्रकाशसे कूपपतन आदिको छोड़ता है उसके दीपकका फल है। इसी दृष्टान्तके अनुसार कोई मनुष्य तो "राग आदि हेय हैं," मेरे, नहीं हैं इस प्रकारके भेदविज्ञानको नहीं जानता है वह तो कर्मोंसे बँधता ही है। और दूसरा मनुष्य भेदविज्ञानके उत्पन्न होनेपर भी जितने अंशोंसे रागादिकका अनुभव करता है उतने अंशोंसे वह भेदविज्ञानी पुरुष भी बँधता ही है। और उसके रागादि भेद विज्ञानका फल भी नहीं है और जो जीव राग आदिकमें भेदविज्ञान होनेपर राग आदिका त्याग करता है उसके भेदविज्ञानका फल है यह जानना चाहिये। सोही कहा है–"नेत्रोंसे देखनेका फल सर्प आदिके दोषोंसे मार्गमें वचना ही है; और जो नेत्रद्वारा सर्प आदिको देखके भी सर्पके बिलमें पैर धरता है उसके नेत्रोंका होना व्यर्थ (निष्फल) है॥ ३६॥ इस प्रकार निर्जरा तत्त्वके व्याख्यानमें एक सूत्रसे चतुर्थ स्थल समाप्त हुआ॥

अथ मोक्षतत्त्वमावेदयति।

अब मोक्षतत्त्वका उपदेश करते हैं।

गाथा। सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।
णेयो स भावमुक्खो दव्वविमुक्खो य कम्मपुहभावो॥ ३७॥

गाथाभावार्थः—सब कर्मोंके नाशका कारण जो आत्माका परिणाम है उसको भाव मोक्ष जानना चाहिये। और कर्मोंकी जो आत्मासे सर्वथा भिन्नता है वह द्रव्यमोक्ष है ३७

व्याख्या। यद्यपि सामान्येन निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्याशरीरस्यात्मन आत्यन्तिकस्वाभाविकाचिन्त्याद्भुतानुपमसकलविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणास्पदमवस्थान्तरं मोक्षो भण्यते तथापि विशेषेण भावद्रव्यरूपेण द्विधा भवतीति वार्त्तिकम्। तद्यथा—"णेयो स भावमुक्खो" णेयो ज्ञातव्यः स भावमोक्षः। स कः "अप्पणो हु परिणामो" निश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसाररूपो "हु" स्फुटमात्मनः परिणामः। कथंभूतः "सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदु" सर्वस्य द्रव्यभावरूपमोहनीयादिघातिचतुष्टयकर्मणो यः क्षयहेतुरिति। द्रव्यमोक्षं कथयति। "दव्वविमुक्खो" अयोगिचरमसमये द्रव्यविमोक्षो भवति कोऽसौ "कम्मपुहभावो" टङ्कोत्कीर्णशुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मन आयुरादिशेषाघातिकर्मणामपि य आत्यन्तिकपृथग्भावो विश्लेषो विघटनमिति॥

व्याख्यार्थः—"यद्यपि सामान्यरूपसे संपूर्णतया कर्मरूप मलकलंकसे रहित जो शरीररहित आत्मा है उसके आत्यंतिक, स्वाभाविक, अचिन्त्य, अद्भुत तथा अनुपम ऐसे जो सकल विमल केवलज्ञान आदि गुण हैं उन सबका स्थान भूत जो अवस्थान्तर है वही मोक्ष कहा जाता है, तथापि विशेषतासे भाव और द्रव्यरूपसे वह मोक्ष दो प्रकारका होता है" यह वार्त्तिक पाठ है। सो इस प्रकार है—"णेयो स भावमुक्खो" उसको भावमोक्ष जानना चाहिये, उसको किसको? "अप्पणो हु परिणामो" निश्चयसे निश्चयरत्नत्रय लक्षण जो कारण समयसार है उसरूप आत्माके परिणामको। कैसे आत्माके परिणामको? "सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू" जो कि सब अर्थात् द्रव्य तथा भावरूप मोहनीय आदि चार घातिया कर्म हैं उनके नाशका कारण है उसको। अब द्रव्यमोक्षके स्वरूपको कहते हैं—"दव्वविमुक्खो" अयोगी गुणस्थानवर्त्ती जीवके अन्त्य समयमें द्रव्य मोक्ष होता है। वह द्रव्यमोक्ष कैसा है "कम्मपुहभावो" टंकोत्कीर्ण शुद्धबुद्ध स्वरूप एक स्वभावका धारक जो परमात्मा है उसके आयुः आदि जो शेष (बचे हुए) चार अघातिया कर्म हैं उनका भी जो अतिशय करके भिन्न होना तथा नाश होना है उस स्वरूप है॥

तस्य मुक्तात्मनः सुखं कथ्यते। "आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निष्प्रतिद्वन्द्वभावम्। अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममितं शाश्वतं सर्वकालमुत्कृष्टानन्तसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम्। १।" कश्चिदाह—इन्द्रियसुखमेव सुखं मुक्तात्मनामिन्द्रियशरीराभावे पूर्वोक्तमतीन्द्रियसुखं कथं घटत इति। तत्रोत्तरं दीयते—सांसारिकसुखं तावत् स्त्रीसेवादिपञ्चेन्द्रियविषयप्रभवमेव, यत्पुनः पञ्चेन्द्रियविषयव्यापाररहितानां निर्व्याकुलचित्तानां पुरुषाणां सुखं तदतीन्द्रियसुखमत्रैव दृश्यते। पञ्चेन्द्रियम-

नोजनितविकल्पजालरहितानां निर्विकल्पसमाधिस्थानां परमयोगिनां रागादिरहितत्वेन स्वसंवेद्यमात्मसुखं तद्विशेषेणातीन्द्रियम् । यच्च भावकर्मद्रव्यकर्मरहितानां सर्वप्रदेशाह्लादैकपारमार्थिकपरमानन्दपरिणतानां मुक्तात्मनामतीन्द्रियसुखं तदत्यन्तविशेषेण ज्ञातव्यम् । अत्राह शिष्यः—संसारिणां निरन्तरं कर्मबन्धोऽस्ति, तथैवोदयोऽप्यस्ति, शुद्धात्मभावनाप्रस्तावो नास्ति, कथं मोक्षो भवतीति? तत्र प्रत्युत्तरं । यथा शत्रोः क्षीणावस्थां दृष्ट्वा कोऽपि धीमान् पर्यालोचयत्ययं मम हनने प्रस्तावस्ततः पौरुषं कृत्वा शत्रुं हन्ति तथा कर्मणामप्येकरूपावस्था नास्ति हीयमानस्थित्यनुभागत्वेन कृत्वा यदा लघुत्वं क्षीणत्वं भवति तदा धीमान् भव्य आगमभाषया "खय उवसमियविसोही देसणया उग्गकरणलद्धीय । चत्तारिविसामण्णाकरणं सम्मत्तचारित्ते । १ ।" इति गाथाकथितलब्धिपञ्चकसंज्ञेनाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च निर्मलभावनाविशेषखड्गेन पौरुषं कृत्वा कर्मशत्रुं हन्तीति । यत्पुनरन्तः कोटाकोटीप्रमितकर्मस्थितिरूपेण तथैव लतादारुस्थानीयानुभागरूपेण च कर्मलघुत्वे जातेऽपि सत्ययं जीव आगमभाषया अधःप्रवृत्तिकरणापूर्वकरणानिवृत्तिकरणसंज्ञामध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणतिरूपां कर्महननबुद्धिं कृत्वा क्वापि कालेन करिष्यतीति तद्भव्यत्वगुणस्यैव लक्षणं ज्ञातव्यमिति । अन्यदपि दृष्टान्तनवकं मोक्षविषये ज्ञातव्यम्—"रयणदीवदिणयरदहिउ, दुद्धउ घाउपहाणु । सुण्णुरुप्पफलिहउ अगणि, णव दिट्ठंता जाणि । १ ।" नन्वनादिकाले मोक्षं गच्छतां जीवानां जगच्छून्यं भविष्यतीति? तत्र परिहारः । यथा—भाविकालसमयानां क्रमेण गच्छतां यद्यपि भाविकालसमयराशेः स्तोकत्वं भवति तथाप्यवसानं नास्ति । तथा मुक्तिं गच्छतां जीवानां यद्यपि जीवराशेः स्तोकत्वं भवति तथाप्यवसानं नास्ति । इति चेत्तर्हि पूर्वकाले बहवोऽपि जीवा मोक्षं गता इदानीं जगतः शून्यत्वं किं न दृश्यते । किञ्चाभव्यानामभव्यसमानभव्यानां च मोक्षो नास्ति कथं शून्यत्वं भविष्यतीति ॥ ३० ॥

एवं संक्षेपेण मोक्षतत्त्वव्याख्यानेनैकसूत्रेण पञ्चमं स्थलं गतम् ।

अब उस मुक्तात्माके सुखका वर्णन करते हैं । "निज आत्मारूप उपादान कारणसे सिद्ध; स्वयं अतिशययुक्त, बाधासे शून्य, विशाल, वृद्धि तथा ह्रास (न्यूनता)से रहित, विषयोंसे शून्य, प्रतिद्वन्द्व अर्थात् प्रतिपक्षतासे वर्जित, अन्य द्रव्योंकी अपेक्षासे मुक्त, उपमारहित, अप्रमाण (अपार), नित्य और सर्व कालमें उत्तम तथा अनन्तसारतायुक्त ऐसा जो परम सुख है वह इस मोक्षसे उन सिद्धोंके हुआ है । १ ।" यहांपर कोई शंका करता है कि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ जो सुख है वही सुख है; और सिद्ध जीवोंके इंद्रियों तथा शरीरका अभाव है इसलिये पूर्वोक्त जो अतीन्द्रिय सुख है वह सिद्धोंके कैसे हो सकता है? इसपर उत्तर देते हैं कि सांसारिक जो सुख है वह तो स्त्रीसेवन आदि रूप जो पांचों इन्द्रियोंके विषय हैं उन्हींसे उत्पन्न होता है और जो पांचों इंद्रियोंके विषयोंके व्यापारसे रहित तथा व्याकुलताशून्य चित्तवाले पुरुष हैं उनका जो सुख है वह अतीन्द्रिय सुख है । और इस लोक में ही देखा भी जाता है । और पांचों इन्द्रियों तथा मनसे उत्पन्न जो विकल्पोंके समूह हैं उनसे रहित और निर्विकल्प ध्यानमें स्थित ऐसे परम

योगियोंके राग आदिकी शून्यतापूर्वक जो स्वसंवेद्य (निजके अनुभवसे जानने योग्य) आत्माका सुख है वह विशेष करके अतीन्द्रिय है। और भावकर्म तथा द्रव्यकर्मोंसे रहित, तथा संपूर्ण आत्माके प्रदेशोंमें आल्हादका जनक ऐसा जो पारमार्थिक परम सुख है उसमें परिणत ऐसे मुक्त जीवोंके जो अतीन्द्रिय सुख है वह अत्यन्त विशेपतासे अतीन्द्रिय जानना चाहिये। अब यहांपर शिष्य कहता है कि हे गुरो, संसारी जीवोंके निरन्तर कर्मोंका बंध होता है और इसी प्रकार कर्मोंका उदय भी सदा होता रहता है इस कारण शुद्ध आत्माके ध्यानका प्रस्ताव (प्रसंग) ही नहीं है फिर उनका मोक्ष कैसे होता है? अब इस शिष्यके प्रश्नका उत्तर देते हैं कि जैसे कोई बुद्धिमान् अपने शत्रुकी क्षीण अवस्थाको देखकर, अपने मनमें विचार करता है कि यह मेरे मारनेका प्रस्ताव है अर्थात् शत्रु दुर्बल है इसलिये यह अवसर शत्रुको मारनेका है; और इस विचारके पश्चात् उद्यम करके, वह बुद्धिमान् अपने शत्रुको मारता है; इसी प्रकार कर्मोंकी भी सदा एकरूप अवस्था नहीं रहती इस कारण स्थितिबंध और अनुभागबंधकी न्यूनता होनेसे जब कर्म लघु अर्थात् क्षीण होते हैं तब बुद्धिमान् भव्य जीव आगम भापासे "क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि ये पांच लब्धियें हैं. इनमें चार तो सामान्य हैं और पांचवीं सम्यक्त्वचारित्रमें होती है" इस गाथासे कही हुई पांच लब्धियों नामक तथा अध्यात्म भापासे निज शुद्ध आत्माके सन्मुख परिणाम नामक जो निर्मल भावना विशेषरूप खड्ग है उससे पौरुप करके कर्मशत्रुको नष्ट करता है। और जो अन्तः कोटाकोटि प्रमाण कर्मस्थितिरूप तथा इसी प्रकार लताकाष्ठके स्थानापन्न अनुभाग रूपसे कर्मोंका लघुत्व (क्षीणत्व) होनेपर भी यह जीव आगमभापासे अधःप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक तथा अध्यात्मभापासे निज शुद्ध आत्माके सन्मुख परिणामरूप जो कर्मोंको नष्ट करनेकी बुद्धि है उसको करके किसी समयमें कर्मोंका नाश नहीं करैगा यह जो कथन है सो अभव्यत्व गुणका ही लक्षण जानना चाहिये। और अन्य भी तो दृष्टान्त मोक्षके विपयमें जानने योग्य हैं।

अब यहां कोई शंका करता है कि अनादि कालसे मोक्षको जाते हुए जीवोंसे जगत्की शून्यता हो जायगी अर्थात् अनादिकालसे जो मोक्षको जीव जा रहे हैं तो न्यून होते २ कभी न कभी जगत्में जीव सर्वथा न रहैंगे. इस शंकाका परिहार करते हैं कि जैसे क्रमसे जाते हुए जो भविष्यत् कालके समय हैं उनसे यद्यपि भविष्यत्कालके समयोंकी राशिमें न्यूनता होती है तथापि उस समयराशिका अंत कदापि नहीं इसी प्रकार मुक्तिमें जाते हुए जीवोंसे यद्यपि जगत्में जीवराशिकी न्यूनता होती है तथापि उस जीवराशिका अंत नहीं है। यदि ऐसा कहो तो यह शंका भी होती है कि पूर्व कालमें बहुत जीव मोक्षको गये हैं तब इस समय जगत्की शून्यता क्यों नहीं देख पड़ती तो इसपर यह भी उत्तर है

कि अभव्य जीव तथा अभव्यके समान भव्य जीवोंका मोक्ष नहीं है। फिर जगत्‌की शून्यता कैसे होगी॥ ३०॥

इस प्रकार संक्षेपसे मोक्षतत्त्वके व्याख्यानरूप एक सूत्रसे पंचम स्थल समाप्त हुआ।

अत ऊर्ध्वं षष्ठस्थले गाथापूर्वार्धेन पुण्यपापपदार्थद्वयस्वरूपमुत्तरार्धेन च पुण्यपापप्रकृति-संख्यां कथयामीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति।

अब इसके आगे षष्ठ (छट्ठे) स्थलमें गाथाके पूर्वार्धसे पुण्य तथा पापरूप जो दो पदार्थ हैं उनके स्वरूपको और उत्तरार्धसे पुण्य प्रकृति तथा पाप प्रकृतियोंकी संख्याको कहता हूं इस अभिप्रायको मनमें धारण कर, भगवान् इस सूत्रका प्रतिपादन करते हैं।

गाथा। सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।
सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च॥ ३८॥

गाथाभावार्थः—शुभ तथा अशुभ परिणामोंसे युक्त जीव पुण्य और पापरूप होते हैं। सातावेदनी, शुभ आयु, शुभ नाम तथा उच्च गोत्र नामक कर्मोंकी जो प्रकृतियें हैं वे तो पुण्य प्रकृतियें हैं और शेष सब पापप्रकृतियें हैं॥ ३८॥

व्याख्या। "पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा" चिदानन्दैकसहजशुद्धस्वभावत्वेन पुण्यपापबन्धमोक्षादिपर्यायरूपविकल्परहिता अपि सन्तानागतानादिकर्मबन्धपर्यायेण पुण्यं पापं च भवन्ति खलु स्फुटं जीवाः। कथंभूताः सन्तः "सुहअसुहभावजुत्ता" "उद्वम मिथ्यात्वविषं भावय दृष्टिं च कुरु परां भक्तिम्। भावनमस्कारतो ज्ञाने युक्तो भव सदापि। १। पञ्चमहाव्रतरक्षां कोपचतुष्कस्य निग्रहं परमम्। दुर्दान्तेन्द्रियविजयं तपःसिद्धिविधौ कुरूद्योगम्। २।" इत्यार्याद्वयकथितलक्षणेन शुभोपयोगभावेन परिणामेन तद्विलक्षणेनाशुभोपयोगपरिणामेन च युक्ताः परिणताः। इदानीं पुण्यपापभेदान् कथयति "सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं" सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं भवति "पराणि पावं च" तस्मादपराणि कर्माणि पापं चेति। तद्यथा–सद्वेद्यमेकं, तिर्यग्मनुष्यदेवायुस्त्रयं, सुभगयशःकीर्त्तितीर्थकरत्वादिनामप्रकृतीनां सप्तत्रिंशत्, तथोच्चैर्गोत्रमिति समुदायेन द्विचत्वारिंशत्संख्याः पुण्यप्रकृतयो विज्ञेयाः। शेषा द्व्यशीतिपापमिति। तत्र "दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य" इत्युक्तलक्षणषोडशभावनोत्पन्नतीर्थकरनामकर्मैव विशिष्टं पुण्यम्। षोडशभावनासु मध्ये परमागमभाषया "मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्। अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः। १।" इति श्लोककथितपञ्चविंशतिमलरहिता तथाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्मोपादेयरुचिरूपा सम्यक्त्वभावनैव मुख्येति विज्ञेयम्। सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य पुण्यपापद्वयमपि हेयम्। कथं पुण्यं करोतीति? तत्र युक्तिमाह। यथा कोऽपि देशान्तरस्थमनोहरस्त्रीसमीपादागतपुरुषाणां तदर्थं दानसन्मानादिकं करोति तथा सम्यग्दृष्टिरप्युपादेयरूपेण स्वशुद्धात्मानमेव भावयति चारित्रमोहोदयात्तत्रासमर्थः सन् निर्दोषपरमात्मस्वरूपाणामर्हत्सिद्धानां तदाराधकाचार्योपाध्यायसाधूनां

च परमात्मपदप्राप्त्यर्थं विषयकषायवञ्चनार्थं च दानपूजादिना गुणस्तवनादिना वा परमभक्तिं करोति तेन भोगाकाङ्क्षादिनिदानरहितपरिणामेन कुटुम्बिनां पलालमिव अनीहितवृत्त्या विशिष्टपुण्यमास्रवति तेन च स्वर्गे देवेन्द्रलोकान्तिकादिविभूतिं प्राप्य विमानपरीवारादिसंपदं जीर्णतृणमिव गणयन् पञ्चमहाविदेहेषु गत्वा पश्यति। किं पश्यतीति चेत्—तदिदं समवसरणं, त एते वीतरागसर्वज्ञाः, त एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधका गणधरदेवादयो ये पूर्वं श्रूयन्ते त इदानीं प्रत्यक्षेण दृष्टा इति मत्वा विशेषेण दृढधर्ममतिर्भूत्वा चतुर्थगुणस्थानयोग्यामात्मनो विरतावस्थामपरित्यजन् भोगानुभवेऽपि सति धर्मध्यानेन कालं नीत्वा स्वर्गादागत्य तीर्थकरादिपदे प्राप्तेऽपि पूर्वभवभावितविशिष्टभेदज्ञानवासनाबलेन मोहं न करोति ततो जिनदीक्षां गृहीत्वा पुण्यपापरहितनिजपरमात्मध्यानेन मोक्षं गच्छतीति। मिथ्यादृष्टिस्तु तीव्रनिदानबन्धपुण्येन भोगं प्राप्य पश्चादर्द्धचक्रवर्त्तिरावणादिवन्नरकं गच्छतीति। एवमुक्तलक्षणपुण्यपापपदार्थद्वयेन सह पूर्वोक्तानि सप्ततत्त्वान्येव नव पदार्था भवन्तीति ज्ञातव्यम्।

इति श्रीनेमिचन्द्रसैद्धान्तिकदेवविरचिते द्रव्यसङ्ग्रहग्रन्थे "आसवबंधण"
इत्याद्येका सूत्रगाथा तदनन्तरं गाथादशकेन स्थलपट्कं चेति समु-
दायेनैकादशसूत्रैः सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादकनामा
द्वितीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः ॥ २ ॥

व्याख्यार्थः—"पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा" चिदानन्दरूप सहज शुद्ध भावसे पुण्य, पाप, बन्ध, तथा मोक्ष आदि पर्याय स्वरूप विकल्पोंसे रहित भी जीव हैं तथापि संतान (प्रवाह)से प्राप्त जो अनादि कर्मबन्ध पर्याय है उससे पुण्य तथा पाप भी होते हैं अर्थात् पुण्य पापको प्राप्त होते हैं। कैसे होते हुए जीव पुण्य पापको धारण करते हैं; इसलिये यह विशेषण कहते हैं। "सुहअसुहभावजुत्ता" "मिथ्यात्वरूपी विषका वमन कर दो, सम्यग्दर्शनकी भावना करो, उत्कृष्ट भक्तिको करो, और भाव नमस्कारमें तत्पर होके सदा ज्ञानमें लगे रहो। १। पांच महाव्रतोंकी रक्षा करो, क्रोध आदि चार कषायोंका पूर्ण रूपसे निग्रह करो, दुर्दान्त (प्रबल) इन्द्रियरूप शत्रुओंका विजय करो तथा बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारका जो तप है उसको सिद्ध करनेमें उद्योग करो।" इस प्रकार दोनों आर्याछन्दोंसे कहे हुए लक्षणसहित शुभ उपयोगरूप भाव परिणामसे तथा उसके विपरीत अशुभ उपयोग रूप परिणामसे युक्त (परिणत) जो जीव हैं वे पुण्य पापको धारण करते हैं अथवा स्वयं पुण्य पापरूप हो जाते हैं। अब पुण्य तथा पापके भेदोंको कहते हैं। "सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं" साता वेदनी, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्र ये कर्म तो पुण्यरूप हैं और इनसे भिन्न जो शेष कर्म हैं वे पापकर्म हैं। सो इस प्रकार है—साता वेदनी एक प्रकृति; तिर्यंच, मनुष्य और देव इन भेदोंसे शुभ आयुकी प्रकृतियें तीन ३; सुभग, यश कीर्त्ति तथा तीर्थकरपना आदि रूप नामकर्मकी प्रकृतियें सैंतीस ३७ और उच्च गोत्र एक १; ऐसे सब मिलके समुदायसे बयालीस ४२ संख्याकी धारक पुण्य प्रकृ-

तियें जाननी चाहिये। बाकीकी जो बयासी ८२ प्रकृति आठों कर्मोंकी हैं वे सब पापप्रकृति हैं॥

उनमें "दर्शनविशुद्धि १ विनयसंपन्नता २ शील तथा व्रतोंमें अतिचाररहितता ३ निरन्तर ज्ञानमें उपयोग ४ संवेग ५ शक्तिपूर्वक त्याग ६ शक्तिपूर्वक तप ७ साधुसमाधि ८ वैयावृत्त्यका करना ९ अर्हतमें भक्ति १० आचार्यभक्ति ११ बहुश्रुतभक्ति १२ प्रवचनभक्ति १३ आवश्यकोंमें हानि न करना अर्थात् षट् आवश्यकोंको निरन्तर धारण करना १४ मार्गप्रभावना १५ और प्रवचनवात्सल्य १६ ये तीर्थंकर प्रकृतिके बंधके कारण हैं" इस कहे हुए लक्षणकी धारक जो सोलह भावना हैं उनसे उत्पन्न जो तीर्थंकर नामकर्म है सो विशिष्ट पुण्य है। उक्त सोलह भावनाओंमें परमागम भाषासे "तीन मूढता आठ मद, छः (६) अनायतन और आठ शंका आदि दोष ऐसे पचीस २५ सम्यग्दर्शनके दोष हैं। १।" इस प्रकार श्लोकमें कहे हुए पचीस सम्यग्दर्शनके मल (दोष तथा अतिचारों)से रहित ऐसी तथा अध्यात्मभाषासे निजशुद्ध आत्मा ही उपादेय (ग्रहण) करने योग्य है, इस प्रकारकी जो रुचि (प्रीति) है उसरूप जो सम्यक्त्वकी भावना है सोही मुख्य है यह जानना चाहिये। शंका—सम्यग्दृष्टी जीवके तो पुण्य तथा पाप ये दोनों ही हेय (त्याज्य) हैं फिर वह पुण्य कैसे करता है? अब इस शंकाके समाधानमें युक्तिका कथन करते हैं। जैसे कोई मनुष्य अन्य देशमें विद्यमान ऐसी मनोहर (रूप लावण्यादिकी धारक) स्त्रीके पाससे आये हुए मनुष्योंका उस स्त्रीकी प्राप्तिके अर्थ दान, सन्मान आदि करता है; ऐसे ही सम्यग्दृष्टी जीव भी निजशुद्ध आत्माको ही भावता है। परंतु जब चारित्रमोहके उदयसे उस निज शुद्ध आत्माकी भावनामें असमर्थ होता है; तब दोषरहित परमात्मा स्वरूप जो अर्हत् सिद्ध हैं तथा उनके आराधक जो आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं उनकी परमात्मारूपपदकी प्राप्तिके निमित्त और विषय तथा कषायोंको दूर करनेके लिये दान पूजा आदिसे अथवा गुणोंकी स्तुति आदिसे परम भक्तिको करता है। और भोगोंकी वांछा आदि निदानोंसे रहित जो परिणाम है उससे कुटुंबियोंके पलालके समान निरिच्छकपनेसे विशिष्ट पुण्यका आस्रव करता है, अर्थात् जैसे किसान जब चावलोंकी खेती करता है; तब उसका मुख्य उद्देश चावल उत्पन्न करनेका रहता है और चावलोंका जो पलाल (घास) है उसमें उसकी वांछा नहीं रहती है, तथापि उसको बहुतसा पलाल मिल ही जाता है; इसी प्रकार मोक्षको चाहनेवाले जीवोंके वांछा विना भी भक्ति करनेसे पुण्यका आस्रव होता है। और उस पुण्यसे स्वर्गमें इन्द्र, लोकान्तिक देव आदिकी विभूतिको प्राप्त होकर स्वर्गसंबंधी जो विमान तथा देव देवियोंका परिवार है उसको जीर्ण तृणके समान गिनता हुआ पंच महाविदेहोंमें जाके देखता है। क्या देखता है? ऐसा प्रश्न करो तो उत्तर यह है कि, वह यह समवसरण है, वे ये श्रीवीतराग सर्वज्ञ भगवान् हैं, वे

ये भेद तथा अभेदरूप रत्नत्रयकी आराधना करनेवाले गणधर देव आदि हैं, जो कि पहले सुने जाते थे, वे आज प्रत्यक्षमें देखे ऐसा मानकर अधिकतासे धर्ममें दृढ बुद्धिको करके चतुर्थ गुणस्थानके योग्य जो अपनी अविरत अवस्था है उसको नहीं छोड़ता हुआ भोगोंका सेवन होनेपर भी धर्मध्यानसे देव आयुके कालको पूर्णकर स्वर्गसे आकर तीर्थकर आदि पदको प्राप्त होता है और तीर्थकर आदि पदको प्राप्त होनेपर भी पूर्वजन्ममें भावित की हुई जो विशिष्ट–भेदज्ञानकी वासना है उसके बलसे मोहको नहीं करता है और मोह-रहित होनेसे श्रीजिनेन्द्रकी दीक्षाको धारण कर पुण्य तथा पापसे रहित जो निजपरमात्माका ध्यान है उसके द्वारा मोक्षको जाता है। और जो मिथ्यादृष्टी है वह तो तीव्र निदानबंधके पुण्यसे चक्रवर्त्ती, नारायण तथा रावण आदि प्रतिनारायणोंके समान भोगोंको प्राप्त होकर नरकको जाता है। इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणके धारक जो पुण्य और पापरूप दो पदार्थ हैं उन सहित पूर्वोक्त जो सात तत्त्व हैं वेही नव ९ पदार्थ हो जाते हैं। अथार्त् जीव अजी-वादि सात तत्त्वोंमें पुण्य और पापके मिलानेसे नौ पदार्थ हो जाते हैं । ऐसा समझना चाहिये ॥ २८ ॥

इति श्रीनेमिचन्द्रसैद्धान्तदेवविरचितद्रव्यसङ्ग्रहस्य श्रीब्रह्मदेवनिर्मितसंस्कृतटीकायाः शास्त्रीत्युपाधिधारक–श्रीजवाहरलालदि० जैनप्रणीतभाषानुवादे "आसवबं-धण" इत्याद्येकादशसूत्रैः सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादकनामा द्वितीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः । २ ।

अत ऊर्ध्वं विंशतिगाथापर्यन्तं मोक्षमार्गं कथयति । तत्रादौ "सम्मद्दंसण" इत्याद्यष्टगाथा-भिर्निश्चयमोक्षमार्गव्यवहारमोक्षमार्गप्रतिपादकमुख्यत्वेन प्रथमोऽन्तराधिकारस्ततः परम् "दु-विहं पि मुक्खहेउं" इति प्रभृतिद्वादशसूत्रैर्ध्यानध्यातृध्येयध्यानफलकथनमुख्यत्वेन द्वितीयो-ऽन्तराधिकारः । तृतीयाधिकारे समुदायेन पातनिका ।

अथ प्रथमतः सूत्रपूर्वार्धेन व्यवहारमोक्षमार्गमुत्तरार्धेन च निश्चयमोक्षमार्गं निरूपयति ।

अब इसके पश्चात् वीस २० गाथा पर्यन्त मोक्षमार्गका कथन करते हैं । उसकी आ-दिमें "सम्मद्दंसणणाणं" इत्यादि आठ गाथाओंके द्वारा प्रधानतासे निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्गका प्रतिपादक प्रथम अन्तराधिकार है । उसके अनंतर "दुविहं पि मुक्ख हेउं" इत्यादि बारह गाथाओंसे ध्यान, ध्याता, ध्येय तथा ध्यानके फलको कहना है मुख्य प्रयोजन जिसका ऐसा द्वितीय अन्तराधिकार है। इस प्रकार इस तृतीय अधिकारमें समुदायसे पातनिका है।

अब प्रथमही सूत्रके पूर्वार्धसे व्यवहार मोक्षमार्गको और उत्तरार्धसे निश्चय मोक्षमार्गको कहते हैं।

सम्मद्दंसणणाणं चरणं मुक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा॥ ३९॥

गाथाभावार्थः—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके समुदायको व्यवहारसे मोक्षका कारण जानो। तथा निश्चयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र स्वरूप जो निज आत्मा है उसको मोक्षका कारण जानो॥ ३९॥

व्याख्या। "सम्मद्दंसणणाणं चरणं मुक्खस्स कारणं जाणे ववहारा" सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं मोक्षस्य कारणं हे शिष्य जानीहि व्यवहारनयात्। "णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा" निश्चयतस्तत्त्रितयमयो निजात्मेति। तथा हि—वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थसम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानविकल्परूपो व्यवहारमोक्षमार्गः। निजनिरञ्जनशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणैकाग्र्यपरिणतिरूपो निश्चयमोक्षमार्गः। अथवा धातुपाषाणेऽग्निवत्साधको व्यवहारमोक्षमार्गः, सुवर्णस्थानीयनिर्विकारस्वोपलब्धिसाध्यरूपो निश्चयमोक्षमार्गः। एवं संक्षेपेण व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गलक्षणं ज्ञातव्यमिति।३९।

व्याख्यार्थः—"सम्मद्दंसणणाणं चरणं मुक्खस्स कारणं जाणे ववहारा" हे शिष्य! व्यवहारनयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके समुदायको मोक्षका कारण जानो। "णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा" और निश्चयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा चारित्र इन तीनों स्वरूप जो निज आत्मा है वही मोक्षका कारण है। भावार्थ—श्रीवीतराग सर्वज्ञसे कहे हुए जो छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थ हैं इनका भले प्रकार श्रद्धान करना, जानना, और व्रत आदिका आचरण करना इत्यादि विकल्परूप जो है सो तो व्यवहार मोक्षमार्ग है। और जो अपने निरंजन शुद्ध आत्मतत्त्वका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरणमें एकाग्रपरिणति रूप है वह निश्चय मोक्षमार्ग है। अथवा धातु पाषाणके विषयमें अग्निके सदृश जो साधक है वह तो व्यवहार मोक्षमार्ग है तथा सुवर्णके स्थानापन्न निर्विकार जो निजआत्मा है उसके स्वरूपकी प्राप्तिरूप जो साध्य है उस स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग है। इस प्रकार संक्षेपसे व्यवहार तथा निश्चय मोक्षमार्गके लक्षणको जानना चाहिये॥ ३९॥

अथाभेदेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि स्वशुद्धात्मैव तेन कारणेन निश्चयेनात्मैव निश्चयमोक्षमार्ग इत्याख्याति। अथवा पूर्वोक्तमेव निश्चयमोक्षमार्गं प्रकारान्तरेण दृढयति।

अब अभेदसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र निजशुद्ध आत्मा ही है इस कारण निश्चयनयसे आत्मा ही निश्चय मोक्षमार्ग है इस प्रकार कथन करते हैं। अथवा पहले कहे हुए निश्चय मोक्षमार्गको ही अन्य प्रकारसे दृढ करते हैं।

रयणत्तयं न वट्टइ अप्पाणमुइत्तु अण्णदवियम्हि।
तह्मा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा॥ ४०॥

गाथाभावार्थः—आत्माको छोड़कर अन्य द्रव्यमें रत्नत्रय नहीं रहता इस कारण उस रत्नत्रयमयी जो आत्मा है वही निश्चयसे मोक्षका कारण है ॥ ४० ॥

व्याख्या। "रयणत्तयं न वट्टइ अप्पाण मुइत्तु अण्णदवियह्मि' रत्नत्रयं न वर्त्तते स्वकीयशुद्धात्मानं मुक्त्वा अन्याचेतने द्रव्ये। "तह्मा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा" तस्मात्तत्रितयमय आत्मैव निश्चयेन मोक्षस्य कारणं भवतीति जानीहि। अथ विस्तारः—रागादिविकल्पोपाधिरहितचिच्चमत्कारभावनोत्पन्नमधुररसास्वादसुखोऽहमिति निश्चयरूपं सम्यग्दर्शनं तस्यैव सुखस्य समस्तविभावेभ्यः स्वसंवेदनज्ञानेन पृथक् परिच्छेदनं सम्यग्ज्ञानं, तथैव दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षप्रभृतिसमस्तापध्यानरूपमनोरथजनितसंकल्पविकल्पजालत्यागेन तत्रैव सुखे रतस्य सन्तुष्टस्य तृप्तस्यैकाकारपरमसमरसीभावेन द्रवीभूतचित्तस्य पुनः पुनः स्थिरीकरणं सम्यक्चारित्रम्। इत्युक्तलक्षणं निश्चयरत्नत्रयं शुद्धात्मानं विहायान्यत्र घटपटादिबहिर्द्रव्ये न वर्त्तते यतस्ततः कारणादभेदेन येनानेकद्रव्यात्मकैकप्रपानकवत्तदेव सम्यग्दर्शनं, तदेव सम्यग्ज्ञानं, तदेव चारित्रं, तदेव स्वात्मतत्त्वमित्युक्तलक्षणं निजशुद्धात्मानमेव मुक्तिकारणं जानीहि ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थः—"रयणत्तयं न वट्टइ अप्पाण मुइत्तु अण्ण दविअह्मि" निजशुद्ध आत्माको छोड़कर अन्य अचेतन द्रव्यमें रत्नत्रय नहीं रहता है। "तह्मा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा" इस कारण इस रत्नत्रयमय आत्माको ही निश्चयसे मोक्षका कारण जानो। अब विस्तारसे वर्णन करते हैं–राग आदि विकल्पोंकी उपाधिसे रहित जो चित् चमत्कारकी भावनासे उत्पन्न मधुर रस (अमृत) है उसके आस्वाद रूप सुखका धारक मैं हूं इस प्रकार निश्चयरूप सम्यग्दर्शन है। और इस पूर्वोक्त सुखका जो राग आदि समस्त विभाव हैं उनसे स्वसंवेदन ज्ञानद्वारा भिन्न करना अथवा जानना है सो सम्यग्ज्ञान है। और इसी प्रकार देखे, सुने, तथा अनुभव किये हुए जो भोग उनमें वांछा करना आदि जो समस्त दुर्ध्यानरूप मनोरथ हैं उनसे उत्पन्न हुए संकल्प विकल्पोंके त्यागसे उसी सुखमें संतुष्ट तथा एक आकारका धारक जो परम समता भाव उससे चलायमान चित्तका वारंवार स्थिर करना सम्यक् चारित्र है। इस प्रकार कहे हुए लक्षणका धारक जो रत्नत्रय है वह शुद्ध आत्माको छोड़कर अन्य जो घट, पट आदि वाह्य द्रव्य हैं उनमें नहीं रहता है इस कारण अभेदसे अनेक द्रव्योंमय एक प्रपानक अर्थात् वदाम, सौंफ, मिश्री, मिरच आदि द्रव्योंरूप ठंढाईके समान वह आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, वह आत्मा ही सम्यग्ज्ञान है, वह आत्माही चारित्र है तथा वही निज आत्मतत्त्व है। इस प्रकार कहे हुए लक्षणवाले निजशुद्ध आत्माको ही मुक्तिका कारण जानो ॥ ४० ॥

एवं प्रथमस्थले सूत्रद्वयेन निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गस्वरूपं संक्षेपेण व्याख्याय तदनन्तरं द्वितीयस्थले गाथाषट्कपर्यन्तं सम्यक्त्वादित्रयं क्रमेण विवृणोति। तत्रादौ सम्यक्त्वमाह।

इस प्रकार प्रथम स्थलमें दो सूत्रोंद्वारा संक्षेपसे निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमा-

र्गके स्वरूपका व्याख्यान करके अब आचार्य छः गाथाओंतक क्रमसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र इन तीनोंका विस्तारसे वर्णन करते हैं। उनमें प्रथम ही सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन)को कहते हैं।

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु।
दुरभिणिवेशविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि ॥ ४१ ॥

गाथाभावार्थः—जीव आदि पदार्थोंका जो श्रद्धान करना है वह सम्यक्त्व है और वह सम्यक्त्व आत्माका स्वरूप है। और इस सम्यक्त्वके होनेपर संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय इन तीनों दुरभिनिवेशोंसे रहित होकर सम्यग्ज्ञान कहलाता है ॥ ४१ ॥

व्याख्या। "जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं" वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धजीवादितत्त्वविषये चलमलिनावगाढरहितत्वेन श्रद्धानं रुचिर्निश्चयइदमेवेत्थमेवेति निश्चयबुद्धिः सम्यग्दर्शनम्। "रूवमप्पणो तं तु" तच्चाभेदनयेन रूपं स्वरूपं तु पुनः कस्यात्मन आत्मपरिणाम इत्यर्थः। तस्य सामर्थ्यमाहात्म्यं दर्शयति। "दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि" यस्मिन् सम्यक्त्वे सति ज्ञानं सम्यग् भवति स्फुटं कथम्भूतं सम्यग्भवति "दुरभिणिवेसविमुक्कं" चलितप्रतिपत्तिगच्छत्तृणस्पर्शशुक्तिकाशकलरजतविज्ञानसदृशं संशयविभ्रमविमोहैर्मुक्तं रहितमित्यर्थः।

व्याख्यार्थः—"जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं" वीतराग सर्वज्ञ श्रीजिनेन्द्रसे कहे हुए जो शुद्ध जीव आदि तत्त्व हैं उनके विषे चल मलिन तथा अवगाढकी रहितता पूर्वक जो श्रद्धान अर्थात् रुचि अथवा "जो जिनेन्द्रने कहा वही यह है, जिस प्रकारसे जिनेन्द्रने कहा है उसी प्रकारसे यह है" इस प्रकार जो निश्चयरूप बुद्धि है वह सम्यग्दर्शन है; "रूवमप्पणो तं तु" और वह सम्यग्दर्शन अभेद नयसे आत्माका स्वरूप है अर्थात् आत्माका परिणाम है। अब सम्यग्दर्शनके सामर्थ्य अथवा माहात्म्यको दिखाते हैं। "दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि" जिस सम्यक्त्वके होनेपर चलायमान ज्ञान अर्थात् यह पुरुष है अथवा स्थाणु (काष्ठका ठूंठ) है इस रूप संशय, गमन करते हुए जैसा तृणके स्पर्श आदिका ज्ञान होता है उस ज्ञानके समान विभ्रम अथवा अनध्यवसाय तथा सीपके टुकड़ेमें चांदीके विज्ञानके समान जो विमोह अर्थात् विपर्यय है इन तीनोंसे रहित हुआ जो ज्ञान है वह सम्यग् (समीचीन) ज्ञान होता है। भावार्थ–सम्यक्त्वके पहले संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप दोषोंसे दूषित होनेके कारण ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता है और सम्यक्त्वके होते ही उक्त दोष ज्ञानमेंसे चले जाते हैं इस कारण वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सो यह सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) का ही माहात्म्य है।

इतो विस्तारः—सम्यक्त्वे सति ज्ञानं सम्यग्भवतीति यदुक्तं तस्य विवरणं क्रियते। तथाहि–गौतमाग्निभूतिवायुभूतिनामानो विप्राः पञ्चपञ्चशतब्राह्मणोपाध्याया वेदचतुष्टयं, ज्योतिष्कव्याकरणादिषडङ्गानि, मनुस्मृत्याद्यष्टादशस्मृतिशास्त्राणि तथा भारताद्यष्टादशपुराणानि मीमांसान्यायविस्तर इत्यादिलौकिकसर्वशास्त्राणि यद्यपि जानन्ति तथापि तेषां हि ज्ञानं सम्यक्त्वं विना मिथ्याज्ञानमेव। यदा पुनः प्रसिद्धकथान्यायेन श्रीवीरवर्द्धमानस्वामितीर्थंकरपरमदेवसमवसरणे मानस्तम्भावलोकनमात्रादेवागमभाषया दर्शनचारित्रमोहनीयोपशमक्षयसंज्ञेनाध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च कालादिलब्धिविशेषेण मिथ्यात्वं विलयं गतं तदा तदेव मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानं जातम्। ततश्च "जयति भगवान्" इत्यादि नमस्कारं कृत्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा कचलोचानन्तरमेव चतुर्ज्ञानसप्तर्द्धिसम्पन्नास्त्रयोऽपि गणधरदेवाः संजाताः। गौतमस्वामी भव्योपकारार्थं द्वादशाङ्गश्रुतरचनां कृतवान्। पश्चान्निश्चयरत्नत्रयभावनाबलेन त्रयोऽपि मोक्षं गताः। शेषाः पञ्चदशशतप्रमितब्राह्मणा जिनदीक्षां गृहीत्वा यथासम्भवं स्वर्गं मोक्षं च गताः। अभव्यसेनः पुनरेकादशाङ्गधारकोऽपि सम्यक्त्वं विना मिथ्याज्ञानी सञ्जात इति। एवं सम्यक्त्वमाहात्म्येन ज्ञानतपश्चरणव्रतोपशमध्यानादिकं मिथ्यारूपमपि सम्यग्भवति। तदभावे विषयुक्तदुग्धमिव सर्वं वृथेति ज्ञातव्यम्।

अब विस्तारसे वर्णन करते हैं। उसमें प्रथम ही सम्यग्दर्शन होनेपर ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है यह जो कहा गया है उसका विवरण करते हैं। तथाहि पांच पांचसो ब्राह्मणोंके अध्यापक (पढ़ानेवाले) गोतम, अग्निभूति और वायुभूति नामक तीन ब्राह्मण चारों वेद, ज्योतिष्क व्याकरण आदि छहों अंग, मनुस्मृति आदि अठारह स्मृतिशास्त्र, महाभारत आदि अठारह पुराण, तथा मीमांसा न्यायविस्तर इत्यादि समस्त लौकिक शास्त्रोंको जानते थे तो भी उनका ज्ञान, सम्यग्दर्शनके विना मिथ्या ज्ञान ही था। परन्तु जब वे प्रसिद्ध कथाके अनुसार श्रीवीर वर्धमान (महावीर) स्वामी तीर्थंकर परम देवके समवसरणमें गये तब मानस्तंभके देखनेमात्रसे ही आगम भाषासे दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीयके क्षयोपशमसे और आध्यात्म भाषासे निज शुद्ध आत्माके सन्मुख परिणाम तथा काल आदि लब्धियोंके विशेषसे उनका मिथ्यात्व नाशको प्राप्त होगया और उसी समय उनका जो मिथ्याज्ञान था वही सम्यग्ज्ञान होगया। और सम्यग्ज्ञान होते ही "जयति भगवान्" इत्यादि रूप जो प्रसिद्ध श्लोक है उससे भगवान्को नमस्कार करके श्रीजिनेन्द्रकी दीक्षाको धारण कर केशोंका जो लोच किया उसके पीछे ही मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय नामक चार ज्ञान तथा सात ऋद्धियोंके धारक होके तीनों ही श्रीमहावीर स्वामीके समवसरणमें गणधर देव होगये। उनमेंसे गोतमस्वामीने भव्यजीवोंके उपकारके अर्थ द्वादशाङ्गरूप श्रुतकी रचना की। फिर वे तीनों ही निश्चयरत्नत्रयकी भावनाके बलसे मोक्षको प्राप्त हुए।

और एकादश (ग्यारह) अंगोंका पाठी भी जो एक अभव्यसेन नामक मुनि था वह सम्यक्त्वके विना मिथ्याज्ञानी ही रहा। इन उक्त दोनों कथाओंसे निश्चित हुआ कि सम्यक्त्वके माहात्म्यसे मिथ्यारूप भी जो ज्ञान, तपश्चरण, व्रत, उपशम तथा ध्यान आदि हैं वे सम्यग् हो जाते हैं। और सम्यक्त्वके विना विष (जहर) से मिले हुए दुग्धके समान ज्ञान तपश्चरणादि सब वृथा हैं यह जानना चाहिये।

तच्च सम्यक्त्वं पञ्चविंशतिमलरहितं भवति। तद्यथा—देवतामूढलोकमूढसमयमूढभेदेन मूढत्रयं भवति। तत्र क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितमनन्तज्ञानाद्यनन्तगुणसहितं वीतरागसर्वज्ञदेवतास्वरूपमजानन् ख्यातिपूजालाभरूपलावण्यसौभाग्यपुत्रकलत्रराज्यादिविभूतिनिमित्तं रागद्वेषोपहतार्त्तरौद्रपरिणतक्षेत्रपालचण्डिकादिमिथ्यादेवानां यदाराधनं करोति जीवस्तद्देवतामूढत्वं भण्यते। न च ते देवाः किमपि फलं प्रयच्छन्ति। कथमिति चेत्? रावणेन रामस्वामिलक्ष्मीधरविनाशार्थं बहुरूपिणी विद्या साधिता, कौरवैस्तु पाण्डवनिर्मूलनार्थं कात्यायनी विद्या साधिता, कंसेन च नारायणविनाशार्थं बह्व्योऽपि विद्याः समाराधितास्ताभिः कृतं न किमपि रामस्वामिपाण्डवनारायणानाम्। तैस्तु यद्यपि मिथ्यादेवता नानुकूलितास्तथापि निर्मलसम्यक्त्वोपार्जितेन पूर्वकृतपुण्येन सर्वं निर्विघ्नं जातमिति। अथ लोकमूढत्वं कथयति। गङ्गादिनदीतीर्थस्नानसमुद्रस्नानप्रातःस्नानजलप्रवेशमरणाग्निप्रवेशमरणगोग्रहणादिमरणभूम्यग्निवटवृक्षपूजादीनि पुण्यकारणानि भवन्तीति यद्वदन्ति तल्लोकमूढत्वं विज्ञेयम्। अथ समयमूढत्वमाह। अज्ञानिजनचित्तचमत्कारोत्पादकं ज्योतिष्कमन्त्रवादादिकं दृष्ट्वा वीतरागसर्वज्ञप्रणीतसमयं विहाय कुदेवागमलिङ्गिनां भयाशास्नेहलोभैर्धर्मार्थं प्रणामविनयपूजापुरस्कारादिकरणं समयमूढत्वमिति। एवमुक्तलक्षणं मूढत्रयं सरागसम्यग्दृष्ट्यवस्थायां परिहरणीयमिति। त्रिगुप्तावस्थालक्षणवीतरागसम्यक्त्वप्रस्तावे पुनर्निजनिरञ्जननिर्दोषपरमात्मैव देव इति निश्चयबुद्धिर्देवतामूढरहितत्वं विज्ञेयम्। तथैव मिथ्यात्वरागादिरूपमूढभावत्यागेन स्वशुद्धात्मन्येवावस्थानं लोकमूढरहितत्वं विज्ञेयम्। तथैव च समस्तशुभाशुभसङ्कल्पविकल्परूपपरभावत्यागेन निर्विकारतात्त्विकपरमानन्दैकलक्षणपरमसमरसीभावेन तस्मिन्नेव सम्यग्रूपेणायनं गमनं परिणमनं समयमूढरहितत्वं बोद्धव्यम्। इति मूढत्रयं व्याख्यातम्।

और वह सम्यक्त्व पचीस २५ मलोंसे अर्थात् दोषोंसे रहित होता है। वह इस प्रकार है—उन पचीस दोषोंमें देवतामूढ, लोकमूढ तथा समयमूढके भेदोंसे तीन मूढता हैं। उनमें क्षुधा तृषा आदि अठारह दोषोंसे रहित, अनन्त ज्ञान आदि अनंत गुणोंसहित जो श्रीवीतराग सर्वज्ञ देव हैं उनके स्वरूपको नहीं जानता हुआ जीव ख्याति (लोकमें प्रसिद्धता), पूजा, लाभ, रूप, लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री, और राज्य आदिकी संपदाको प्राप्त होनेके लिये जो राग तथा द्वेषसे युक्त और आर्त्त तथा रौद्र ध्यानरूप परिणामोंके धारक क्षेत्रपाल चंडिका आदि मिथ्यादृष्टी देवोंका आराधन करता है उसको देवतामूढ कहते हैं। और ये क्षेत्रपाल, चंडिका आदि देव

कुछ भी फल नहीं देते हैं। फल कैसे नहीं देते हैं? यदि ऐसा पूछो तो उत्तर यह है कि–रावणने श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजीके विनाशके लिये बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की, और कौरवोंने पांडवोंका मूलसे नाश करनेके अर्थ कात्यायनी विद्या सिद्ध की थी, तथा कंसने श्रीकृष्ण नारायणके नाशके लिये बहुतसी विद्याओंकी आराधना की थी। परन्तु उन विद्याओंने श्रीरामजन्द्रजी, पाण्डव और श्रीकृष्णनारायणका कुछ भी अनिष्ट नहीं किया। और श्रीरामचन्द्रजी आदिने इन मिथ्यादृष्टी देवोंको अनुकूल नहीं किया अर्थात् नहीं आराधे तोभी निर्मलसम्यग्दर्शनसे उपार्जित जो पूर्वभवका पुण्य है उससे उनके सब विघ्न दूर होगये। अब लोकमूढताका कथन करते हैं। "गंगा आदि जो नदीरूप तीर्थ हैं इनमें स्नान करना, समुद्रमें स्नान करना, प्रातः (प्रभात) कालमें स्नान करना, जलमें प्रवेश करके मर जाना, मृतक (मुर्दे) की अग्नि (चिता) में प्रवेश करके मरना, गो (गाय) के पुच्छ आदिको ग्रहण करके मरण करना, पृथिवी–अग्नि और वट (बड़) वृक्ष आदिकी पूजा करना" ये सब पुण्यके कारण हैं इस प्रकार जो लोक कहते हैं उसको लोकमूढता जानना चाहिये। अब समयमूढ अर्थात् शास्त्र अथवा धर्म मूढताको कहते हैं। अज्ञानी लोगोंके चित्तमें चमत्कार (आश्चर्य) उत्पन्न करनेवाले जो ज्योतिष अथवा मंत्र वाद आदिको देखकर; श्रीवीतराग सर्वज्ञद्वारा कहा हुआ जो समय (धर्म) है उसको छोड़कर मिथ्यादृष्टी देव, मिथ्या आगम और खोटा तप करनेवाले कुलिङ्गी इन सबका भयसे, वांछासे, स्नेहसे और लोभके वशसे जो धर्मके लिये प्रणाम, विनय, पूजा, सत्कार आदिका करना है उस सबको समयमूढता जानना चाहिये। इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणकी धारक जो तीन मूढता हैं इनको सरागसम्यग्दृष्टीकी अवस्था (दशा) में त्यागना चाहिये। और मन, वचन तथा कायकी गुप्तिरूप अवस्था है लक्षण जिसका ऐसा जो वीतरागसम्यक्त्व है उसके प्रस्ताव (निरूपण) में अपना निरंजन तथा निर्दोष जो परमात्मा है वही देव है ऐसी जो निश्चय बुद्धि है यही देवमूढतासे रहितता जाननी चाहिये। तथा मिथ्यात्व–राग आदिरूप जो मूढभाव हैं इनका त्याग करनेसे जो निजशुद्ध आत्मामें स्थितिका करना है वही लोकमूढतासे रहितता है यह जानने योग्य है। इसी प्रकार संपूर्ण शुभ तथा अशुभरूप जो संकल्प विकल्पस्वरूप पर भाव हैं उनके त्यागरूप जो विकाररहित–वास्तविक–परमानंदमयलक्षणका धारक परम समता भाव है उससे उस निज शुद्ध आत्मामें ही जो सम्यक्प्रकारसे अयन अर्थात् गमन अथवा परिणमन करना है उसको समयमूढतासे रहितता समझना चाहिये। इस प्रकार तीन मूढताका व्याख्यान किया।

अथ मदाष्टस्वरूपं कथ्यते। विज्ञानैश्वर्यज्ञानतपःकुलजातिरूपसंज्ञं मदाष्टकं सरागसम्य-

ग्दृष्टिभिस्त्याज्यमिति । वीतरागसम्यग्दृष्टीनां पुनर्मानकषायादुत्पन्नमदमात्सर्यादिसमस्तविकल्पजालपरिहारेण ममकाराहङ्काररहिते शुद्धात्मनि भावनैव मदाष्टकत्यागइति । ममकाराहङ्कारलक्षणं कथयति । कर्मजनितदेहपुत्रकलत्रादौ ममेदमिति ममकारस्तत्रैवाभेदेन गौरस्थूलादिदेहोऽहं राजाहमित्यहङ्कारलक्षणमिति ।

अब आठमदोंके स्वरूपको कहते हैं । विज्ञान (कला अथवा हुन्नर) का मद १ ऐश्वर्य (हुकूमत) का मद २ ज्ञानका मद ३ तपका मद ४ कुलका मद ५ वलका मद ६ जातिका मद ७ और रूपका मद ८ इस प्रकार नामोंके धारक जो आठ मद हैं इनका सरागसम्यग्दृष्टियोंको त्याग करना चाहिये । और मान कषायसे उत्पन्न जो मद मात्सर्य (ईर्षा) आदि समस्त विकल्पोंका समूह है इसके त्यागपूर्वक जो ममकार और अहंकारसे रहित शुद्ध आत्मामें भावना है वही वीतरागसम्यग्दृष्टियोंके आठ मदोंका त्याग है । ममकार तथा अहंकारके लक्षणको कहते हैं । कर्मोंसे उत्पन्न जो देह–पुत्र स्त्री आदि हैं इनमें यह मेरा शरीर है, यह मेरा पुत्र है, इस प्रकारकी जो वुद्धि है वह ममकार है, और उन शरीर आदिमें अपनी आत्मासे भेद न मानकर जो मैं गोरे वर्णका हूं, मोटे शरीरका धारक हूं, राजा हूं इस प्रकार मानना सो अहंकारका लक्षण है ।

अथानायतनषट्कं कथयति । मिथ्यादेवो, मिथ्यादेवाराधका, मिथ्यातपो, मिथ्यातपस्वी, मिथ्यागमो, मिथ्यागमधरा पुरुषाश्चेत्युक्तलक्षणमनायतनषट्कं सरागसम्यग्दृष्टीनां त्याज्यं भवतीति । वीतरागसम्यग्दृष्टीनां पुनः समस्तदोषायतनभूतानां मिथ्यात्वविषयकषायरूपायतनानां परिहारेण केवलज्ञानाद्यनन्तगुणायतनभूते स्वशुद्धात्मनि निवास एवानायतनसेवापरिहार इति । अनायतनशब्दस्यार्थः कथ्यते । सम्यक्त्वादिगुणानामायतनं गृहमावास आश्रय आधारकरणं निमित्तमायतनं भण्यते तद्विपक्षभूतमनायतनमिति ।

अब छः अनायतनोंका कथन करते हैं । मिथ्यादेव १ मिथ्यादेवोंके सेवक २ मिथ्यातप ३ मिथ्यातपस्वी ४ मिथ्याशास्त्र ५ और मिथ्याशास्त्रोंके धारक पुरुष ६ इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणके धारक जो छः अनायतन हैं ये सरागसम्यग्दृष्टियोंको त्याग करने योग्य होते हैं । और जो वीतरागसम्यग्दृष्टी जीव हैं उनके संपूर्ण दोषोंके स्थानभूत मिथ्यात्व, विषय तथा कषायरूप आयतनोंके त्यागपूर्वक केवल ज्ञान आदि अनन्तगुणोंके स्थानभूत निजशुद्ध आत्मामें जो निवासका करना है वही अनायतनोंकी सेवाका त्याग है । अनायतन शब्दके अर्थको कहते हैं । सम्यक्त्व आदि गुणोंका आयतन अर्थात् घर, आवास, आश्रय अथवा आधार करनेका जो निमित्त है उसको आयतन कहते हैं और जो सम्यक्त्व आदि गुणोंसे विपरीत मिथ्यात्व आदि दोषोंके धारण करनेका निमित्त है वह अनायतन है ।

अतः परं शङ्काद्यष्टमलत्यागं कथयति । निःशङ्काद्यष्टगुणप्रतिपालनमेव शङ्काद्यष्टमल-

त्यागो भण्यते । तद्यथा—रागादिदोषा अज्ञानं वाऽसत्यवचनकारणं तदुभयमपि वीतरागसर्वज्ञानां नास्ति ततः कारणात्तत्प्रणीते हेयोपादेयतत्त्वे मोक्षे मोक्षमार्गे च भव्यैः संशयः सन्देहो न कर्त्तव्यः। तत्र शङ्कादिदोषपरिहारविषये पुनरञ्जनचौरकथा प्रसिद्धा। तत्रैव विभीषणकथा। तथाहि—सीताहरणप्रघट्टके रावणस्य रामलक्ष्मणाभ्यां सह सङ्ग्रामप्रस्तावे विभीषणेन विचारितं रामस्तावदष्टमबलदेवो लक्ष्मणश्चाष्टमो वासुदेवो रावणश्चाष्टमः प्रतिवासुदेव इति । तस्य च प्रतिवासुदेवस्य वासुदेवहस्तेन मरणमिति जैनागमे पठितमास्ते तन्मिथ्या न भवतीति निःशङ्को भूत्वा त्रैलोक्यकण्टकं रावणं स्वकीयज्येष्टभ्रातरं त्यक्त्वा त्रिंशदक्षौहिणीप्रमितचतुरङ्गबलेन सह स रामस्वामिपार्श्वे गत इति । तथैव देवकीवसुदेवद्वयं निःशङ्कं ज्ञातव्यम् । तथाहि—यदा देवकीबालकस्य मारणनिमित्तं कंसेन प्रार्थना कृता तदा ताभ्यां पर्यालोचितं मदीयः पुत्रो नवमो वासुदेवो भविष्यति तस्य हस्तेन जरासिन्धुनाम्नो नवमप्रतिवासुदेवस्य कंसस्यापि मरणं भविष्यतीति जैनागमे भणितं तिष्ठतीति, तथैवातिमुक्तभट्टारकैरपि कथितमिति निश्चित्य कंसाय स्वकीयं बालकं दत्तम्। तथा शेषभव्यैरपि जिनागमे शङ्का न कर्त्तव्येति । इदं व्यवहारेण सम्यक्त्वस्य व्याख्यानम् । निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिःशङ्कागुणस्य सहकारित्वेनेहलोकात्राणागुप्तिमरणव्याधिवेदनाकस्मिकाभिधानभयसप्तकं मुक्त्वा घोरोपसर्गपरीषहप्रस्तावेऽपि शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयभावेनैव निःशङ्कगुणो ज्ञातव्य इति ।

अब इसके अनंतर शंका आदि आठ दोषोंके त्यागका कथन करते हैं । निःशंक आदि आठ गुणोंका जो पालन करना है वही शंकादि आठ मलों (दोषों) का त्याग कहलाता है। वह इस प्रकार है-राग आदि दोष तथा अज्ञान ये दोनों असत्य (झूंठ) वचन बोलनेमें कारण हैं और रागादि दोष तथा अज्ञान ये दोनोंही वीतराग सर्वज्ञ श्रीजिनेन्द्र देवोंके नहीं हैं इस कारण श्रीजिनेन्द्रदेवोंसे निरूपित किये हुए हेयोपादेयतत्त्वमें अर्थात् यह त्याज्य है यह ग्राह्य है इस प्रकारके तत्त्वमें, मोक्षमें और मोक्षमार्गमें भव्यजीवोंको सन्देह नहीं करना चाहिये। इस स्थलमें प्रथम जो शंका दोष है इसके त्याग विषयमें अंजन चोरकी कथा शास्त्रोंमें प्रसिद्ध ही है और विभीषणकी भी कथा इस प्रकरणमें जाननी चाहिये । उसीका कथन करते हैं कि, सीताजीके हरणके प्रसंगमें जब रावणका श्रीरामलक्ष्मणके साथ युद्ध करनेका अवसर आया तब विभीषणने विचार किया कि श्रीरामचंद्रजी तो अष्टम (८ वें) बलदेव हैं और लक्ष्मणजी अष्टम नारायण हैं तथा रावण अष्टम प्रतिनारायण है। और जो प्रतिनारायण होता है उसका नारायणके हाथसे मरण होता है ऐसा जैनशास्त्रोंमें पढ़ा गया है, वह मिथ्या नहीं हो सकता इस प्रकार शंकारहित होकरके अपना बड़ा भाई जो तीन लोकका कंटक रावण था उसको छोड़कर तीस अक्षौहिणी सेना प्रमाण जो अपना चतुरंग (हाथी, घोड़ा, रथ, पयादेरूप) बल था उस सहित श्रीरामचन्द्रजीके समीप चला गया। इसी प्रकार देवकी तथा वसुदेवको भी शंकारहित जानना चाहिये।

सोही दिखाते हैं कि जैसे जब कंसने देवकीके बालकको मारनेके लिये प्रार्थना की तब देवकी और वसुदेवने विचार किया कि मेरा पुत्र नवम (९ वां) नारायण होगा और उसके हाथसे जरासिंधुनामक नवम प्रतिनारायणका और कंसका मरण होगा यह जैनागममें कहा हुआ है, और श्रीभट्टारक अतिमुक्त स्वामीने भी ऐसा ही कहा है, इस प्रकार निश्चय करके कंसको अपना बालक देना स्वीकार किया। जैसे इन उक्त पुरुषोंने अपनी शंका-रहित प्रवृत्ति की इसी प्रकार अन्य भव्यजीवोंको भी जैनशास्त्रोंमें शंका नहीं करनी चाहिये। यह व्यवहारनयसे सम्यक्त्वका व्याख्यान किया। और निश्चयसे उस व्यवहार निःशंका-गुणकी सहायतासे इस लोकका भय १ परलोकका भय २ रक्षाके स्थानके अभावसे उत्पन्न भय ३ मरणभय ४ व्याधिभय ५ वेदनाभय ६ और आकस्मिक भय ७ इन नामोंके धारक जो सात भय हैं उनको छोड़कर घोर उपसर्ग तथा परीषहोंके आनेपर भी शुद्ध उपयोगरूप जो निश्चय रत्नत्रय है उसकी भावनाको ही निःशंका गुण जानना चाहिये।

अथ निष्काङ्क्षितागुणं कथयति । इहलोकपरलोकाशारूपभोगाकाङ्क्षानिदानत्यागेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिरूपमोक्षार्थं ज्ञानपूजातपश्चरणाद्यनुष्ठानकरणं निष्काङ्क्षागुणो भण्यते। तथानन्तमतीकन्याकथा प्रसिद्धा। द्वितीया च सीतामहादेवीकथा। सा कथ्यते। सीता यदा लोकापवादपरिहारार्थं दिव्ये शुद्धा जाता तदा रामस्वामिना दत्तं पट्टमहादेवीविभूतिपदं त्यक्त्वा सकलभूषणानगारकेवलिपादमूले कृतान्तवक्रादिराजभिस्तथा बहुराज्ञीभिश्च सह जिनदीक्षां गृहीत्वा शशिप्रभाधार्मिकासमुदायेन सह ग्रामपुरखेटकादिविहारेण भेदाभेदरत्नत्रयभावनया द्विषष्टिवर्षाणि जिनसमयप्रभावनां कृत्वा पश्चादवसाने त्रयस्त्रिंशद्दिवसपर्यन्तं निर्विकारपरमात्मभावनासहितं संन्यासं कृत्वाऽच्युताभिधानषोडशस्वर्गे प्रतीन्द्रतां याता ततश्च निर्मलसम्यक्त्वफलं दृष्ट्वा धर्मानुरागेण नरके रावणलक्ष्मणयोः संबोधनं कृत्वेदानीं स्वर्गे तिष्ठति। अग्रे स्वर्गादागत्य सकलचक्रवर्त्ती भविष्यति। तौ च रावणलक्ष्मीधरौ तस्य पुत्रौ भविष्यतः। ततश्च तीर्थंकरपादमूले पूर्वभवान्तरं दृष्ट्वा पुत्रद्वयेन सह परिवारेण च सह जिनदीक्षां गृहीत्वा भेदाभेदरत्नत्रयभावनया पश्चानुत्तरविमाने त्रयोऽप्यहमिन्द्रा भविष्यन्ति। तस्मादागत्य रावणस्तीर्थंकरो भविष्यति, सीता च गणधर इति, लक्ष्मीधरो धातकीखण्डद्वीपे तीर्थंकरो भविष्यति। इति व्यवहारनिष्काङ्क्षितागुणो विज्ञातव्यः। निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिष्काङ्क्षागुणस्य सहकारित्वेन दृष्टश्रुतानुभूतपञ्चेन्द्रियभोगत्यागेन निश्चयरत्नत्रयभावनोत्पन्नपारमार्थिकस्वात्मोत्थसुखामृतरसे चित्तसन्तोषः स एव निष्काङ्क्षा गुण इति।

अब निष्कांक्षित गुणको कहते हैं। इस लोक तथा परलोकसंबंधी आशारूप जो भोगाकांक्षानिदान है इसका त्याग करके जो केवल ज्ञान आदि अनन्त गुणोंकी प्रकटतारूप मोक्ष है उसके अर्थ ज्ञान, पूजा, तपश्चरण आदि अनुष्ठानोंका जो करना है वही निष्कांक्षिता गुण कहलाता है। इस गुणमें अनंतमतीकी कथा प्रसिद्ध है। दूसरी सीतामहाराणीकी कथा है। उसको कहते हैं। जब लोकके अपवाद (निंदा)को दूर

करनेके लिये सीताजी अग्निकुंडमें दिव्य (धीज) लेकर निर्दोष सिद्ध हुई तब श्रीरामचंद्रजीने उनको पट्टमहाराणीका पद दिया; परन्तु सीताजीने पट्टमहादेवीकी संपदाको छोड़कर केवलज्ञानी श्रीसकलभूषण मुनिके चरणमूलमें कृतान्तवक्र आदि राजा तथा बहुतसी रानियोंसहित श्रीजिनदीक्षाको ग्रहण करके शशिप्रभा आदि आर्यिकाओंके समूह सहित ग्राम, पुर, खेटक आदिमें विहार द्वारा भेदाभेद रूप रत्नत्रयकी भावनासे बासठवर्ष पर्यन्त जिनमतकी प्रभावना की। फिर अन्त्य समयमें तेंतीस दिनपर्यंत निर्विकार परमात्माके ध्यानपूर्वक संन्यास (समाधि मरण) करके अच्युत नामक सोलहवें स्वर्गमें प्रतीन्द्र हुई। और वहांपर उन्होंने (सीताजीके जीव प्रतीन्द्रने) अवधिज्ञानसे निर्मल सम्यग्दर्शनके फलको देखकर धर्मके अनुरागसे नरकमें जाके रावण और लक्ष्मणके जीवों को संबोधा और वे (प्रतीन्द्र) अब स्वर्गमें विराज रहे हैं। आगे सीताजीका जीव स्वर्गसे आकर सकल चक्रवर्त्ती होगा और वे दोनों रावण तथा लक्ष्मणके जीव इस चक्रवर्त्तीके पुत्र होंगे। पश्चात् श्रीतीर्थंकरके चरणमूलमें अपने पूर्वभवोंको देखकर दोनों पुत्र तथा परिवारसहित सीताजीका जीव सकल चक्रवर्त्ती दीक्षाको ग्रहण कर भेदाभेदरत्नत्रयकी भावनासे सीता, रावण तथा लक्ष्मण ये तीनों ही पांच अनुत्तर विमानोंमें अहमिन्द्र होंगे। वहांसे आकर रावण तो तीर्थंकर होगा और सीताजीका जीव गणधर होगा। तथा लक्ष्मणजी धातकी खंडद्वीपमें तीर्थंकर होंगा। इस प्रकार व्यवहार निष्कांक्षितागुणका स्वरूप जानना चाहिये। और निश्चयसे उसी व्यवहार निष्कांक्षागुणकी सहायतासे देखे, सुने तथा अनुभव किये हुए जो पांचों इन्द्रियोंसंबन्धी भोग हैं इनके त्यागसे निश्चयरत्नत्रयकी भावनासे उत्पन्न जो पारमार्थिक निज आत्मासे उत्पन्न सुखरूपी अमृत रस है उसमें जो चित्तका संतोष होना है वही निष्कांक्षागुण है।

अथ निर्विचिकित्सागुणं कथयति । भेदाभेदरत्नत्रयाराधकभव्यजीवानां दुर्गन्धबीभत्सादिकं दृष्ट्वा धर्मबुद्ध्या कारुण्यभावेन वा यथायोग्यं विचिकित्सापरिहरणं द्रव्यनिर्विचिकित्सागुणो भण्यते । यत्पुनर्जैनसमये सर्वं समीचीनं परं किन्तु वस्त्रप्रावरणं जलस्नानादिकं च न कुर्वन्ति तदेव दूषणमित्यादिकुत्सितभावस्य विशिष्टविवेकबलेन परिहरणं सा निर्विचिकित्सा भण्यते । अस्य व्यवहारनिर्विचिकित्सागुणस्य विषय उद्दायनमहाराजकथा रुक्मिणीमहादेवीकथा चागमप्रसिद्धा ज्ञातव्येति । निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिर्विचिकित्सागुणस्य बलेन समस्तद्वेषादिविकल्परूपकल्लोलमालात्यागेन निर्मलात्मानुभूतिलक्षणे निजशुद्धात्मनि व्यवस्थानं निर्विचिकित्सागुण इति ।

अब निर्विचिकित्सा नामक गुणको कहते हैं। भेद अभेदरूप रत्नत्रयको आराधने वाले जो भव्यजीव हैं उनकी दुर्गन्धि तथा भयंकर आकृति आदिको देखकर धर्मबुद्धिसे अथवा करुणाभावसे यथायोग्य विचिकित्सा (ग्लानि) को जो दूर करना है इसको

द्रव्यनिर्विचिकित्सा गुण कहते हैं । और "जैनमतमें सब अच्छी २ बातें हैं परन्तु वस्त्रके आवरणसे रहितता अर्थात् नग्नपना और जलस्नान आदिका न करना यही दूषण है" इसको आदि ले जो कुत्सित (बुरे) भाव हैं इनको विशेषज्ञानके बलसे जो दूर करना वह निर्विचिकित्सा कहलाती है। यह जो व्यवहार निर्विचिकित्सागुण है इसके पालनेके विषयमें उद्दायन नामक महाराजा तथा रुक्मिणी नामक श्रीकृष्णकी पट्टराणीकी कथा शास्त्रमें प्रसिद्ध जाननी चाहिये । और निश्चयसे तो इसी व्यवहारनिर्विचिकित्सा गुणके बलसे जो समस्त रागद्वेष आदि विकल्परूप तरंगोंके समूहका त्याग करके निर्मल आत्मानुभव लक्षण निजशुद्ध आत्मामें स्थिति करना है वही निर्विचिकित्सागुण है ॥ ३ ॥

इतः परममूढदृष्टिगुणकथां कथयति । वीतरागसर्वज्ञप्रणीतागमार्थाद्बहिर्भूतैः कुदृष्टिभिर्यत्प्रणीतं धातुवादखन्यवादहरमेखलक्षुद्रविद्याव्यन्तरविकुर्वणादिकमज्ञानिजनचित्तचमत्कारोत्पादकं दृष्ट्वा श्रुत्वा च योऽसौ मूढभावेन धर्मबुद्ध्या तत्र रुचिं भक्तिं न कुरुते स एव व्यवहारोऽमूढदृष्टिरुच्यते । तत्र चोत्तरमथुरायां उदुरुलिभट्टारकरेवतीश्राविकाचन्द्रप्रभनामविद्याधरब्रह्मचारिसम्बन्धिनी कथा प्रसिद्धेति । निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारमूढदृष्टिगुणस्य प्रसादेनान्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वनिश्चये जाते सति समस्तमिथ्यात्वरागादिशुभाशुभसङ्कल्पविकल्पेष्टात्मबुद्धिमुपादेयबुद्धिं हितबुद्धिं ममत्वभावं त्यक्त्वा त्रिगुप्तिरूपेण विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे निजात्मनि यन्निश्चलावस्थानं तदेवामूढदृष्टित्वमिति । सङ्कल्पविकल्पलक्षणं कथ्यते । पुत्रकलत्रादौ बहिर्द्रव्ये ममेदमितिकल्पना सङ्कल्पः, अभ्यन्तरे सुख्यहं दुःख्यहमिति हर्षविषादकारणं विकल्प इति । अथवा वस्तुवृत्त्या सङ्कल्प इति कोऽर्थो विकल्प इति तस्यैव पर्यायः ॥ ४ ॥

अब इसके आगे अमूढदृष्टि गुणका कथन करते हैं । श्रीवीतराग सर्वज्ञ देव कथित जो शास्त्रका आशय है उससे बहिर्भूत जो कुदृष्टियोंके बनाये हुए अज्ञानी जनोंके चित्तमें विस्मय उत्पन्न करनेवाले धातुवाद (रसायनशास्त्र) खन्यवाद, हरमेखल, क्षुद्रविद्या, व्यन्तर विकुर्वणादिक शास्त्र हैं उनको देखकर तथा सुनकरके जो कोई मूढभावसे धर्मकी बुद्धि करके उनमें प्रीतिको तथा भक्तिको नहीं करता है उसीको व्यवहारसे अमूढदृष्टि गुण कहते हैं । और इस गुणके पालनके विषयमें उत्तर मथुरामें उदुरुलि भट्टारक, रेवती श्राविका और चंद्रप्रभनामक विद्याधर ब्रह्मचारीसंबंधी कथा शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है । और निश्चयमें इसी व्यवहार अमूढदृष्टि गुणके प्रसादसे जब अन्तरंगके तत्त्व (आत्मा) और बाह्यतत्त्व (शरीरादि) का निश्चय हो जाता है तब संपूर्ण मिथ्यात्व, रागआदि तथा शुभ—अशुभ—संकल्पविकल्पोंके इष्ट जो इनमें आत्मबुद्धि, उपादेय (ग्राह्य) बुद्धि, हितबुद्धि और ममत्वभाव हैं उनको छोड़कर मन, वचन, काय इन तीनोंकी गुप्तिरूपसे विशुद्धज्ञान तथा दर्शन स्वभावका धारक निज आत्मा है

उसमें जो निवास करना (ठहरना) है वही अमूढदृष्टि नामा गुण है । संकल्प और विकल्पके लक्षणको कहते हैं । पुत्र तथा स्त्री आदि जो बाह्य पदार्थ हैं, उनमें ये मेरे हैं ऐसी जो कल्पना है वह तो संकल्प है, और अन्तरंगमें मैं सुखी हूं मैं दुःखी हूं इस प्रकार जो हर्ष तथा खेदका करना है वह विकल्प है । अथवा यथार्थरूपसे जो संकल्प है वही विकल्प है अर्थात् संकल्पके विवरण रूपसे विकल्प संकल्पका पर्याय ही है ।

अथोपगूहनगुणं कथयति । भेदाभेदरत्नत्रयभावनारूपो मोक्षमार्गः स्वभावेन शुद्ध एव तावत्, तत्राज्ञानिजननिमित्तेन तथैवाशक्तजननिमित्तेन च धर्मस्य पैशून्यं दूषणमपवादो दुष्प्रभावना यदा भवति तदागमाविरोधेन यथाशक्त्यार्थेन धर्मोपदेशेन वा यद्धर्मार्थं दोषस्य झम्पनं निवारणं क्रियते तद्व्यवहारनयेनोपगूहनं भण्यते । तत्र मायाब्रह्मचारिणा पार्श्वभट्टारकप्रतिमालग्नरत्नहरणे कृते सत्युपगूहनविषये जिनदत्तश्रेष्ठिकथा प्रसिद्धेति । अथवा रुद्रजनन्या ज्येष्ठासंज्ञाया लोकापवादे जाते सति यद्दोषझम्पनं कृतं तत्र चेलिनीमहादेवीकथेति । तथैव निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारोपगूहनगुणस्य सहकारित्वेन निजनिरञ्जननिर्दोषपरमात्मनः प्रच्छादका ये मिथ्यात्वरागादिदोषास्तेषां तस्मिन्नेव परमात्मनि सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपं यद्ध्यानं तेन प्रच्छादनं विनाशनं गोपनं झम्पनं तदेवोपगूहनमिति ॥

अब उपगूहन गुणका कथन करते हैं । यद्यपि भेद अभेद रत्नत्रयकी भावना रूप जो मोक्षमार्ग है वह स्वभावसे ही शुद्ध है तथापि उसमें जब कभी अज्ञानी मनुष्यके निमित्तसे अथवा धर्मपालनमें असमर्थ जो पुरुष हैं उनके निमित्तसे जो धर्मकी चुगली, निन्दा, दूषण तथा अप्रभावना हो तब शास्त्रके अनुकूल शक्तिके अनुसार धनसे अथवा धर्मके उपदेशसे जो धर्मके लिये उसके दोषोंका ढकना है तथा दूर करना है उसको व्यवहार उपगूहन गुण कहते हैं । इस व्यवहार उपगूहन गुणके पालनके विषयमें जब एक कपटी ब्रह्मचारीने श्रीपार्श्वनाथस्वामीकी प्रतिमामें लगे हुए रत्नको चोरा उस समय जिनदत्त शेठने जो उपगूहन किया था वह कथा शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है । अथवा रुद्र (महादेव) की जो ज्येष्ठा नामक माता थी उसका जब लोकापवाद (लोकनिन्दा) हुआ तब उसके दोषके ढकनेमें चेलिनी महाराणीकी कथा शास्त्रप्रसिद्ध है । इसी प्रकार निश्चयसे व्यवहार उपगूहन गुणकी सहायतासे अपने निरंजन निर्दोष परमात्माको ढकनेवाले जो राग आदि दोष हैं उन दोषोंका उसी परमात्मामें सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरणरूप जो ध्यान है उसके द्वारा जो ढकना, नाश करना, छिपाना तथा झंपन है वही उपगूहन है ।

अथ स्थितीकरणं कथयति । भेदाभेदरत्नत्रयधारकस्य चातुर्वर्णसङ्घस्य मध्ये यदा कोऽपि दर्शनचारित्रमोहोदयेन दर्शनं ज्ञानं चारित्रं वा परित्यक्तुं वाञ्छति तदागमाविरोधेन यथाशक्त्या धर्मश्रवणेन वा अर्थेन वा सामर्थ्येन वा केनाप्युपायेन यद्धर्मे स्थिरत्वं क्रियते तद्व्यवहारेण स्थितीकरणमिति । तत्र च पुष्पडालतपोधनस्य स्थिरीकरणप्रस्तावे वारिषेणकुमारकथागमप्रसिद्धेति । निश्चयेन पुनस्तेनैव व्यवहारेण स्थितीकरणगुणेन धर्मदृढत्वे जाते सति दर्शनचारित्र-

मोहोदयजनितसमस्तमिथ्यात्वरागादिविकल्पजालत्यागेन निजपरमात्मस्वभावभावनोत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादेन तल्लयतन्मयपरमसमरसीभावेन चित्तस्थितीकरणमेव स्थितीकरणमिति ।

अब स्थितीकरणगुणका कथन करते हैं । भेद तथा अभेद रूप रत्नत्रयको धारण करनेवाला जो मुनि, आर्यिका, श्रावक तथा श्राविका रूप चार प्रकारका संघ है उसमेंसे जो कोई दर्शनमोहनीके उदयसे दर्शनको अथवा चारित्रमोहनीके उदयसे चारित्रको छोड़नेकी इच्छा करै उसको शास्त्रकी आज्ञानुसार यथाशक्ति धर्मोपदेश श्रवण करानेसे, धनसे वा सामर्थ्यसे अथवा किसी उपायसे जो धर्ममें स्थिर करदेना है वह व्यवहारसे स्थितीकरण गुण है । और इस गुणमें पुष्पडालमुनिको धर्ममें स्थिर करनेके प्रसंगमें वारिषेण कुमारकी कथा शास्त्रप्रसिद्ध है । और निश्चयसे उसी व्यवहारस्थितीकरणगुणसे जब धर्ममें दृढता होजावे तब दर्शनमोहनी तथा चारित्रमोहनीके उदयसे उत्पन्न जो समस्त मिथ्यात्व राग आदि विकल्पोंका समूह है उसके त्यागद्वारा निज परमात्माकी भावनासे उत्पन्न परम आनंदरूप सुखामृत रसके आस्वादरूप जो परमात्मामें लीन अथवा परमात्मस्वरूप समरसी (समता) भाव है उससे जो चित्तका स्थिर करना है वही स्थितीकरण है ।

अथ वात्सल्याभिधानं सप्तमाङ्गं प्रतिपादयति । बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयाधारे चतुर्विधसङ्घे वत्से धेनुवत्पञ्चेन्द्रियविषयनिमित्तं पुत्रकलत्रसुवर्णादिस्नेहवद्वा यदकृत्रिमस्नेहकरणं तद्व्यवहारेण वात्सल्यं भण्यते । तत्र च हस्तिनागपुराधिपतिपद्मराजसंबन्धिना बलिनामदुष्टमन्त्रिणा निश्चयव्यवहाररत्नत्रयाराधकाकम्पनाचार्यप्रभृतिसप्तशतयतीनामुपसर्गे क्रियमाणे सति विष्णुकुमारनाम्ना निश्चयव्यहारमोक्षमार्गाराधकपरमयतिना विकुर्वणर्द्धिप्रभावेण वामनरूपं कृत्वा बलिमन्त्रिपार्श्वे पादत्रयप्रमाणभूमिप्रार्थनं कृत्वा पश्चादेकः पादो मेरुमस्तके दत्तो द्वितीयो मानुषोत्तरपर्वते तृतीयपादस्यावकाशो नास्तीति वचनच्छलेन मुनिवात्सल्यनिमित्तं बलिमन्त्री बद्ध इत्येका तावदागमप्रसिद्धा कथा । द्वितीया च दशपुरनगराधिपतेर्वज्रकर्णनाम्नः । उज्जयिनीनगराधिपतिना सिंहोदरमहाराजेन जैनोऽयं मम नमस्कारं न करोतीति मत्वा दशपुरनगरं परिवेष्ट्य घोरोपसर्गे क्रियमाणे भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियेण रामस्वामिना वज्रकर्णवात्सल्यनिमित्तं सिंहोदरो बद्ध इति रामायणमध्ये प्रसिद्धेयं वात्सल्यकथेति । निश्चयवात्सल्यं पुनस्तस्यैव व्यवहारवात्सल्यगुणस्य सहकारित्वेन धर्मे दृढत्वे जाते सति मिथ्यात्वरागादिसमस्तशुभाशुभबहिर्भावेषु प्रीतिं त्यक्त्वा रागादिविकल्पोपाधिरहितपरमस्वास्थ्यसंवित्तिसञ्जातसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादं प्रति प्रीतिकरणमेवेति सप्तमाङ्गं व्याख्यातम् ॥

अब वात्सल्य नामक सप्तम अंगका निरूपण करते हैं । बाह्य और आभ्यंतर इन दोनों प्रकारके रत्नत्रयको धारण करनेवाले मुनि, आर्यिका, श्रावक तथा श्राविका रूप चारों प्रकारके संघमें जैसे गो (गाय) की वत्समें प्रीति रहती है उसके समान; अथवा पांचों इन्द्रियोंके विषयोंके निमित्त पुत्र, स्त्री, सुवर्ण आदिमें जो स्नेह रहता है उसके समान; अतुल्य स्नेह (प्रीति) का जो करना है वह व्यवहारनयकी अपेक्षासे वात्सल्य कहा जाता है । और

इस विषयमें हस्तिनागपुर (हथनापुर) के राजा पद्मराजके बलिनामक दुष्ट मंत्रीने जब निश्चय और व्यवहार रत्नत्रयके आराधक अकंपनाचार्य आदि सातसो मुनियोंके उपसर्ग किया तब निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग (रत्नत्रय) के आराधनेवाले विष्णुकुमार नामक महामुनीश्वरने विक्रियाऋद्धिके प्रभावसे वामन रूपको धारण करके बलिनामक दुष्ट मन्त्रीके पाससे तीन पैग प्रमाण पृथ्वीकी याचना की और जब बलिने देना स्वीकार किया तब एक पग तो मेरुके शिखरपर दिया, दूसरा मानुषोत्तर पर्वतपर दिया और तीसरे पादको रखनेके लिये अवकाश (स्थान) नहीं रहा तब वचनछलसे प्रतिज्ञाभंगका दोष लगाकर मुनियोंके वात्सल्य निमित्त बलिमन्त्रीको बांध लिया. यह तो एक आगमप्रसिद्ध कथा है ही और दूसरी वज्रकर्ण नामक दशपुर नगरके राजाकी प्रसिद्ध कथा है। वह यह है कि उज्जयिनीके राजा सिंहोदरने 'वज्रकर्ण जैनी है और मुझको नमस्कार नहीं करता है' ऐसा विचार करके जब वज्रकर्णसे नमस्कार करानेके लिये दशपुर नगरको घेर कर घोर उपसर्ग किया तब भेदाभेद रत्नत्रयकी भावना है प्यारी जिनको ऐसे श्रीरामचंद्रजीने वज्रकर्णके वात्सल्यके अर्थ सिंहोदरको बांध लिया। इस प्रकार यह कथा रामायण (पद्मपुराण) में प्रसिद्ध है। और इसी व्यवहारवात्सल्यगुणके सहकारीपनेसे जब धर्ममें दृढता हो जाती है तब मिथ्यात्व, राग आदि संपूर्ण बाह्य पदार्थोंमें प्रीतिको छोड़कर राग आदि विकल्पोंकी उपाधिरहित परमस्वास्थ्यके ज्ञानसे उत्पन्न सदा आनंद रूप जो सुखमय अमृतका आस्वाद है उसके प्रति प्रीतिका करना ही निश्चय वात्सल्य है। इस प्रकार सप्तम वात्सल्यअंगका व्याख्यान पूर्ण किया।

अथाष्टमाङ्गं नाम प्रभावनागुणं कथयति। श्रावकेन दानपूजादिना तपोधनेन च तपःश्रुतादिना जैनशासनप्रभावना कर्त्तव्येति व्यवहारेण प्रभावनागुणो ज्ञातव्यः। तत्र पुनरुत्तरमथुरायां जिनसमयप्रभावनशीलाया उरुविल्लामहादेव्याः प्रभावननिमित्तमुपसर्गे जाते सति वज्रकुमारनाम्ना विद्याधरश्रमणेनाकाशे जैनरथभ्रमणेन प्रभावना कृतेत्येका आगमप्रसिद्धा कथा। द्वितीया तु जिनसमयप्रभावनाशीलवप्रामहादेवीनामस्वकीयजनन्या निमित्तं स्वस्य धर्मानुरागेण च हरिषेणनामदशमचक्रवर्तिना तद्भवमोक्षगामिना जिनसमयप्रभावनार्थमुत्तुङ्गतोरणजिनचैत्यालयमण्डितं सर्वभूमितलं कृतमिति रामायणे प्रसिद्धेयं कथा। निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारप्रभावनागुणस्य बलेन मिथ्यात्वविषयकषायप्रभृतिसमस्तविभावपरिणामरूपपरसमयानां प्रभावं हत्वा शुद्धोपयोगलक्षणस्वसंवेदनज्ञानेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजशुद्धात्मनः प्रकाशनमनुभवनमेव प्रभावनेति ॥ ८ ॥

अब अष्टम अंग अर्थात् प्रभावनागुणका कथन करते हैं। श्रावक तो दान पूजा आदिसे जो जैन मतकी प्रभावना करै और मुनि तप, श्रुत आदिसे जैनधर्मकी जो प्रभावना करै वही व्यवहारसे प्रभावना गुण है ऐसा जानना चाहिये। और इस गुणके पालनेमें उत्तरमथुरामें (मथुरामें) जिनमतकी प्रभावना करनेका है स्वभाव जिसका ऐसी उग (र) विला महादेवीको प्रभावनाके निमित्त जब उपसर्ग हुआ तब वज्रकुमार नामक विद्याधर श्रमणने

आकाशमें जैन रथको फिराकर प्रभावना की, यह तो एक शास्त्रमें प्रसिद्ध कथा है। और दूसरी कथा यह है कि उसी भवमें मोक्ष जानेवाले हरिषेण नामक दशवें चक्रवर्तीने जिनमतकी प्रभावना करनेका है स्वभाव जिसका ऐसी अपनी माता वप्रा महादेवीके निमित्त और अपने धर्मानुरागसे जिनमतकी प्रभावनाके लिये ऊंचे तोरणोंके धारक जिनमंदिर आदिसे समस्त पृथ्वीतलको भूषित करदिया। इस प्रकार यह कथा रामायण (पद्मपुराण) में प्रसिद्ध है। और निश्चयसे इसी व्यवहारप्रभावनागुणके बलसे मिथ्यात्व, विषय कषाय आदि जो सम्पूर्ण विभाग परिणाम हैं उन रूप जो परमतोंका प्रभाव है उसको नष्ट करके शुद्धोपयोग लक्षण स्वसंवेदन ज्ञानसे निर्मल ज्ञान, दर्शन रूप स्वभावके धारक निज शुद्ध आत्माका जो प्रकाशन अर्थात् अनुभवन करना है सो प्रभावना है ॥ ८ ॥

एवमुक्तप्रकारेण मूढत्रयमदाष्टकषडनायतनशङ्काद्यष्टमलरहितं शुद्धजीवादितत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सरागसम्यक्त्वाभिधानं व्यवहारसम्यक्त्वं विज्ञेयम्। तथैव तेनैव व्यवहारसम्यक्त्वेन पारम्पर्येण साध्यं शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयभावनोत्पन्नपरमाह्लादैकरूपसुखामृतरसास्वादनमेवोपादेयमिन्द्रियसुखादिकं च हेयमिति रुचिरूपं वीतरागचारित्राविनाभूतं वीतरागसम्यक्त्वाभिधानं निश्चयसम्यक्त्वं च ज्ञातव्यमिति। अत्र व्यवहारसम्यक्त्वमध्ये निश्चयसम्यक्त्वं किमर्थं व्याख्यातमिति चेद्व्यवहारसम्यक्त्वेन निश्चयसम्यक्त्वं साध्यत इति साध्यसाधकभावज्ञापनार्थमिति ॥

ऐसे इस पूर्वोक्त प्रकारसे तीन मूढता, आठ मद, छः अनायतन और शंका आदि आठ दोष रूप जो पचीस मल हैं उनसे रहित तथा शुद्धजीव आदि तत्त्वार्थोंके श्रद्धान रूप लक्षणका धारक, सरागसम्यक्त्व है दूसरा नाम जिसका ऐसा व्यवहार सम्यक्त्व जानना चाहिये। और इसी प्रकार उसी व्यवहार सम्यक्त्वद्वारा परंपरासे साधने योग्य, शुद्ध उपयोगरूप निश्चय रत्नत्रयकी भावनासे उत्पन्न जो परम आह्लादरूप सुखामृतरसका आस्वादन है वही उपादेय है और इंद्रियजन्य सुख आदिक हेय है ऐसी रुचिरूप तथा वीतराग चारित्रके विना नहीं उत्पन्न होनेवाला ऐसा वीतरागसम्यक्त्व नामका धारक निश्चयसम्यक्त्व जानना चाहिये। यहां इस व्यवहार सम्यक्त्वके व्याख्यानमें निश्चय सम्यक्त्वका वर्णन क्यों किया? ऐसा प्रश्न करो तो उत्तर यह है कि व्यवहारसम्यक्त्वसे निश्चयसम्यक्त्व साधा (सिद्ध किया) जाता है इस साध्यसाधकभावको अर्थात् व्यवहारसम्यक्त्व साधक और निश्चयसम्यक्त्व साध्य है इस वार्त्ताको विदित करनेके लिये किया गया है।

इदानीं येषां जीवानां सम्यग्दर्शनग्रहणात्पूर्वमायुर्बन्धो नास्ति तेषां व्रताभावेऽपि नरनारकादिकुत्सितस्थानेषु जन्म न भवतीति कथयति। "सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यग्नपुंसकस्त्रीत्वानि। दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाव्रतिकाः। १।" इतः परं मनुष्यगतिसमुत्पन्नसम्यग्दृष्टेः प्रभावं कथयति। "ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः। उत्तमकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः। १।" अथ देवगतौ पुनः प्रकीर्णक-

देववाहनदेवकिल्बिषदेवनीचदेवत्रयं विहायान्येषु महर्द्धिकदेवेषूत्पद्यते सम्यग्दृष्टिः । इदानीं सम्यक्त्वग्रहणात्पूर्वंदेवायुष्कं विहाय ये बद्धायुष्कास्तान् प्रति सम्यक्त्वमाहात्म्यं कथयति । "हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसवणभवणसव्वइच्छीसु । पुण्णिदरेण हि सम्मो ण सासणो णारया पुण्णो । १ ।" तमेवार्थं प्रकारान्तरेण कथयति "ज्योतिर्भावनभौमेषु षट्स्वधः श्वभ्रभूमिषु । तिर्यक्षु नृसुरस्त्रीषु सद्दृष्टिर्नैव जायते । १ ।" अथौपशमिकवेदकक्षायिकाभिधानसम्यक्त्वत्रयमध्ये कस्यां गतौ कस्य सम्यक्त्वस्य सम्भवोऽस्तीति कथयति "सौधर्मादिष्वसंख्याब्दायुष्कतिर्यक्षु नृष्वपि । रत्नप्रभावनौ च स्यात्सम्यक्त्वत्रयमङ्गिनाम् ।१।" कर्मभूमिजपुरुषे च त्रयं सम्भवति बद्धायुष्के लब्धायुष्केऽपि । किन्त्वौपशमिकमपर्याप्तावस्थायां महर्द्धिकदेवेष्वेव । "शेषेषु देवतिर्यक्षु षट्स्वधः श्वभ्रभूमिषु । द्वौ वेदकोपशमकौ स्यातां पर्याप्तदेहिनाम् ।१।" इति निश्चयव्यवहाररत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गावयविनः प्रथमावयवभूतस्य सम्यक्त्वस्य व्याख्यानेन गाथा गता ॥ ४१ ॥

अब जिन जीवोंके सम्यग्दर्शनका ग्रहण होनेके पहले आयुका बंध नहीं हुआ है वे व्रतका अभाव होनेपर भी अर्थात् व्रत न करनेपर भी नर नारक आदि निंदनीय स्थानोंमें जन्म नहीं लेते ऐसा कथन करते हैं । "जिनके शुद्ध सम्यग्दर्शन होगया है ऐसे जीव नरकगति और तिर्यंच गतिमें नहीं उपजते हैं और नपुंसक, स्त्री, नीचकुल, अंगहीन शरीर, अल्प आयु और दरिद्रीपनको नहीं प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥" अब इसके आगे मनुष्य गतिमें जो सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होता है उसके प्रभावका वर्णन करते हैं । "जो दर्शनसे शुद्ध हैं ऐसे जीव दीप्ति, प्रताप, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय और विभवसे सहित होते हैं और उत्तम कुलवाले, तथा विपुल (बहुत) धनके स्वामी होते हैं तथा इन पूर्वोक्त गुणोंसे वे सब मनुष्योंमे श्रेष्ठ होते हैं ॥ १ ॥" अब जो सम्यग्दृष्टि देवगतिमें उत्पन्न होवे तो प्रकीर्णक देव, वाहन देव, किल्विष देव, व्यन्तर देव, भवनवासी देव और ज्योतिषी देवोंके पर्यायको छोड़कर अन्य जो महाऋद्धिके धारक देव हैं उनमें उत्पन्न होते हैं । अब जिन्होंने सम्यक्त्वका ग्रहण करनेके पहले ही देव आयुको छोड़कर अन्य किसी आयुका बंध कर लिया है उनके प्रति सम्यक्त्वका माहात्म्य कहते हैं । "प्रथम नरकको छोड़कर अन्य ६ नरकोंमें, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवोंमें, सब स्त्रीलिङ्गोंमें, और तिर्यंचोंमें, सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता ॥ १ ॥" अब इसी आशयको अन्य प्रकारसे कहते हैं कि "ज्योतिषी, भवनवासी और व्यन्तर देवोंमें, नीचेके ६ नरकोंकी पृथिवियोंमें, तिर्यंचोंमें और मनुष्यस्त्रियों तथा देवस्त्रियोंके विषे सम्यग्दृष्टि नहीं उत्पन्न होता है । अब औपशमिक, वेदक और क्षायिक नामा जो तीन सम्यक्त्व हैं इनमेंसे किस गतिमें कौनसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति हो सकती है सो कहते हैं । "सौधर्म आदि स्वर्गोंमें असंख्यात वर्षकी आयुके धारक तिर्यंच और मनुष्योंमें अर्थात् भोगभूमिके मनुष्य और तिर्यंचोंमें तथा रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक पृथ्वीमें जीवोंके उपशम, वेदक और क्षायिक ये तीनों सम्यक्त्व

होते हैं ॥१॥" और जिसने आयुको बांधलिया है अथवा प्राप्त करलिया है ऐसे कर्मभूमिके मनुष्यमें तीनोंही सम्यक्त्व होते हैं। परन्तु विशेष यह है कि अपर्याप्त अवस्थामें औपशमिक सम्यक्त्व महर्द्धिक देवोंमें ही होता है और "जो शेष (बचे हुए) देव तिर्यंच हैं उनमें ६ नीचेकी नरकभूमियोंमें पर्याप्तजीवोंके वेदक और उपशम ये दो सम्यक्त्व होते हैं ॥ १ ॥" इस प्रकार निश्चय तथा व्यवहाररूप जो रत्नत्रय स्वरूप अवयवी है उसका प्रथम अवयवभूत जो सम्यग्दर्शन है उसके व्याख्यानसे गाथा समाप्त हुई ॥ ४१ ॥

अथ रत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गद्वितीयावयवरूपस्य सम्यग्ज्ञानस्य स्वरूपं प्रतिपादयति ।

अब रत्नत्रय रूप जो मोक्षमार्ग है उसके द्वितीय अवयव रूप सम्यग् ज्ञानके स्वरूपका कथन करते हैं ।

गाथा । संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स ।
गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयभेयं तु ॥ ४२ ॥

गाथाभावार्थः—आत्मस्वरूप और परपदार्थके स्वरूपका जो संशय, विमोह (अनध्यवसाय) और विभ्रम (विपर्यय) रूप कुज्ञानसे रहित जानना है वह सम्यग् ज्ञान कहलाता है। यह आकार (विकल्प) सहित है और अनेक भेदोंका धारक है ।

व्याख्या । "संसयविमोहविब्भमविवज्जियं" संशयः शुद्धात्मतत्त्वादिप्रतिपादकमागमज्ञानं किं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतं भविष्यति ? परसमयप्रणीतं वेति संशयः । तत्र दृष्टान्तः—स्थाणुर्वा पुरुषो वेति । विमोहः परस्परसापेक्षनयद्वयेन द्रव्यगुणपर्यायादिपरिज्ञानाभावो विमोहः । तत्र दृष्टान्तः—गच्छत्तृणस्पर्शवद्दिग्मोहवद्वा । विभ्रमोऽनेकान्तात्मकवस्तुनो नित्यक्षणिकैकान्तादिरूपेण ग्रहणं विभ्रमः । तत्र दृष्टान्तः—शुक्तिकायां रजतविज्ञानवत् । इत्युक्तलक्षणसंशयविमोहविभ्रमैर्वर्जितं "अप्पपरसरूवस्स गहणं" सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनस्वभावस्वात्मरूपस्य ग्रहणं परिच्छेदनं परिच्छित्तिस्तथा परद्रव्यस्य च भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरूपस्य जीवसम्बन्धिनस्तथैव पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूपस्य परकीयजीवरूपस्य च परिच्छेदनं यत्तत् "सम्मण्णाणं" सम्यग्ज्ञानं भवति । तच्च कथंभूतं "सायारं" घटोऽयं पटोऽयमित्यादिग्रहणव्यापाररूपेण साकारं सविकल्पं व्यवसायात्मकं निश्चयात्मकमित्यर्थः । पुनश्च किंविशिष्टं "अणेयभेयं तु" अनेकभेदं तु पुनरिति ॥

व्याख्यार्थः—"संसयविमोहविब्भमविवज्जियं" शुद्ध आत्मतत्त्व आदिका प्रतिपादन करनेवाला जो शास्त्रका ज्ञान है वह क्या वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ सत्य है ? अथवा अन्यमतियों द्वारा निरूपण किया हुआ सत्य है ? इस प्रकार जो विचार करना है वह संशय है। इसमें दृष्टान्त ऐसा कि 'क्या यह अंधकारमें स्थित पदार्थ स्थाणु (वृक्षका ठूंठ) है अथवा कोई मनुष्य खड़ा हुआ है' इस प्रकार विचारना संशय है। गमन करते हुए पुरुषके जैसे चरणोंमें तृण (घास) आदिका स्पर्श होता है और उसको मालूम नहीं होता कि क्या लगा वा जैसे दिशाका भूल जाना होता है उसी प्रकार एक दूसरेकी आप-

समें अपेक्षाके धारक जो द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक स्वरूप दो नय हैं उनके अनुसार जो द्रव्य, गुण तथा पर्याय आदिका नहीं जानना है उसको विमोह कहते हैं। जैसे किसीको सीपमें चांदीका और चांदीमें सीपका ज्ञान होजाय; इसी प्रकार जो अनेकान्तरूप वस्तु है उसको यह नित्यही है, यह अनित्यही है ऐसे जो एकान्तरूप जानना है वह विभ्रम है। इन पूर्वोक्त लक्षणोंके धारक संशय, विमोह और विभ्रमसे रहित जो "अप्पपरसरूवस्स गहणं" सहजशुद्ध केवलज्ञान तथा केवल दर्शन स्वभावके धारक निज आत्माके स्वरूपका जो जानना और जीवके संबंधी ऐसे भावकर्म, द्रव्यकर्म, व जो कर्मस्वरूप पर द्रव्यका तथा पुद्गल आदि पांच द्रव्योंके स्वरूप और परजीवके स्वरूपका जो जानना है सो "सम्मणाणं" सम्यक् ज्ञान है। वह कैसा है कि "सायारं" साकार (विकल्पसहित) अर्थात् निश्चयरूप है। और फिर कैसा है कि "अणेयभेयं तु" अनेक भेदोंका धारक है।

तस्य भेदाः कथ्यन्ते। मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानभेदेन पञ्चधा। अथवा श्रुतज्ञानाऽपेक्षया द्वादशाङ्गमङ्गमङ्गबाह्यं चेति द्विभेदम्। द्वादशाङ्गानां नामानि कथ्यन्ते। आचारं, सूत्रकृतं, स्थानं, समवायनामधेयं, व्याख्याप्रज्ञप्तिः, ज्ञातृकथा, उपासकाध्ययनं, अन्तकृतदशं, अनुत्तरोपपादिकदशं, प्रश्नव्याकरणं, विपाकसूत्रं, दृष्टिवादश्चेति। दृष्टिवादस्य च परिकर्मसूत्रप्रथमानुयोगपूर्वगतचूलिकाभेदेन पञ्च भेदाः कथ्यन्ते। तत्र चन्द्रसूर्यजम्बूद्वीपसागरव्याख्याप्रज्ञप्तिभेदेन परिकर्म पञ्चविधं भवति। सूत्रमेकभेदमेव। प्रथमानुयोगोऽप्येकभेदः। पूर्वगतं पुनरुत्पादपूर्वं, अग्रायणीयं, वीर्यानुप्रवादं, अस्तिनास्तिप्रवादं, ज्ञानप्रवादं, सत्यप्रवादं, आत्मप्रवादं, कर्मप्रवादं, प्रत्याख्यानं, विद्यानुवादं, कल्याणनामधेयं, प्राणानुवादं, क्रियाविशालं, लोकसंज्ञं, पूर्वं, चेति चतुर्दशभेदम्। जलगतस्थलगताकाशगतहरमेखलादिमायास्वरूपशाकिन्यादिरूपपरावर्त्तनभेदेन चूलिका पञ्चविधा चेति सङ्क्षेपेण द्वादशाङ्गव्याख्यानम्। अङ्गबाह्यं पुनः सामायिकं, चतुर्विंशतिस्तवं, वन्दना, प्रतिक्रमणं, वैनयिकं, कृतिकर्म, दशवैकालिकम् उत्तराध्ययनं, कल्पव्यवहारः, कल्पाकल्पं, महाकल्पं, पुण्डरीकं, महापुण्डरीकं, अशीतिकं चेति चतुर्दशप्रकीर्णकसंज्ञं बोद्धव्यमिति।

अब उस सम्यक् ज्ञानके भेद कहे जाते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन भेदोंसे वह सम्यग्ज्ञान पांच प्रकारका है। अथवा श्रुतज्ञानकी अपेक्षाको लेकर ज्ञानके भेद करते हैं तो द्वादशाङ्गरूप अंग और अंगबाह्य इन भेदोंसे दो प्रकारका है। उनमें द्वादश अंगोंके नाम कहते हैं। आचाराङ्ग १ सूत्रकृताङ्ग २ स्थानाङ्ग ३ समवायांग ४ व्याख्याप्रज्ञप्त्यंग ५ ज्ञातृकथांग ६ उपासकाध्ययनांग ७ अन्तकृद्दशांग ८ अनुत्तरोपपादिकदशांग ९ प्रश्नव्याकरणांग १० विपाकसूत्रांग ११ और दृष्टिवाद १२ ये द्वादश अंगोंके नाम हैं। अब दृष्टिवादनामक बारहवें अंगके परिकर्म १ सूत्र २ प्रथमानुयोग ३ पूर्वगत ४ तथा चूलिका ५ इन भेदोंसे जो पांच भेद हैं उनका वर्णन करते हैं। उनमें चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, सागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति इन भेदोंसे

प्रथम भेद जो परिकर्म है वह पांच प्रकारका है । सूत्र एकही प्रकारका है । प्रथमानुयोग भी एकही प्रकारका है । और जो चौथा पूर्वगत है वह उत्पादपूर्व १ अग्रायणीयपूर्व २ वीर्यानुप्रवादपूर्व ३ अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व ४ ज्ञानप्रवादपूर्व ५ सत्यप्रवादपूर्व ६ आत्मप्रवादपूर्व ७ कर्मप्रवादपूर्व ८ प्रत्याख्यानपूर्व ९ विद्यानुवादपूर्व १० कल्याणपूर्व ११ प्राणानुवादपूर्व १२ क्रियाविशालपूर्व १३ और लोकसारपूर्व १४ इन भेदोंसे चौदह प्रकारका है । जलगत चूलिका १ स्थलगत चूलिका २ आकाशगत चूलिका ३ हरमेखला आदिमायास्वरूप चूलिका ४ और शाकिन्यादिरूप परावर्त्तन चूलिका ५ इन भेदोंसे चूलिका पांच प्रकारकी है । इस प्रकार संक्षेपसे द्वादशांगका व्याख्यान है । और जो अंगवाह्य श्रुतज्ञान है वह सामायिक १ चतुर्विंशतिस्तव २ वंदना ३ प्रतिक्रमण ४ वैनयिक ५ कृतिकर्म ६ दशवैकालिक ७ अनुत्तराध्ययन ८ कल्पव्यवहार ९ कल्पाकल्प १० महाकल्प ११ पुंडरीक १२ महापुंडरीक १३ और अशीतिक १४ इन प्रकीर्णकरूप भेदोंसे चौदह प्रकारका जानना चाहिये ॥

अथवा वृषभादिचतुर्विंशतितीर्थङ्करभरतादिद्वादशचक्रवर्त्तिविजयादिनवबलदेवत्रिपिष्टादिनववासुदेवसुग्रीवादिनवप्रतिवासुदेवसम्बन्धित्रिषष्टिपुरुषपुराणभेदभिन्नः प्रथमानुयोगो भण्यते। उपासकाध्ययनादौ श्रावकधर्मम्, आचाराराधनादौ यतिधर्मं च यत्र मुख्यत्वेन कथयति स चरणानुयोगो भण्यते । त्रिलोकसारे जिनान्तरलोकविभागादिग्रन्थव्याख्यानं करणानुयोगो विज्ञेयः। प्राभृततत्त्वार्थसिद्धान्तादौ यत्र शुद्धाशुद्धजीवादिषड्द्रव्यादीनां मुख्यवृत्त्या व्याख्यानं क्रियते स द्रव्यानुयोगो भण्यते । इत्युक्तलक्षणानुयोगचतुष्टयरूपेण चतुर्विधं श्रुतज्ञानं ज्ञातव्यम् । अनुयोगोऽधिकारः परिच्छेदः प्रकरणमित्याद्येकोऽर्थः । अथवा षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु 'मध्ये' निश्चयनयेन स्वकीयशुद्धात्मद्रव्यं, स्वशुद्धजीवास्तिकायो, निजशुद्धात्मतत्त्वं, निजशुद्धात्मपदार्थ उपादेयः । शेषं च हेयमिति संक्षेपेण हेयोपादेयभेदेन द्विधा व्यवहारज्ञानमिति ॥

अथवा वृषभ आदि चौवीस तीर्थंकरोंका, भरत आदि बारह चक्रवर्तियोंका, विजय आदि नौ बलदेवोंका, त्रिपिष्ट आदि नौ नारायणोंका, और सुग्रीव आदि नौ प्रतिनारायणोंका संबंध रखनेवाले जो तिरसठ ६३ शलाकापुरुषोंके पुराण हैं उनरूप भेदोंका धारक जो है वह प्रथमानुयोग कहलाता है । उपासकाध्ययन आदिमें श्रावकका धर्म, और आचाराराधना आदि ग्रन्थोंमें मुनिका धर्म जहां मुख्यतासे कहागया है वह दूसरा चरणानुयोग कहा जाता है । त्रिलोकसार, जिनान्तर और लोकविभाग आदि ग्रन्थोंका व्याख्यान जिसमें हो उसको करणानुयोग जानना चाहिये । समयसार आदि प्राभृत (पाहुड़) और तत्त्वार्थसूत्र, तथा सिद्धान्तआदि शास्त्रोंमें मुख्यतासे शुद्ध-अशुद्ध जीव आदि छः द्रव्य आदिका जो वर्णन किया गया है वह द्रव्यानुयोग कहलाता है । इस प्रकार उक्त लक्षणके धारक जो चार अनुयोग हैं उनरूप चार प्रकारका श्रुतज्ञान जानने योग्य है । अनुयोग, अधिकार, परिच्छेद और प्रकरण इत्यादि शब्दोंका अर्थ एक ही है । अथवा षट् द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात

तत्त्व और नौ पदार्थ जो हैं उनमें निश्चयनयसे अपना शुद्ध आत्मद्रव्य, अपना शुद्ध जीव अस्तिकाय, निज शुद्ध आत्मतत्त्व तथा निजशुद्ध जो आत्मपदार्थ है वह तो केवल उपादेय है। और इसके सिवाय परके शुद्ध अशुद्ध जीवादि सभी हेय हैं। इस प्रकार संक्षेपसे हेय तथा उपादेय भेदोंसे व्यवहार ज्ञान जो है वह दो प्रकारका है ॥

इदानीं तेनैव विकल्परूपव्यवहारज्ञानेन साध्यं निश्चयज्ञानं कथ्यते। तथाहि–रागात् परकलत्रादिवाञ्छारूपं, द्वेषात् परवधबन्धच्छेदादिवाञ्छारूपं च मदीयापध्यानं कोऽपि न जानातीति मत्वा स्वशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसनिर्मलजलेन चित्तशुद्धिमकुर्वाणः सन्नयं जीवो बहिरङ्गबकवेषेण यल्लोकरञ्जनां करोति तन्मायाशल्यं भण्यते। निजनिरञ्जननिर्दोषपरमात्मैवोपादेय इति रुचिरूपसम्यक्त्वाद्विलक्षणं मिथ्याशल्यं भण्यते। निर्विकारपरमचैतन्यभावनोत्पन्नपरमाह्लादैकरूपसुखामृतरसास्वादमलभमानोऽयं जीवो दृष्टश्रुतानुभूतभोगेषु यन्नियतं निरन्तरं चित्तं ददाति तन्निदानशल्यमभिधीयते। इत्युक्तलक्षणशल्यत्रयविभावपरिणामप्रभृतिसमस्तशुभाशुभसङ्कल्पविकल्परहितेन परमस्वास्थ्यसंवित्तिसमुत्पन्नतात्त्विकपरमानन्दैकलक्षणसुखामृततृप्तेन स्वेनात्मना स्वस्य सम्यग्निर्विकल्परूपेण वेदनं परिज्ञानमनुभवनमिति निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानमेव निश्चयज्ञानं भण्यते ॥

अब जो विकल्परूप व्यवहारज्ञान है उसीसे साध्य (सिद्ध होने योग्य) जो निश्चयज्ञान है उसका कथन करते हैं। जैसे–रागके उदयसे परस्त्री आदिमें वांछारूप, और द्वेषसे अन्य जीवोंके मारणे, बांधने अथवा छेदने रूप जो मेरा दुर्ध्यान (बुरा परिणाम) है उसको कोई भी नहीं जानता है ऐसा मानकर निज शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न, निरन्तर आनंदरूप एक लक्षणका धारक जो सुखरूपी अमृतरस वही हुआ जो निर्मल जल उस निर्मल जलसे अपने चित्तकी शुद्धिको नहीं करता हुआ यह जीव बाहरमें बुगले जैसे वेषको धारणकर जो लोकोंको प्रसन्न करता है वह मायाशल्य कहलाता है। और अपना निरंजन दोषरहित जो परमात्मा है वही उपादेय है इस प्रकारकी रुचिरूप जो सम्यक्त्व है उससे विपरीत लक्षणका धारक जो कोई है उसको मिथ्याशल्य कहते हैं। और विकाररहित–परम चैतन्यकी भावनासे उत्पन्न–परम आनंदस्वरूप–सुखामृतके रसके स्वादको नही प्राप्त हुआ यह जीव जो देखेहुए, सुनेहुए तथा अनुभवमें लायेहुए भोगोंमें निरन्तर चित्तको देता है वह निदान शल्य कहलाता है। इस प्रकार उक्त लक्षणके धारक जो माया, मिथ्या और निदानरूप तीन शल्यस्वरूप विभाव परिणाम हैं इनको आदिलेके जो संपूर्ण शुभ तथा अशुभरूप संकल्प विकल्प हैं उनसे रहित और परम निजस्वभावके जाननेसे उत्पन्न जो यथार्थ परमानन्दरूप एक लक्षणस्वरूप सुखामृत उसके रसके आस्वादनसे तृप्तहुआ ऐसा जो अपना आत्मा है उसके द्वारा जो (स्व) निजस्वरूपका (सं) भलेप्रकार अर्थात् निर्विकल्परूपसे 'वेदन' जानना अर्थात् अनुभवमें करना है वही निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञान–निश्चयज्ञान कहा जाता है ॥

अत्राह शिष्यः । इत्युक्तप्रकारेण प्राभृतग्रन्थे यन्निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानं भण्यते, तन्न घटते । कस्मादितिचेत् तदुच्यते । सत्तावलोकरूपं चक्षुरादिदर्शनं यथा जैनमते निर्विकल्पं कथ्यते, तथा बौद्धमते ज्ञानं निर्विकल्पकं भण्यते । परं किन्तु तन्निर्विकल्पमपि विकल्पजनकं भवति । जैनमते तु विकल्पस्योत्पादकं भवत्येव न । किन्तु स्वरूपेणैव सविकल्पमिति । तथैव स्वपरप्रकाशकं चेति । तत्र परिहारः । कथंचित् सविकल्पकं निर्विकल्पकं च । तथाहि— यथा विषयानन्दरूपं स्वसम्वेदनं रागसम्वित्तिविकल्परूपेण सविकल्पमपि शेषानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते । तथा स्वशुद्धात्मसम्वित्तिरूपं वीतरागस्वसम्वेदनज्ञानमपि स्वसंवित्त्याकारैकविकल्पेन सविकल्पमपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते । यत एवेहापूर्वस्वसम्वित्त्याकारान्तर्मुखप्रतिभासेऽपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्माविकल्पा अपि सन्ति तत एव कारणात् स्वपरप्रकाशकं च सिद्धम् । इदं तु सविकल्पकनिर्विकल्पकस्य तथैव स्वपरप्रकाशकस्य ज्ञानस्य च व्याख्यानं यद्यागमाध्यात्मतर्कशास्त्रानुसारेण विशेषेण व्याख्यायते तदा महान् विस्तारो भवति । स चाध्यात्मशास्त्रत्वान्न कृत इति ।

यहांपर शिष्य कहता है कि इस कहे हुए प्रकारसे प्राभृत (पाहुड़) शास्त्रमें जो विकल्परहित स्वसंवेदन ज्ञान कहा गया है वह घटित नहीं होता । क्यों नहीं घटित होता ऐसा पूछो तो इसका उत्तर कहते हैं—जैनमतमें जैसे सत्तावलोकरूप अर्थात् सत्तामात्रको देखनेरूप जो चक्षुर्दर्शनआदि है उसको निर्विकल्प कहते हैं, उसी प्रकार बौद्धमतमें ज्ञानको निर्विकल्पक कहते हैं । परंतु विशेष यह है कि—यद्यपि बौद्धमतमें ज्ञान निर्विकल्प है; तथापि विकल्पको उत्पन्न करनेवाला होता है । और जैनमतमें तो ज्ञान विकल्पको उत्पन्न करनेवाला है ही नहीं; किन्तु स्वरूप (स्वभाव) से ही विकल्पसहित है । और इसी प्रकार निजका तथा परका प्रकाश करनेवाला है । अब इस शंकाको दूर करनेके लिये कहते हैं कि—जैनमतमें ज्ञानको कथंचित् सविकल्प और कथंचित् निर्विकल्प माना गया है । सो ही दिखाते हैं कि—जैसे विषयोंमें आनन्दरूप जो स्वसंवेदन है वह रागके जानने रूप विकल्पस्वरूप होनेसे सविकल्प है; तो भी बाकीके नहीं चाहेहुए जो सूक्ष्म विकल्प हैं उनका सद्भाव होनेपर भी उन विकल्पोंकी मुख्यता नहीं है; इस कारणसे उस ज्ञानको निर्विकल्प भी कहते हैं । इसी प्रकार निज शुद्ध आत्माके जाननेरूप जो वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान है वह निजसंवित्तिके आकाररूप एक विकल्पके होनेसे यद्यपि सविकल्प है, तथापि बाह्य विषयोंके नहीं चाहेहुए विकल्पोंका उस ज्ञानमें सद्भाव होनेपर भी उनकी उस ज्ञानमें मुख्यता नहीं है । इस कारणसे उस ज्ञानको निर्विकल्प भी कहते हैं । और जिस ही कारणसे यहां अपूर्व स्वसंवित्तिके आकाररूप अन्तरंगमें मुख्य प्रतिभासके होनेपरभी बाह्य विषयवाले नहीं चाहेहुए सूक्ष्म विकल्पभी हैं; उसही कारणसे ज्ञान निज तथा परको प्रकाश

करनेवाला भी सिद्ध हुआ। यदि इस सविकल्प निर्विकल्प तथा स्वपरप्रकाशक ज्ञानका व्याख्यान आगमशास्त्र अध्यात्मशास्त्र और तर्कशास्त्रके अनुसार विशेषरूपसे किया जावे तो बड़ा विस्तार होता है; और यह द्रव्यसंग्रह अध्यात्मशास्त्र है; इस कारण उस ज्ञानका विशेष वर्णन यहां नहीं किया गया है।

एवं रत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गावयविनो द्वितीयावयवभूतस्य ज्ञानस्य व्याख्यानेन गाथा गता ॥ ४२ ॥

इस प्रकार रत्नत्रयस्वरूप जो मोक्षमार्गरूप अवयवी है उसके दूसरे अवयवरूप ज्ञानके व्याख्यानद्वारा गाथा समाप्त हुई ॥ ४२ ॥

अथ निर्विकल्पसत्ताग्राहकं दर्शनं कथयति ॥

अब विकल्परहित होकर सत्ताको ग्रहण करनेवाला जो दर्शन है उसका कथन करते हैं।

गाथा। जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए ॥ ४३ ॥

गाथाभावार्थः—यह शुक्ल है, यह कृष्ण है इत्यादि रूपसे पदार्थोंको भिन्न २ न करके और विकल्पको न करके जो पदार्थोंका सामान्यसे अर्थात् सत्तावलोकनरूपसे ग्रहण करना है उसको परमागममें दर्शन कहा गया है ॥ ४३ ॥

व्याख्या। "जं सामण्णं गहणं भावाणं" यत् सामान्येन सत्तावलोकनेन ग्रहणं परिच्छेदनं भावानां पदार्थानां; किं कृत्वा "णेव कट्टुमायारं" नैव कृत्वा कं आकारं विकल्पं; तदपि किं कृत्वा? "अविसेसिदूण अट्ठे" अविशेष्याविभेद्यार्थान्; केन रूपेण? शुक्लोऽयं, कृष्णोऽयं, दीर्घोऽयं, ह्रस्वोऽयं, घटोऽयं, पटोऽयमित्यादि "दंसणमिदि भण्णए समए" तत्सत्तावलोकं दर्शनमिति भण्यते समये परमागमे।नेदमेव तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनं वक्तव्यम्।कस्मादितिचेत्—तत्र श्रद्धानं विकल्परूपमिदं तु निर्विकल्पं यतः। अयमत्रभावः—यदा कोऽपि किमप्यवलोकयति पश्यति; तदा यावत् विकल्पं न करोति तावत् सत्तामात्रग्रहणं दर्शनं भण्यते। पश्चाच्छुक्लादिविकल्पे जाते ज्ञानमिति ॥ ४३ ॥

व्याख्यार्थः—"जं सामण्णं गहणं भावाणं" जो सामान्यसे अर्थात् सत्तावलोकन (यह है इस प्रकार पदार्थकी विद्यमानता देखनेरूप) से पदार्थोंका जानना है। क्या करके। "णेव कट्टुमायारं" विकल्पको न करके, वह भी क्या करके। "अविसेसिदूण-अट्ठे" अर्थोंको विशेषित अर्थात् यह शुक्ल है, यह कृष्ण है, यह दीर्घ (बड़ा) है, यह छोटा है, यह घट है और यह पट है, इत्यादि रूपसे भिन्न २ न करके "दंसणमिदि भण्णए समए" वह परमागममें सत्तावलोकरूप दर्शन कहा जाता है। इसी दर्शनको 'तत्त्वार्थका जो श्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन है' इस सूत्रमें जो तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन

कहा गया है सो न कहना चाहिये। क्यों नहीं कहना चाहिये यह प्रश्न करो तो उत्तर यह है कि; श्रद्धान जो है वह तो विकल्परूप है और यह विकल्परहित है। भावार्थ—यहांपर यह है कि; जब कोईभी किसी पदार्थको देखता है तब जबतक वह देखनेवाला विकल्प न करै तबतक तो जो सत्तामात्रका ग्रहण है उसको दर्शन कहते हैं। और फिर जब यह शुक्ल है, यह कृष्ण है इत्यादि रूपसे विकल्प उत्पन्न होते हैं तब उसको ज्ञान कहते हैं॥ ४३॥

अथ छद्मस्थानां ज्ञानं सत्तावलोकनदर्शनपूर्वकं भवति, मुक्तात्मनां युगपदिति प्रतिपादयति॥

अब जो छद्मस्थ हैं उनके जो ज्ञान होता है वह तो सत्तावलोकनरूप दर्शन पहले हो लेता है तब होता है, और जो मुक्तजीव अर्थात् केवल ज्ञानी हैं उनके दर्शन और ज्ञान एकही समयमें होते हैं ऐसा प्रतिपादन करते हैं।

गाथा। दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा।
जुगवं जह्मा केवलि-णाहे जुगवं तु ते दोवि॥ ४४॥

गाथार्थः—छद्मस्थजीवोंके दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है। क्योंकि, छद्मस्थोंके ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक समयमें नहीं होते। तथा जो केवली भगवान् हैं उनके ज्ञान तथा दर्शन ये दोनोंही उपयोग एक समयमें होते हैं॥ ४४॥

व्याख्या। "दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं" सत्तावलोकनदर्शनपूर्वकं ज्ञानं भवति छद्मस्थानां संसारिणां। कस्मात् "ण दोण्णि उवउग्गा जुगवं जह्मा" ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयं युगपन्न भवति यस्मात्, "केवलिनाहे जुगवं तु ते दोऽवि" केवलिनाथे तु युगपत्तौ ज्ञानदर्शनोपयोगौ द्वौ भवत इति।

व्याख्यार्थः—"दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं" छद्मस्थ अर्थात् संसारी जीवोंके सत्तावलोकन दर्शन पहले हो लेता है तब ज्ञान होता है। क्योंकि; "ण दोण्णि उवउग्गा जुवगं जह्मा" छद्मस्थोंके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ये दोनों एक समयमें नहीं होते इस लिये "केवलिनाहे जुगवं तु ते दोवि" और केवली भगवानमें वे दोनों ज्ञान दर्शन उपयोग एकही समयमें होते हैं।

अथ विस्तरः। चक्षुरादीन्द्रियाणां स्वकीयस्वकीयक्षयोपशमानुसारेण तद्योग्यदेशस्थितरूपादिविषयाणां ग्रहणमेव सन्निपातः सम्बन्धः सन्निकर्षो भण्यते। न च नैयायिकमतवच्चक्षुरादीन्द्रियाणां स्वरूपादिस्वकीयस्वकीयविषयपार्श्वे गमन इति सन्निकर्षो वक्तव्यः। स एव सम्बन्धो लक्षणं यस्य तल्लक्षणं यन्निर्विकल्पं सत्तावलोकनदर्शनं तत्पूर्वं शुक्लमिदमित्याद्यवग्रहादिविकल्परूपमिन्द्रियानिन्द्रियजनितं मतिज्ञानं भवति। इत्युक्तलक्षणमतिज्ञानपूर्वकं तु धूमादग्निविज्ञानवदर्थादर्थान्तरग्रहणरूपं लिङ्गजं, तथैव घटादिशब्दश्रवणरूपं शब्दजं चेति द्वि-

विधं श्रुतज्ञानं भवति । अथावधिज्ञानं पुनरवधिदर्शनपूर्वकमिति । ईहामतिज्ञानपूर्वकं तु मनःपर्ययज्ञानं भवति ।

अब विस्तारसे वर्णन करते हैं । चक्षु आदि इन्द्रियोंके अपने अपने क्षयोपशमके अनुसार अपने योग्य देशमें विद्यमान जो निजरूप आदि विषय हैं उनका ग्रहण करना है उसीको सन्निपात, संवन्ध अथवा सन्निकर्ष कहते हैं । और नैयायिक मतके समान चक्षु आदि इन्द्रियोंका जो अपने अपने स्वरूप आदि विषयोंके पास जाना है; उसको सन्निकर्ष न कहना चाहिये । भावार्थ–नेत्र आदि इन्द्रियोंद्वारा जो रूप आदिका ग्रहण किया जाता है वही सन्निकर्ष है, और नैयायिकमतमें जो नेत्र आदि इन्द्रियोंका अपने रूप आदि विषयोंके पास गमन करते रूप सन्निकर्ष माना है वह नहीं । वह सम्बन्ध अथवा सन्निकर्ष ही है लक्षण जिसका; ऐसा जो निर्विकल्पक–सत्तावलोकन दर्शन उसके होनेके पीछे "यह शुक्ल (सफेद) है; इत्यादि अवग्रह आदि विकल्पोंरूप—पांचों इन्द्रियों तथा अनिन्द्रिय मनसे उत्पन्न मतिज्ञान होता है । और इस पूर्वोक्त लक्षणका धारक मतिज्ञान पहले हो लेता है तव धूम (धुआं) से जैसे अग्निका ज्ञान हो जाता है इसी प्रकार एक पदार्थसे दूसरे पदार्थको ग्रहण करनेरूप लिंगज (चिन्हसे उत्पन्न हुआ), तथा इसी प्रकार घट आदि शब्दोंके सुननेरूप शब्दज (शब्दसे उत्पन्न हुआ), ऐसे दो प्रकारका श्रुतज्ञान होता है । भावार्थ–श्रुतज्ञान दो प्रकारका है एक तो लिंगज और दूसरा शब्दज; उनमें एक पदार्थको जानकर उसके जरियेसे जो दूसरे पदार्थका जान लेना है वह तो लिंगज श्रुतज्ञान है और शब्दोंके सुननेसे जो ज्ञान होता है वह शब्दज श्रुतज्ञान है । और अवधि दर्शन पहले हो लेता है तव अवधिज्ञान होता है । और जो मनःपर्ययज्ञान है वह ईहानामक मतिज्ञानपूर्वक होता है ।

अत्र श्रुतज्ञानमनःपर्ययज्ञानजनकं यदवग्रहेहादिरूपं मतिज्ञानं भणितम्, तदपि दर्शनपूर्वकत्वादुपचारेण दर्शनं भण्यते, यतस्तेन कारणेन श्रुतज्ञानमनःपर्ययज्ञानद्वयमपि दर्शनपूर्वकं ज्ञातव्यमिति । एवं छद्मस्थानां सावरणक्षयोपशमिकज्ञानसहितत्वात् दर्शनपूर्वकं ज्ञानं भवति । केवलिनां तु भगवतां निर्विकारस्वसम्वेदनसमुत्पन्ननिरावरणक्षायिकज्ञानसहितत्वान्निर्मेघादित्ये युगपदातपप्रकाशवद्दर्शनं ज्ञानं च युगपदेवेति विज्ञेयम् । छद्मस्था इति कोऽर्थः ? छद्मशब्देन ज्ञानदर्शनावरणद्वयं भण्यते, तत्र तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः । एवं तर्काभिप्रायेण सत्तावलोकनदर्शनं व्याख्यातम् ।

यहांपर श्रुतज्ञानको उत्पन्न करनेवाला अवग्रह, और मनःपर्ययज्ञानको उत्पन्न करनेवाला ईहा, आदिरूप जो मतिज्ञान कहा है अर्थात् श्रुतज्ञानको उत्पन्न करनेवाला अवग्रहरूप मतिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानको उत्पन्न करनेवाला ईहारूप मतिज्ञान कहा गया है; वह मतिज्ञान भी दर्शन पहले हो लेता है तभी होता है। इस लिये मतिज्ञान भी उपचारसे दर्शन कहलाता है । इस कारण श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन दोनोंको भी दर्शनपूर्वक जानना

चाहिये। इस पूर्वोक्त प्रकारसे छद्मस्थ जीव आवरणसहित क्षयोपशमिक ज्ञानसहित हैं इस कारण छद्मस्थोंके दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है। और केवली भगवान् विकाररहित और अपने संवेदन (जानने)से उत्पन्न ऐसा जो क्षायिक ज्ञान है उससे सहित हैं; इस लिये केवली भगवानोंके जैसे बद्दलके आवरणसहित सूर्यके एकही समयमें आतप और प्रकाश होते हैं; उसी प्रकार दर्शन और ज्ञान ये दोनों एकही समयमें होते हैं ऐसा जानना चाहिये। प्रश्न—छद्मस्थ ऐसा जो गाथामें कहा गया है इसका क्या अर्थ है? उत्तर—छद्म इस शब्दसे ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण ये दोनों कहे जाते हैं, उस छद्ममें जो रहैं वे छद्मस्थ हैं। इस प्रकार तर्क (न्याय)के अभिप्रायसे सत्तावलोकन दर्शनका व्याख्यान किया गया।

अत ऊर्ध्वं सिद्धान्ताभिप्रायेण कथ्यते। तथाहि—उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं यत् प्रयत्नं तद्रूपं यत् स्वस्यात्मनः परिच्छेदनमवलोकनं तद्दर्शनं भण्यते। तदनन्तरं यद्बहिर्विषये विकल्परूपेण पदार्थग्रहणं तज्ज्ञानमिति वार्त्तिकम्। यथा कोऽपि पुरुषो घटविषयविकल्पं कुर्वन्नास्ते, पश्चात् पटपरिज्ञानार्थं चित्ते जाते सति घटविकल्पाद्व्यावर्त्त्य यत् स्वरूपे प्रयत्नमवलोकनं परिच्छेदनं करोति तद्दर्शनमिति। तदनन्तरं पटोऽयमिति निश्चयं यद्बहिर्विषयरूपेण पदार्थग्रहणविकल्पं करोति तद्ज्ञानं भण्यते।

अब इसके आगे सिद्धान्तके अभिप्रायसे कहते हैं। सो ही दिखाते हैं, आगेके कालमें होनेवाला जो ज्ञान है उसकी उत्पत्तिका निमित्त जो प्रयत्न उस स्वरूप जो निज आत्माका परिच्छेदन अर्थात् अवलोकन (देखना) वह दर्शन कहलाता है, और उसके पीछे जो बाह्य विषयमें विकल्परूपसे पदार्थका ग्रहण है वह ज्ञान है; यह वार्त्तिक है। जैसे कोई पुरुष पहले घटके विषयका विकल्प करता हुआ बैठा है फिर उसी पुरुषका चित्त जब पटके जाननेके लिये होता है, तब वह पुरुष घटके विकल्पसे हठकर जो स्वरूपमें प्रयत्न अर्थात् अवलोकन (परिच्छेदन) करता है; उसको दर्शन कहते है। उसके अनंतर यह पट है; इस प्रकारसे निश्चयरूप जो बाह्य विषयरूपसे पदार्थके ग्रहणस्वरूप विकल्पको करता है वह विकल्प; ज्ञान कहलाता है।

अत्राह शिष्यः—यद्यात्मग्राहकं दर्शनं, परग्राहकं ज्ञानं भण्यते; तर्हि यथा नैयायिकमते ज्ञानमात्मानं न जानाति; तथा जैनमतेऽपि ज्ञानमात्मानं न जानातीति दूषणं प्राप्नोति। अत्र परिहारः। नैयायिकमते ज्ञानं पृथग्दर्शनं पृथगिति गुणद्वयं नास्ति; तेन कारणेन तेषामात्मपरिज्ञानाभावदूषणं प्राप्नोति। जैनमते पुनर्ज्ञानगुणेन परद्रव्यं जानाति, दर्शनगुणेनात्मानं च जानातीत्यात्मपरिज्ञानाभावदूषणं न प्राप्नोति। कस्मादिति चेत् यथैकोऽप्यग्निर्दहतीति दाहकः, पचतीति पाचको, विषयभेदेन द्विधा भिद्यते। तथैवाभेदनयेनैकमपि चैतन्यं भेदनयविवक्षायां यदात्मग्राहकत्वेन प्रवृत्तं तदा तस्य दर्शनमिति संज्ञा, पश्चात् यच्च परद्रव्यग्राहकत्वेन प्रवृत्तं तस्य ज्ञानसंज्ञेति विषयभेदेन द्विधा भिद्यते। किं च यदि सामान्यग्राहकं दर्शनं विशेषग्राहकं ज्ञानं भण्यते, तदा ज्ञानस्य प्रमाणत्वं

न प्राप्नोति। कस्मादिति चेत् वस्तुग्राहकं प्रमाणं; वस्तु च सामान्यविशेषात्मकं; ज्ञानेन पुनर्वस्त्वेकदेशो विशेष एव गृहीतो; न च वस्तु। सिद्धान्तेन पुनर्निश्चयेन गुणगुणिनोरभिन्नत्वात् संशयविमोहविभ्रमरहितवस्तुज्ञानस्वरूपात्मैव प्रमाणम्। स च प्रदीपवत् स्वपरगतं सामान्यं विशेषं च जानाति। तेन कारणेनाभेदेन तस्यैव प्रमाणत्वमिति।

यहांपर शिष्य कहता है कि हे गुरो? यदि आप आत्मा (अपने)को ग्रहण करनेवाला जो है उसको दर्शन, और जो पर पदार्थको ग्रहण करनेवाला है उसको ज्ञान कहते हैं तो नैयायिकोंके मतमें जैसे ज्ञान आत्माको नहीं जानता है; वैसेही जैन मतमेंभी ज्ञान आत्माको नहीं जानता है; ऐसा दूषण प्राप्त होता है। अब इस शिष्यकी शंकाको आचार्य दूर करते हैं कि नैयायिकमतमें ज्ञान जुदा और दर्शन जुदा इस प्रकारसे दो गुण नहीं हैं अर्थात् ज्ञान और दर्शन ये दो जुदे २ गुण नहीं हैं। इस कारण उन नैयायिकोंके आत्माको जाननेके अभावरूप दूषण प्राप्त होता है अर्थात् आत्माका ज्ञान न होनेरूप दोष होता है, और जैनमतमें आत्मा ज्ञान गुणसे तो पर पदार्थको जानता है तथा दर्शन गुणसे आत्माको जानता है इस कारण जैनमतमें आत्माके जाननेका अभावरूप जो दूषण है वह प्राप्त नहीं होता अर्थात् जैनमतमें आत्माका जानना सिद्ध ही है। यह दूषण क्यों नहीं होता है यह पूछो तो उत्तर यह है कि; जैसे एक भी अग्नि दहन गुणसे जलाता है इस हेतुसे दाहक कहलाता है, और पाचनरूप गुणसे पकाता है इस कारण पाचक कहलाता है। इस प्रकार विषयके भेदसे दाहक–पाचक रूप दो प्रकार भेदको प्राप्त होता है अर्थात् एकही अग्नि दाहक और पाचकभेदसे दो प्रकारका है। उसी प्रकार अभेदनयसे एकभी चैतन्य भेदनयकी विवक्षामें जब आत्माको ग्रहण करनेवाले रूपसे प्रवृत्त हुआ तब तो उसका 'दर्शन' यह नाम हुआ और फिर जब पर पदार्थको ग्रहण करनेरूप प्रवृत्त हुआ तब उस चैतन्यका 'ज्ञान' यह नाम हुआ इस प्रकार विषयके भेदसे चैतन्य दो प्रकारसे भेदको प्राप्त होता है अर्थात् एकही चैतन्य दर्शन और ज्ञानरूप भेदसे दो प्रकारका होता है। और विशेष वार्त्ता यह है कि, यदि सामान्यके ग्रहण करनेवालेको दर्शन और विशेषके ग्रहण करनेवालेको ज्ञान कहा जावे तो ज्ञानके प्रमाणताकी प्राप्ति नहीं होती है। ज्ञानके प्रमाणत्व क्यों नही होता यह शंका करो तो समाधान यह है कि, जो वस्तुको ग्रहण करनेवाला है उसको प्रमाण कहते हैं। और वस्तु सामान्य तथा विशेष इन दोनों स्वरूप है, और ज्ञानने वस्तुका एक देश जो विशेष है वह ही ग्रहण किया न कि संपूर्ण वस्तु और सिद्धान्तसे निश्चयनयकी विवक्षामें गुण और गुणीके भेद नहीं है; इस कारण संशय, विमोह (अनध्यवसाय) और विभ्रम (विपर्यय) इन तीनोंसे रहित जो वस्तुका ज्ञान है उस ज्ञान स्वरूप आत्माही प्रमाण है। क्योंकि, ज्ञान आत्माका गुण है और आत्मा ज्ञान गुणको धारण करता है इसलिये गुणी है, गुण और गुणीके निश्चयसे अभेद है। और वह प्रमाण जैसे प्र-

दीप अपने और परका प्रकाशक है, उसी प्रकार अपनेमें प्राप्त सामान्यको और पर पदार्थमें प्राप्त विशेषको जानता है। इस कारण अभेदसे आत्माके ही प्रमाणत्व है।

अथ मतं—यदि दर्शनं बहिर्विषये न प्रवर्त्तते तदान्धवत् सर्वजनानामन्धत्वं प्राप्नोतीति। नैवं वक्तव्यम्। बहिर्विषये दर्शनाभावेऽपि ज्ञानेन विशेषेण सर्वं परिच्छिनत्तीति। अयं तु विशेषः दर्शनेनात्मनि गृहीते सत्यात्माविनाभूतं ज्ञानमपि गृहीतं भवति; ज्ञाने च गृहीते सति ज्ञानविषयभूतं बहिर्वस्त्वपि गृहीतं भवतीति। अथोक्तं भवता यद्यात्मग्राहकं दर्शनं भण्यते, तर्हि जं सामण्णं गहणं भावाणं तद्दर्शनमिति गाथार्थः कथं घटते। तत्रोत्तरं सामान्यग्रहणमात्मग्रहणं तद्दर्शनं। कस्मादिति चेत्-आत्मा वस्तुपरिच्छित्तिं कुर्वन्निदं जानामीदं न जानामीति विशेषपक्षपातं न करोति; किन्तु सामान्येन वस्तु परिच्छिनत्ति। तेन कारणेन सामान्यशब्देनात्मा भण्यत इति गाथार्थः।

अब ऐसा कहो कि, यदि दर्शन बाह्य विषयमें नहीं प्रवर्त्तता है तो अंधेकी तरह सब मनुष्योंके अंधेपनेकी प्राप्ति होती है। तो समाधान यह है कि, ऐसा न कहना चाहिये। क्यों कि, यद्यपि बाह्य विषयमें दर्शनका अभाव है; तथापि आत्मा ज्ञानद्वारा विशेष रूपसे सब पदार्थोंको जानता है। और अधिक वार्त्ता यह है कि जब दर्शनसे आत्माका ग्रहण होता है तब आत्मामें व्याप्त जो ज्ञान है वह भी दर्शन करके ग्रहण किया जाता है; और जब दर्शनने ज्ञानको ग्रहण किया तो ज्ञानका विषयभूत जो बाह्य वस्तु है उसकाभी ग्रहण किया। अब कदाचित् यह कहो कि, जो आप आत्माको ग्रहण करनेवालेको दर्शन कहते हो तो "जो पदार्थोंका सामान्य ग्रहण है वह दर्शन कहलाता है" यह जो गाथाका अर्थ है वह आपके कथनमें कैसे घटता है। तो इसमें यह उत्तर है कि, वहांपर सामान्य ग्रहण इस शब्दका आत्माका ग्रहण करनेरूप अर्थ है और वह आत्मग्रहणही दर्शन है। ऐसा अर्थ क्यों है ? यह पूछोतो उत्तर यह है कि, वस्तुका ज्ञान करता हुआ जो आत्मा है वह 'मैं इसको जानता हूं, इसको नहीं जानता हूं, इस प्रकारसे जो विशेष पक्षपात है उसको नहीं करता है; किंतु सामान्यरूपसे वस्तु (पदार्थ)को जानता है। इस कारण सामान्य इस शब्दसे आत्मा कहा जाता है। यह गाथाका अर्थ है।

किंबहुना यदि कोऽपि तर्कार्थे सिद्धान्तार्थे च ज्ञात्वैकान्तदुराग्रहत्यागेन नयविभागेन मध्यस्थवृत्त्या व्याख्यानं करोति, तदा द्वयमपि घटत इति। कथमिति चेत्—तर्के मुख्यवृत्त्या परसमयव्याख्यानं, तत्र यदा कोऽपि परसमयी पृच्छति जैनागमे दर्शनं ज्ञानं चेति गुणद्वयं जीवस्य कथ्यते तत्कथं घटत इति। तदा तेषामात्मग्राहकं दर्शनमिति कथिते सति ते न जानन्ति। पश्चादाचार्यैस्तेषां प्रतीत्यर्थं स्थूलव्याख्यानेन बहिर्विषये यत् सामान्यपरिच्छेदनं तस्य सत्तावलोकनदर्शनसंज्ञा स्थापिता, यच्च शुक्लमिदमित्यादिविशेषपरिच्छेदनं तस्य ज्ञानसंज्ञा स्थापितेति दोषो नास्ति। सिद्धान्ते पुनः स्वसमयव्याख्यानं मुख्यवृत्त्या। तत्र सूक्ष्मव्याख्याने क्रियमाणे सत्याचार्यैरात्मग्राहकं दर्शनं व्याख्यातमित्यत्रापि दोषो नास्ति।

बहुत कहनेसे क्या? यदि कोई भी तर्क (न्याय) के और सिद्धान्तके अर्थको जानकर एकान्तरूप जो दुराग्रह (बुरा हठ) है उसका त्याग करके, नयोंके विभागसे मध्यस्थता धारण करके, व्याख्यान करता है तब तो सामान्य और विशेष ये दोनों ही सिद्ध होते हैं। कैसे सिद्ध होते हैं? ऐसा पूछो तो उत्तर यह है कि, तर्क (न्याय) में मुख्यतासे परसमय अर्थात् अन्यमतका व्याख्यान है। इस लिये उसमें यदि कोई अन्यमतावलम्बी पूछे कि, जैनमतमें जीवके दर्शन और ज्ञान ये जो दो गुण कहे जाते हैं वे कैसे सिद्ध होते हैं? तब इसके उत्तरमें यदि उन अन्यमतियोंको यह कहैं कि; जो आत्माको ग्रहण करनेवाला है उसको दर्शन कहते हैं; तो ऐसा कहनेपर वे अन्यमती नहीं समझते हैं। तब आचार्योंने उनके प्रतीति होनेके लिये विस्ताररूप व्याख्यानसे जो बाह्यविषयमें सामान्य जानना है उसकी तो 'दर्शन' ऐसी संज्ञा (नाम) स्थापित की, और जो 'यह शुक्ल (सफेद) है' इत्यादि रूपसे बाह्यमें विशेषका जानना है; उसकी 'ज्ञान' यह संज्ञा ठहराई, इस लिये दोष नहीं है। और सिद्धान्तमें मुख्यतासे निजसमय (जैनमत)का व्याख्यान है इसलिये सिद्धान्तमें जब सूक्ष्म व्याख्यान किया गया तब आचार्योंने जो आत्माका ग्राहक है उसको दर्शन कहा। इस कारण इस कथनमें भी दोष नहीं है।

अत्राह शिष्यः—सत्तावलोकनदर्शनस्य ज्ञानेन सह भेदो ज्ञातस्तावदिदानीं यत्तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं वस्तुविचाररूपं सम्यग्ज्ञानं तयोर्विशेषो न ज्ञायते। कस्मादितिचेत्—सम्यग्दर्शने पदार्थनिश्चयोऽस्ति, तथैव सम्यग्ज्ञाने च को विशेष इति। अत्र परिहारः। अर्थग्रहणपरिच्छित्तिरूपः क्षयोपशमविशेषो ज्ञानं भण्यते, तत्रैव भेदनयेन वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धात्मादितत्त्वेष्विदमेवेत्थमेवेति निश्चयसम्यक्त्वमिति। अविकल्परूपेणाभेदनयेन पुनर्यदेव सम्यग्ज्ञानं तदेव सम्यक्त्वमिति। कस्मादिति चेत्—अतत्त्वे तत्त्वबुद्धिरदेवे देवबुद्धिरधर्मे धर्मबुद्धिरित्यादिविपरीताभिनिवेशरहितस्य ज्ञानस्यैव सम्यग्विशेषणवाच्योऽवस्थाविशेषः सम्यक्त्वं भण्यते यतः कारणात्।

अब यहां शिष्य कहता है कि हे गुरो? सत्ताका अवलोकन करनेवाला जो दर्शन है उसका तो ज्ञानके साथ भेद जाना। अब "जो तत्त्वार्थका श्रद्धानकरनेरूप सम्यग्दर्शन और पदार्थका विचारकरने स्वरूप सम्यग्ज्ञान है" इन दोनोंमें भेद नहीं जाना जाता। क्यों नहीं जाना जाता? यह पूछैं तो उत्तर यह है कि, जो पदार्थका निश्चय सम्यग्दर्शनमें है वही सम्यग्ज्ञान में है। इस लिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें क्या भेद है अर्थात् कुछ भी नहीं। अब इस शिष्यकी शंकाका आचार्य समाधान करते हैं कि, पदार्थके ग्रहण करनेमें जाननेरूप जो क्षयोपशम विशेष है, वह ज्ञान कहलाता है। और उस ज्ञानमें ही भेदनयसे जो वीतराग सर्वज्ञ श्रीजिनेन्द्रद्वारा कहेहुए शुद्ध आत्मा आदि तत्त्व हैं उनमें यह ही तत्त्व है, ऐसा ही तत्त्व है, इस प्रकारका जो निश्चय है वह सम्यक्त्व है। और अभेदनयसे अर्थात् अभेदरूपसे तो जो ही सम्यग्ज्ञान है वही सम्यग्दर्शन

है। ऐसा किस कारणसे है? यह पूछो तो उत्तर यह है कि, तत्त्व नहीं है उसमें तत्त्वकी बुद्धि करना, देव नहीं है उसमें देवकी बुद्धि करना और अधर्ममें धर्मकी बुद्धि करना इत्यादि रूपसे जो विपरीत अभिनिवेश (उलटा आग्रह) है; उस विपरीताभिनिवेशसे रहित जो ज्ञान है; उसीका जो सम्यग् इस विशेषणसे कहे जानेवाला अवस्थाविशेष है वह सम्यक्त्व कहलाता है। यही इस अर्थके करनेमें हेतु है।

यदि भेदो नास्ति तर्हि कथमावरणद्वयमिति चेत्–तत्रोत्तरम्। येन कर्मणार्थपरिच्छित्तिरूपः क्षयोपशमः प्रच्छाद्यते तस्य ज्ञानावरणसंज्ञा, तस्यैव क्षयोपशमविशेषस्य यत् कर्म पूर्वोक्तलक्षणं विपरीताभिनिवेशमुत्पादयति तस्य मिथ्यात्वसंज्ञेति भेदनयेनावरणभेदः। निश्चयनयेन पुनरभेदविवक्षायां कर्मत्वं प्रत्यावरणद्वयमप्येकमेव विज्ञातव्यम्। एवं दर्शनपूर्वकं ज्ञानं भवतीति व्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥ ४४ ॥

जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें भेद नहीं है तो आठ कर्मोंमें दर्शनावरण, और ज्ञानावरण ये दो आवरण कैसे कहे गये हैं यह शंका करो तो? यहां समाधानरूप उत्तर यह है कि, जिस कर्मसे पदार्थके जाननेरूप क्षयोपशम ढका जाता है; उसकी तो 'ज्ञानावरण' यह संज्ञा है। और उस ज्ञानावरणके क्षयोपशमविशेषके जो कर्म पहले कहे हुये लक्षणवाले विपरीत अभिनिवेशको उत्पन्न करता है; उसकी मिथ्यात्व यह संज्ञा है। इस कारण भेदनयसे आवरणका भेद है। और अभेदकी विवक्षामें कर्मत्वके प्रति जो दो आवरण हैं उन दोनोंको एकही जानना चाहिये। इस प्रकार दर्शन पहले हो लेता है तब ज्ञान होता है; ऐसे व्याख्यान करनेवाली जो गाथा है वह समाप्त हुई ॥ ४४ ॥

अथ सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वकं रत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गतृतीयावयवभूतं स्वशुद्धात्मानुभूतिरूपशुद्धोपयोगलक्षणवीतरागचारित्रस्य पारम्पर्येण साधकं सरागचारित्रं प्रतिपादयति।

अब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके पीछे होनेवाला रत्नत्रयस्वरूप जो मोक्षमार्ग है; उसका तीसरा अवयवरूप और निजशुद्ध आत्माके अनुभवस्वरूप जो शुद्धोपयोगरूप लक्षणका धारक–वीतरागचारित्र है, उसको परंपरासे साधनेवाला जो सरागचारित्र है; उसका प्रतिपादन करते हैं।

गाथा। असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियम् ॥ ४५ ॥

गाथाभावार्थः—जो अशुभ (बुरे) कार्यसे दूर होना और शुभ कार्यमें प्रवृत्त होना अर्थात् लगना है उसको चारित्र जानना चाहिये। श्रीजिनेन्द्रदेवने व्यवहारनयसे उस चारित्रको ५ व्रत ५ समिति और ३ गुप्तिस्वरूप कहा है ॥ ४५ ॥

व्याख्या। अस्यैव सरागचारित्रस्यैकदेशावयवभूतं देशचारित्रं तावत्कथ्यते। तद्यथा—

मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षये सति, अध्यात्मभाषया निजशुद्धात्माभिमुखपरिणामे वा सति शुद्धात्मभावनोत्पन्ननिर्विकारवास्तवसुखामृतमुपादेयं कृत्वा संसारशरीरभोगेषु योऽसौ हेयबुद्धिः सम्यग्दर्शनशुद्धः स चतुर्थगुणस्थानवर्त्ती व्रतरहितो दर्शनिको भण्यते। यश्च प्रत्याख्यानावरणसंज्ञिद्वितीयकषायक्षयोपशमे जाते सति पृथिव्यादिपञ्चस्थावरवधे प्रवृत्तोऽपि यथाशक्त्या त्रसवधे निवृत्तः स पञ्चमगुणस्थानवर्त्ती श्रावको भण्यते।

व्याख्यार्थः—अब प्रथम ही इसी सरागचारित्रका अवयवरूप जो देशचारित्र है उसका कथन करते हैं। वह इस प्रकार है–मिथ्यात्व आदि सात ७ प्रकृतियोंका उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय होनेपर अथवा अध्यात्मभाषाके अनुसार निज शुद्धआत्माके सन्मुख परिणाम होनेपर जो जीव शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न–विकाररहित–यथार्थ सुखरूपी अमृतको ग्रहण करने योग्य करके, संसार शरीर और भोगोंमें हेयबुद्धि है अर्थात् संसार, शरीर और भोग ये सब त्यागने योग्य हैं ऐसा समझता है, और सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है; उसको चतुर्थ गुणस्थानमें रहनेवाला व्रतरहित दर्शनिक कहते हैं। और जो प्रत्याख्यानावरण नामक दूसरे क्रोधादिकषायोंका क्षयोपशम होनेपर पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति इन पांच स्थावरोंके वधमें प्रवृत्त हो तो भी अपनी शक्तिके अनुसार त्रसजीवोंके वधसे रहित होता है अर्थात् यथाशक्ति बेइन्द्रिय आदि त्रसजीवोंकी हिंसा नहीं करता है उसको पंचम गुणस्थानवर्त्ती श्रावक कहते हैं।

तस्यैकादशभेदाः कथ्यन्ते। तथाहि—सम्यक्त्वपूर्वकत्वेन मद्यमांसमधुत्यागोदुम्बरपञ्चकपरिहाररूपाष्टमूलगुणसहितः सन् सङ्ग्रामादिप्रवृत्तोऽपि पापर्द्ध्यादिभिर्निष्प्रयोजनजीवघातादौ निवृत्तः प्रथमो दर्शनिकश्रावको भण्यते। स एव सर्वथा त्रसवधे निवृत्तः सन् पञ्चाणुव्रतगुणव्रतत्रयशिक्षाव्रतचतुष्टयसहितो द्वितीयव्रतिकसंज्ञो भवति। स एव त्रिकालसामायिके प्रवृत्तः तृतीयः, प्रोषधोपवासे प्रवृत्तश्चतुर्थः, सचित्तपरिहारेण पञ्चमः, दिवा ब्रह्मचर्येण षष्ठः, सर्वथा ब्रह्मचर्येण सप्तमः, आरम्भादिसमस्तव्यापारनिवृत्तोऽष्टमः, वस्त्रप्रावरणं विहायान्यसर्वपरिग्रहनिवृत्तो नवमः, गृहव्यापारादिसर्वसावद्यानुमतनिवृत्तो दशमः, उद्दिष्टाहारनिवृत्त एकादशम इति। एतेष्वेकादशश्रावकेषु मध्ये प्रथमषट्कं तारतम्येन जघन्यम्, ततश्च त्रयं मध्यमम्, ततो द्वयमुत्तममिति सङ्क्षेपेण दर्शनिकश्रावकाद्येकादशभेदाः ज्ञातव्याः॥

अब उस पंचम गुणस्थानवर्त्ती श्रावकके ग्यारह ११ भेदोंको कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—पहले सम्यग्दर्शनको धारण करके मद्य (मदिरा), मांस और सहत इन तीनोंके और उदुम्बर आदि पांच फलोंके त्यागरूप जो आठ मूलगुण हैं उनसहित हुआ जो जीव युद्ध आदिमें प्रवृत्त होनेपर भी शिकार आदिसे प्रयोजनके विना जीवघात नहीं करता है उसको पहला दर्शनिक श्रावक कहते हैं। और वही प्रथम दर्शनिक श्रावक जब त्रसजीवकी हिंसासे सर्वथा रहित होकर पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंसे सहित होता है तब दूसरा व्रतिक (व्रती) इस नामका धारक होता है। वही–जब त्रिकाल सामायिकमें प्रवृत्त होता है तब तीसरी प्रतिमाका धारी होता है। प्रोषध उपवासमें प्रवृत्त होता

है तव चौथी प्रतिमाका धारी होता है। सचित्तके त्यागसे पांचवीं प्रतिमाका धारक होता है। दिनमें ब्रह्मचर्य धारण करनेसे छट्ठी प्रतिमावाला कहलाता है। सर्वथा ब्रह्मचर्यको धारण करनेसे सप्तम प्रतिमाका धारी होता है। आरंभ आदि संपूर्ण व्यापारोंसे रहित होता है तव अष्टम प्रतिमाका धारी कहा जाता है। वस्त्रके आच्छादनको छोड़कर अन्य सब परिग्रहोंसे रहित होता है तव नवमी प्रतिमाका धारक होता है। ग्रहसंबंधी व्यापार आदि संपूर्ण सावद्य (हिंसासहित) कार्योंमें जव संमति (सलाह) देनेसे रहित होता है तव दशमी प्रतिमाका धारी कहलाता है। अपने निमित्त कियेहुए आहारका त्याग करनेवाला ग्यारहवीं प्रतिमाका धारी श्रावक कहा जाता है। इन प्रतिमाभेदसे ग्यारह प्रकारके श्रावकोंके वीचमें जो पहली छः प्रतिमायें हैं उनमें रहनेवाले तारतम्य (हीनाधिकता) से जघन्य श्रावक हैं; उनके आगे सातवीं आठवीं और नवीं इन तीन प्रतिमाके धारक मध्यम श्रावक हैं, इनके पश्चात् दसवीं और ग्यारहवीं इन दो प्रतिमाओंके धारक उत्तम श्रावक हैं। इस प्रकार संक्षेपसे देशचारित्रके दर्शनिक आदि ग्यारह भेद जानने चाहियें।

अथैकदेशचारित्रव्याख्यानानन्तरं सकलचारित्रमुपदिशति। "असुहादो विणिवित्ति सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं" अशुभान्निवृत्तिः शुभे प्रवृत्तिश्चापि जानीहि चारित्रम्। तच्च कथम्भूतं—"वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियं" व्रतसमितिगुप्तिरूपं व्यवहारनयाज्जिनैरुक्तमिति। तथाहि—प्रत्याख्यानावरणसंज्ञतृतीयकषायक्षयोपशमे सति "विसयकसाओगाढोदुस्सुदिदुचित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो। उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहे। १।" इति गाथाकथितलक्षणादशुभोपयोगान्निवृत्तिस्तद्विलक्षणे शुभोपयोगे प्रवृत्तिश्च हे शिष्य चारित्रं जानीहि। तच्चाचाराराधनादिचरणशास्त्रोक्तप्रकारेण पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितित्रिगुप्तिरूपमप्यपहृतसंयमाख्यं शुभोपयोगलक्षणं सरागचारित्राभिधानं भवति। तत्र योऽसौ बहिर्विषये पञ्चेन्द्रियविषयादिपरित्यागः स उपचरितासद्भूतव्यवहारेण, यश्चाभ्यन्तरे रागादिपरिहारः स पुनरशुद्धनिश्चयेनेति नयविभागो ज्ञातव्यः। एवं निश्चयचारित्रसाधकं व्यवहारचारित्रं व्याख्यातमिति ॥ ४५ ॥

अव इस एकदेशचारित्रके व्याख्यानके पश्चात् सकलचारित्रका उपदेश करते हैं। "असुहादो विणिवित्ति सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं" हे शिष्य! अशुभसे निवृत्ति (रहितता) और शुभमें जो प्रवृत्ति है उसको चारित्र जानो। वह कैसा है "वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियं" व्रत समिति और गुप्ति स्वरूप है; ऐसा व्यवहारनयसे श्रीजिनेन्द्रने कहा है। सो ही दिखाते हैं—प्रत्याख्यानावरण नामक तीसरे कषायका क्षयोपशम होनेपर "जिसका–विषयों और कषायोंमें गाढा, दुःश्रुति (वुरा शास्त्रश्रवण) दुष्टचित्त और दुष्ट गोष्ठी (वुरी संगति) इनसे सहित, उग्र तथा उन्मार्ग (वुरे मार्ग) में तत्पर ऐसा उपयोग है वह जीव अशुभमें स्थित है। १।" इस गाथामें कहेहुए लक्षणके धारक अशुभोपयोगसे रहितपना और उक्त अशुभोपयोगसे विलक्षण (उलटा) जो शुभो-

पयोग है उसमें प्रवृत्त होना जो है उसको हे शिष्य! तुम चारित्र जानो। और वह चारित्र मूलाचार, भगवती आराधना आदि चरणानुयोगके शास्त्रोंमें कहेहुए प्रकारसे पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्तिरूप है तो भी अपहृतसंयमनामक शुभोपयोगलक्षणका धारक, सरागचारित्र नामक चारित्र होताहै। उसमें जो वाह्यविषयोंमें पांचों इन्द्रियोंके विषय वगैरहका त्याग है वह तो उपचरित–असद्भूत–व्यवहारनयसे चारित्र है; और जो अन्तरंगमें राग आदिका त्याग है वह अशुद्ध निश्चयनयसे चारित्र है; इस प्रकार नयोंका विभाग जानना चाहिये। ऐसे निश्चयचारित्रको साधनेवाला जो व्यवहारचारित्र है उसका व्याख्यान किया गया ॥ ४५ ॥

अथ तेनैव व्यवहारचारित्रेण साध्यं निश्चयचारित्रं निरूपयति।

अव इसी पूर्वोक्त व्यवहारचारित्रसे सिद्ध होने योग्य जो निश्चयचारित्र है उसका निरूपण करते हैं।

गाथा। वहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणपणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ॥ ४६ ॥

गाथाभावार्थः—ज्ञानी जीवके जो संसारके कारणोंको नष्ट करनेके लिये वाह्य और अंतरंग क्रियाओंका निरोध है; वह श्रीजिनेन्द्रसे कहाहुआ उत्कृष्ट सम्यक्चारित्र है ॥४६॥

व्याख्या। "तं" तत् "परमं" परमोपेक्षालक्षणं निर्विकारस्वसंवित्त्यात्मकशुद्धोपयोगाविनाभूतं परमं "सम्मचारित्तं" सम्यक्चारित्रं ज्ञातव्यम्। तत्किं—"वहिरब्भंतरकिरियारोहो" निष्क्रियनित्यनिरञ्जनविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य निजात्मनः प्रतिपक्षभूतस्य वहिर्विषये शुभाशुभवचनकायव्यापाररूपस्य तथैवाभ्यन्तरे शुभाशुभमनोविकल्परूपस्य च क्रियाव्यापारस्य योऽसौ निरोधस्त्यागः स च किमर्थं "भवकारणपणासट्ठं" पञ्चप्रकारभवातीतनिर्दोषपरमात्मनो विलक्षणस्य भवस्य संसारस्य व्यापारकारणभूतो योऽसौ शुभाशुभकर्मास्रवस्तस्य प्रणाशार्थं विनाशार्थमिति। इत्युभयक्रियानिरोधलक्षणचारित्रं कस्य भवति? "णाणिस्स" निश्चयरत्नत्रयात्मकाभेदज्ञानिनः। पुनरपि किं विशिष्टं "जं जिणुत्तं" यज्जिनेन वीतरागसर्वज्ञेनोक्तमिति ॥ ४६ ॥

व्याख्यार्थः—"तं" वह "परमं" परम उपेक्षा (अनादर) स्वरूप लक्षणका धारक, और विकाररहित निजसंवेदनरूप जो शुद्धोपयोग है उससे व्याप्त होनेसे उत्कृष्ट "सम्मचारित्तं" सम्यक् चारित्र जानना चाहिये। वह क्या? "वहिरब्भंतरकिरियारोहो" क्रियारहित–नित्य–निरंजन और निर्मल ज्ञान तथा दर्शनरूप स्वभावका धारक जो अपना आत्मा है उससे प्रतिपक्षभूत (प्रतिकूल)—वाह्य विषयमें शुभ–अशुभ–वचन कायके व्यापाररूप, और इसी प्रकार अन्तरंगमें शुभ–अशुभ–मनके विकल्परूप जो क्रियाका व्यापार है उसका जो निरोध अर्थात् त्याग है वह। वह त्याग किस लिये है? "भवकारणपणासट्ठं" पांच प्रकारके संसारसे रहित जो निर्दोष परमात्मा है उससे भिन्न ल-

क्षणका धारक जो संसार उसके व्यापारका कारणभूत जो शुभ–अशुभ–कर्मोंका आस्रव उसके विनाशके लियेहै। पूर्वोक्त प्रकारसे बाह्य और अंतरंग भेदसे जो दो प्रकारकी क्रियायें हैं उनका त्यागरूप चारित्र किसके होता है? "णाणिस्स" निश्चय रत्नत्रयस्वरूप अभेद-ज्ञानके धारक जीवके। फिर कैसा है वह चारित्र? "जं जिणुत्तं" जो जिन अर्थात् श्रीवीतरागसर्वज्ञदेवसे कहा हुआ है॥ भावार्थ—ज्ञानी जीवके संसारके कारणोंको दूर करनेके लिये जो बाह्य और अंतरंगकी शुभ अशुभ क्रियाओंका त्याग होता है वह श्रीजिनेन्द्रद्वारा कहाहुआ परम सम्यक्चारित्र है॥ ४६॥

एवं वीतरागसम्यक्त्वज्ञानाविनाभूतं निश्चयरत्नत्रयात्मकनिश्चयमोक्षमार्गतृतीयावयवरूपं वीतरागचारित्रं व्याख्यातम्॥ इति द्वितीयस्थले गाथाषट्कं गतम्।

इस प्रकार वीतरागसम्यक्त्व और ज्ञानके विना नहीं होनेवाला और निश्चयरत्नत्रयस्वरूप जो निश्चयमोक्षमार्ग है उसका तीसरा अवयवरूप जो वीतरागचारित्र है उसका व्याख्यान किया॥ ऐसे दूसरे स्थलमें ६ गाथायें समाप्त हुई॥

एवं मोक्षमार्गप्रतिपादकतृतीयाधिकारमध्ये निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गसंक्षेपकथनेन सूत्रद्वयम्, तदनन्तरं तस्यैव मोक्षमार्गस्यावयवभूतानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां विशेषविवरणरूपेण सूत्रषट्कं चेति स्थलद्वयसमुदायेनाष्टगाथाभिः प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः॥

इस प्रकार मोक्षमार्गको प्रतिपादन करनेवाला जो तीसरा अधिकार है उसमें–निश्चय और व्यवहाररूप मोक्षमार्गके कथनसे दो सूत्र और उसके पश्चात् उसी मोक्षमार्गके अवयवरूप जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं उनके विशेष व्याख्यान रूपसे छः सूत्र, इस रीतिसे दो स्थलोंके समुदाय (जोड़ने) से जो आठ गाथायें हैं उनसे प्रथम अन्तराधिकार समाप्त हुआ॥

अतः परं ध्यानध्यातृध्येयध्यानफलकथनमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथात्रयम्, ततः परं पञ्चपरमेष्ठिव्याख्यानरूपेण द्वितीयस्थले गाथापञ्चकम्, ततश्च तस्यैवध्यानस्योपसंहाररूपविशेषव्याख्यानेन तृतीयस्थले सूत्रचतुष्टयमिति स्थलत्रयसमुदायेन द्वादशसूत्रेषु द्वितीयान्तराधिकारे समुदायपातनिका। तथा हि—निश्चयव्यहारमोक्षमार्गसाधकध्यानाभ्यासं कुरुत यूयमित्युपदिशति।

अब इसके आगे ध्यान, ध्याता (ध्यान करनेवाला), ध्येय (ध्यान करनेयोग्य पदार्थ) और ध्यानका फल इनके कथनकी मुख्यतासे प्रथम स्थलमें तीन गाथायें, इसके पश्चात् पंच परमेष्ठियोंके व्याख्यानरूपसे दूसरे स्थलमें पांच गाथायें; और इसके अनन्तर उसी ध्यानके उपसंहाररूप विशेष व्याख्यानद्वारा तीसरे स्थलमें चार गाथायें इस प्रकार तीन स्थलोंके समुदायसे बारह गाथासूत्रोंका धारक जो तृतीय अधिकारमें दूसरा अंतराधिकार है उसकी समुदायरूप भूमिका है। उसमें प्रथम ही तुम निश्चय और व्यवहारमोक्षमार्गको साधनेवाला जो ध्यान है उसका अभ्यास करो ऐसा उपदेश देते हैं।

गाथा । दुविहं पि मुक्खहेउं ज्झाणे पाऊणदि जं मुणी णियमा ।
तह्मा पयत्तचित्ता जूयं ज्झाणं समब्भसह ॥ ४७ ॥

गाथाभावार्थः—मुनि ध्यानके करनेसे जो नियमसे निश्चय और व्यवहार इन दोनों स्वरूप मोक्षमार्गको पाता है । इस कारणसे हे भव्यो तुम ! चित्तको एकाग्रकरके ध्यानका अभ्यास करो ॥ ४७ ॥

व्याख्या । "दुविहं पि मुक्खहेउं ज्झाणे पाऊणदि जं मुणी णियमा" द्विविधमपि मोक्षहेतुं ध्यानेन प्राप्नोति यस्मात् मुनिर्नियमात् । तद्यथा—निश्चयरत्नत्रयात्मकं निश्चयमोक्षहेतुं निश्चयमोक्षमार्गं, तथैव व्यवहाररत्नत्रयात्मकं व्यवहारमोक्षहेतुं व्यवहारमोक्षमार्गं च यं साध्यसाधकभावेन कथितवान् पूर्वं तद्विविधमपि निर्विकारस्वसंवित्त्यात्मकपरमध्यानेन मुनिः प्राप्नोति यस्मात्कारणात् "तह्मा पयत्तचित्ता जूयं ज्झाणं समब्भसह" तस्मात् प्रयत्नचित्ताः सन्तो हे भव्या यूयं ध्यानं सम्यगभ्यसत । तथा हि तस्मात्कारणाद्दृष्टश्रुतानुभूतनानामनोरथरूपसमस्तशुभाशुभरागादिविकल्पजालं त्यक्त्वा परमस्वास्थ्यसमुत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादानुभवे स्थित्वा च ध्यानाभ्यासं कुरुत यूयमिति ॥ ४७ ॥

व्याख्यार्थः—"दुविहं पि मुक्खहेउं ज्झाणे पाऊणदि जं मुणी णियमा" जिससे कि मुनि नियमसे ध्यान करके दोनों प्रकारसे मोक्षकारणोंको प्राप्त होता है । वे दोनों मोक्षके कारण इस प्रकार हैं—निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निश्चयमोक्षकारण अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग और इसी प्रकार व्यवहाररत्नत्रयरूप व्यवहारमोक्षहेतु अर्थात् व्यवहारमोक्षमार्ग, इन दोनोंको पहले साध्यसाधकभावसे अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग साध्य (साधनेयोग्य) है और व्यवहारमोक्षमार्ग साधक (निश्चयमोक्षमार्गका साधनेवाला) है इस रूपसे जो पहले कहा है उस दोनों प्रकारके मोक्षमार्गको मुनि जिस कारणसे विकाररहित–निजसंवेदनस्वरूप–परमध्यानकरके प्राप्त होता है "तह्मा पयत्तचित्ता जूयं ज्झाणं समब्भसह" इसी कारणसे एकाग्रचित्त होकर हे भव्यजनो ! तुम भले प्रकारसे ध्यानका अभ्यास करो–अर्थात् मुनि ध्यानसे दोनों मोक्षमार्गोंको प्राप्त होते हैं इस कारणसे तुम देखा हुआ, सुना हुआ, और अनुभव किया हुआ जो अनेक प्रकारके मनोरथरूप संपूर्ण शुभ–अशुभ–राग आदि विकल्पोंका समूह है उसका त्याग करके और परमनिजस्वरूपमें स्थित होनेसे उत्पन्न हुआ जो सहज आनंदरूप एक लक्षणका धारक सुखरूपी अमृतरसके आस्वादका अनुभव है उसमें स्थित होकर ध्यानका अभ्यास करो ॥ ४७ ॥

अथ ध्यातृपुरुषलक्षणं कथयति ।

अब ध्यान करनेवाले पुरुषके लक्षणको कहते हैं ।

गाथा । मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठणिट्ठअट्ठेसु ।
थिरमिच्छहि जइ चित्तं विचित्तज्झाणप्पसिद्धीए ॥ ४८ ॥

गाथाभावार्थः—हे भव्यजनो ! यदि तुम नाना प्रकारके ध्यान अथवा विकल्प रहित

ध्यानकी सिद्धिके लिये चित्तको स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट तथा अनिष्टरूप जो इन्द्रियोंके विषय हैं उनमें राग द्वेष और मोहको मत करो ॥ ४८ ॥

व्याख्या। "मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह" समस्तमोहरागद्वेषजनितविकल्पजालरहितनिजपरमात्मतत्त्वभावनासमुत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसात्सकाशादुद्गता संजाता तत्रैव परमात्मसुखास्वादे लीना तन्मया या तु परमकला परमसंवित्तिस्तत्र स्थित्वा हे भव्या मोहरागद्वेषान्मा कुरुत; केषु विषयेषु "इट्ठणिट्ठअट्ठेसु" स्रग्वनिताचन्दनताम्बूलादय इष्टेन्द्रियार्थाः, अहिविषकण्टकशत्रुव्याधिप्रभृतयः पुनरनिष्टेन्द्रियार्थास्तेषु यदि किं "थिरमिच्छहि जइ चित्तं" तत्रैव परमात्मानुभवे स्थिरं निश्चलं चित्तं यदीच्छत यूयं किमर्थं "विचित्तज्झाणप्पसिद्धीए" विचित्रं नानाप्रकारं यद्ध्यानं तत्प्रसिद्ध्यै निमित्तं अथवा विगतं चित्तं चित्तोद्भवशुभाशुभविकल्पजालं यत्र तद्विचित्तं ध्यानं तदर्थमिति ॥

व्याख्यार्थः—"मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह" समस्त–मोह, राग और द्वेषोंसे उत्पन्न हुए विकल्पोंके समूहोंसे रहित जो निज परमात्माके स्वरूपकी भावनासे उत्पन्न हुआ परमानन्दरूप एक लक्षणका धारक सुखामृतरस उससे उत्पन्न हुई और उसी परमात्माके सुखके आस्वादमें तत्पर अर्थात् मग्न हुई जो परम कला अर्थात् परमसंवित्ति (आत्माके स्वरूपका साक्षात्काररूप अनुभव) है; उसमें स्थित होकर हे भव्य जीवो! मोह, राग और द्वेषोंको मत करो। किनमें मोह राग द्वेष मत करो "इट्ठणिट्ठअट्ठेसु" माला, स्त्री, चन्दन और ताम्बूल आदिरूप इष्ट इन्द्रियोंके विषयोंमें और सर्प, जहर, कांटा, शत्रु और रोगआदि अनिष्ट इन्द्रियोंके विषयोंमें, जो क्या "थिरमिच्छहि जइ चित्तं" यदि उसी परमात्माके अनुभवमें तुम निश्चल चित्तको चाहते हो तो किसलिये स्थिर चित्तको चाहते हो "विचित्तज्झाणप्पसिद्धीए" विचित्र अर्थात् नानाप्रकारका जो ध्यान है उसकी सिद्धिके लिये अथवा दूर होगया है चित्त अर्थात् चित्तसे उत्पन्न होनेवाला शुभ और अशुभ विकल्पोंका समूह जिसमें वह विचित्त ध्यान है उस विचित्तध्यान अर्थात् निर्विकल्पक ध्यानके लिये ॥

इदानीं तस्यैव ध्यानस्य तावदागमभाषया विचित्रभेदाः कथ्यन्ते। तथा हि—इष्टवियोगानिष्टसंयोगव्याधिप्रतीकारभोगनिदानेषु वाञ्छारूपं चतुर्विधमार्त्तध्यानम्। तच्च तारतम्येन मिथ्यादृष्ट्यादिषट्गुणस्थानवर्त्तिजीवसम्भवम्। यद्यपि मिथ्यादृष्टीनां तिर्यग्गतिकारणं भवति तथापि बद्धायुष्कं विहाय सम्यग्दृष्टीनां न भवति। कस्मादिति चेत्—स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति विशिष्टभावनाबलेन तत्कारणभूतसंक्लेशाभावादिति।

अब प्रथमही आगमभाषाके अनुसार उसी ध्यानके नानाप्रकारके भेदोंका कथन करते हैं। सोही दिखाते हैं—इष्टका वियोग, अनिष्टका संयोग और रोगको दूर करने तथा भोगों और भोगोंके कारणोंमें इच्छा रखनेरूप भेदोंसे चार प्रकारका आर्त्तध्यान है अर्थात् इष्टका वियोग चाहना १ अनिष्टका संयोग न चाहना २ रोग न चाहना ३ और भोगनि-

दानोंकी वांछा करना ४ इन ४ प्रकारोंका धारक आर्त्तध्यान है । और वह आर्त्तध्यान न्यूनाधिकभावसे मिथ्यादृष्टिगुणस्थानको आदि ले प्रमत्तगुणस्थानपर्यन्त जो ६ गुणस्थान हैं उनमें रहनेवाले जीवोंके होता है। और वह आर्त्तध्यान यद्यपि मिथ्यादृष्टी जीवोंके तिर्यंच् गतिके बंधका कारण होता है तथापि जिस सम्यग्दृष्टीने पहले तिर्यंचगतिके आयुको बांध लिया है उस सम्यग्दृष्टी जीवको छोडकर अन्य जो सम्यग्दृष्टी जीव हैं उनके तिर्यंच-गतिके बंधका कारण नहीं है। क्यों नहीं है? ऐसा पूछो तो उत्तर यह है कि सम्यग्दृष्टी जीवोंके "निज शुद्ध आत्माही ग्रहण करने योग्य है" ऐसी जो भावना रहती है उसके बलसे तिर्यंचगतिका कारणरूप जो संक्लेश है उसका अभाव है ॥

अथ रौद्रध्यानं कथ्यते । हिंसानन्दमृषानन्दस्तेयानन्दविषयसंरक्षणानन्दप्रभवं रौद्रं चतुर्विधम् । तारतम्येन मिथ्यादृष्ट्यादिपञ्चमगुणस्थानवर्त्तिजीवसम्भवम् । तच्च मिथ्या दृष्टीनां नरकगतिकारणमपि वद्धायुष्कं विहाय सम्यग्दृष्टीनां तत्कारणं न भवति । तदपि कस्मादितिचेत्–निजशुद्धात्मतत्त्वमेवोपादेयं विशिष्टभेदज्ञानवलेन तत्कारणभूततीव्रसंक्लेशाभावादिति ॥

अब रौद्रध्यानका कथन करते हैं। हिंसानन्द (हिंसामें आनंद मानना) १ मृषानन्द (झूंठमें आनंद मानना) २ स्तेयानन्द (चोरी करने करानेमें खुश होना) ३ और विषयसंरक्षणानन्द (विषयोंकी रक्षामें आनंद मानना) ४ इन चारोंसे उत्पन्न हुआ रौद्रध्यान ४ प्रकारका है । यह न्यूनाधिकरूपसे मिथ्यादृष्टी गुणस्थानको आदिले पंचम गुणस्थान पर्यन्त रहनेवाले जीवोंके उत्पन्न होता है । और यह रौद्रध्यान मिथ्यादृष्टि जीवोंके नरकगतिका कारण है तोभी जिस सम्यग्दृष्टीने नरकायु बांधली है उसको छोड़कर अन्य सम्यग्दृष्टियोंके नरकगतिका कारण नहीं होता है। ऐसा क्यों है? इसका उत्तर यह है कि सम्यग्दृष्टियोंके जो "निजशुद्ध आत्माका स्वरूप है वही उपादेय है" इस प्रकारका विशिष्टभेदज्ञानका बल है उससे नरकगतिका कारणभूत जो तीव्र संक्लेश है वह नहीं होता ॥

अतः परमार्त्तरौद्रपरित्यागलक्षणमाज्ञापायविपाकसंस्थानविचयसंज्ञचतुर्भेदभिन्नं, तारतम्यवृद्धिक्रमेणासंयतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयताप्रमत्ताभिधानचतुर्गुणस्थानवर्त्तिजीवसम्भवं, मुख्यवृत्त्या पुण्यवन्धकारणमपि परम्परया मुक्तिकारणं चेति धर्मध्यानं कथ्यते। तथाहि–स्वयं मन्दबुद्धित्वेऽपि विशिष्टोपाध्यायाभावेऽपि शुद्धजीवादिपदार्थानां सूक्ष्मत्वेऽपि सति "सूक्ष्मं-जिनोदितं वाक्यं हेतुभिर्यन्न हन्यते । आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥ १॥" इति श्लोककथितक्रमेण पदार्थनिश्चयकरणमाज्ञाविचयध्यानं भण्यते । तथैव भेदाभेदरत्नत्रयभावनावलेनास्माकं परेषां वा कदा कर्मणामपायो विनाशो भविष्यतीति चिन्तनमपायविचयं ज्ञातव्यम् । शुद्धनिश्चयेन शुभाशुभकर्मविपाकरहितोऽप्ययं जीवः पश्चादनादिकर्मबन्धवशेन पापस्योदयेन नारकादिदुःखविपाकफलमनुभवति, पुण्योदयेन देवादिसुख-

विपाकमनुभवतीति विचारणं विपाकविचयं विज्ञेयम् । पूर्वोक्तलोकानुप्रेक्षाचिन्तनं संस्थानविचयम् । इति चतुर्विधं धर्मध्यानं भवति ॥

अब इसके आगे आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यानके त्यागरूपलक्षणका धारक, आज्ञाविचय अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय नामक चार भेदोंसे भेदको प्राप्त हुआ, न्यूनाधिकवृद्धिके क्रमसे असंयतसम्यग्दृष्टी, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त इन नामोंके धारक जो चार गुणस्थान हैं इनमें रहनेवाले जीवोंके उत्पन्न होनेवाला और प्रधानतासे पुण्यबंधका कारण है तोभी परंपरासे मोक्षका कारणभूत ऐसा जो धर्मध्यान है उसका कथन करते हैं । सोही कहते हैं—आप अल्पबुद्धिका धारक हो तोभी, विशेष ज्ञानके धारक गुरुकी प्राप्ति न हो तोभी, शुद्ध जीव आदि पदार्थोंकी सूक्ष्मता होने पर भी "श्री जिनेन्द्रका कहा हुआ जो सूक्ष्म तत्त्व है वह हेतुओंसे नहीं खंडित होसकता है इसलिये जो सूक्ष्मतत्त्व है उसको आज्ञाके अनुसार ग्रहण करना चाहिये क्योंकि श्रीजिनेन्द्र अन्यथावादी अर्थात् झूंठा उपदेश देनेवाले नहीं हैं ॥ १ ॥" इस श्लोकमें कहे हुए क्रमके अनुसार जो पदार्थका निश्चय करना है वह आज्ञाविचय नामक प्रथम धर्मध्यान कहलाता है । और इसीप्रकार भेद तथा अभेदरूप रत्नत्रयकी भावनाके बलसे हमारे अथवा अन्यजीवोंके कर्मोंका नाश कब होगा इस प्रकार जो विचारना है उसको अपायविचय नामक दूसरा धर्मध्यान जानना चाहिये । शुद्ध निश्चयनयसे यह जीव शुभ—अशुभ कर्मोंके उदयसे रहित है तोभी अनादिकर्मोंके बंधके वशसे पापके उदयसे नारक आदि दुःखोंरूप विपाकरूप फलका अनुभवन करता है। और पुण्यके उदयसे देव आदिके सुखरूप विपाकको भोगता है । इस प्रकार विचार करना है उसको विपाकविचय नामक तीसरा धर्मध्यान जानना चाहिये । और पहले कही हुई जो लोकानुप्रेक्षाका चिंतवन करना है वह संस्थानविचय नामक चौथा धर्मध्यान है । इस प्रकार चार प्रकारका धर्मध्यान होता है ॥

अथ पृथक्त्ववितर्कवीचारं, एकत्ववितर्कवीचारं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिसंज्ञं व्युपरतक्रियानिवृत्तिसंज्ञं चेति भेदेन चतुर्विधं शुक्लध्यानं कथयति । तद्यथा—पृथक्त्ववितर्कवीचारं तावत्कथ्यते । द्रव्यगुणपर्यायाणां भिन्नत्वं पृथक्त्वं भण्यते, स्वशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं भावश्रुतं तद्वाचकमन्तर्जल्पवचनं वा वितर्को भण्यते, अनीहितवृत्त्यार्थान्तरपरिणमनं वचनाद्वचनान्तरपरिणमनं मनोवचनकाययोगेषु योगाद्योगान्तरपरिणमनं वीचारो भण्यते । अयमत्रार्थः—यद्यपि ध्याता पुरुषः स्वशुद्धात्मसंवेदनं विहाय बहिश्चिन्तां न करोति तथापि यावतांशेन स्वरूपे स्थिरत्वं नास्ति तावतांशेनानीहितवृत्त्या विकल्पाः स्फुरन्ति, तेन कारणेन पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यानं भण्यते । तच्चोपशमश्रेणिविवक्षायामपूर्वोपशमकानिवृत्त्युपशमकसूक्ष्मसाम्परायकोपशमकोपशान्तकषायपर्यन्तगुणस्थानचतुष्टये भवति । क्षपकश्रेण्यां पुनरपूर्वकरणक्षपकानिवृत्तिकरणक्षपकसूक्ष्मसाम्परायक्षपकाभिधानगुणस्थानत्रये चेति प्रथमं शुक्लध्यानं व्याख्यातम् ।

अब पृथक्त्ववितर्कवीचार १ एकत्ववितर्कवीचार २ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति इस नामका धारक ३ और व्युपरतक्रियानिवृत्ति इस नामका धारक ऐसे इन भेदोंसे चार प्रकारका जो शुक्लध्यान है उसको कहते हैं । वह इस प्रकार है—प्रथम ही पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक जो प्रथम शुक्लध्यान है उसका कथन करते हैं । द्रव्य, गुण और पर्याय इनका जो जुदापना है उसको पृथक्त्व कहते हैं । निजशुद्धआत्माका अनुभवनरूप भावश्रुत, अथवा निजशुद्ध आत्माको कहनेवाला जो अन्तरंग वचन (सूक्ष्मशब्दकल्पन) है वह वितर्क कहलाता है । अनीहितवृत्तिसे अर्थात् विना इच्छा किये अपने आपही जो एक अर्थसे दूसरे अर्थमें, एक वचनसे दूसरे वचनमें और मन वचन काय इन तीनों योगोंमेंसे एक योगसे दूसरे योगमें जो परिणमन (लगाना) है उसको वीचार कहते हैं । भावार्थ यहांपर यह है कि, यद्यपि ध्यान करनेवाला पुरुष निज शुद्ध आत्माके ज्ञानको छोड़कर वाह्यपदार्थोंकी चिन्ता नहीं करता अर्थात् निज आत्माका ही ध्यान करता है। तथापि जितने अंशोंसे उस पुरुषके अपने आत्मामें स्थिरता नहीं है उतने अंशोंसे अनीहितवृत्तिसे विकल्प उत्पन्न होते हैं इस कारणसे इस ध्यानको 'पृथक्त्ववितर्कवीचार' ध्यान कहते हैं । यह प्रथम शुक्लध्यान उपशमश्रेणीकी विवक्षामें तो अपूर्वकरण उपशमक, अनिवृत्तिकरण उपशमक, सूक्ष्मसांपराय उपशमक और उपशान्तकषाय इन ८ वें ९ वें १० वें और ११ वें गुणस्थानपर्यन्त जो चार गुणस्थान हैं उनमें होता है ॥ और क्षपकश्रेणीकी विवक्षामें अपूर्वकरणक्षपक, अनिवृत्तिकरणक्षपक और सूक्ष्मसांपरायक्षपक नामके धारक जो ८ से १० तक तीन गुणस्थान हैं उनमें होता है । इस प्रकार प्रथम शुक्लध्यानका व्याख्यान किया गया ।

निजशुद्धात्मद्रव्ये वा निर्विकारात्मसुखसंवित्तिपर्याये वा निरुपाधिस्वसंवेदनगुणे वा यत्रैकस्मिन् प्रवृत्तं तत्रैव वितर्कसंज्ञेन स्वसंवित्तिलक्षणभावश्रुतवलेन स्थिरीभूय वीचारं गुणद्रव्यपर्यायपरावर्त्तनं करोति यत्तदेकत्ववितर्कवीचारसंज्ञं क्षीणकषायगुणस्थानसम्भवं द्वितीयं शुक्लध्यानं भण्यते । तेनैव केवलज्ञानोत्पत्तिरिति । अथ सूक्ष्मकायक्रियाव्यापाररूपं च तदप्रतिपाति च सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिसंज्ञं तृतीयं शुक्लध्यानम् । तच्चोपचारेण सयोगिकेवलिजिने भवतीति । विशेषेणोपरता निवृत्ता क्रिया यत्र तद्व्युपरतक्रियं च तदनिवृत्ति चानिवर्त्तकं च तद्व्युपरतक्रियानिवृत्तिसंज्ञं चतुर्थं शुक्लध्यानं व्याख्यातम् । अध्यात्मभाषया पुनः सहजशुद्धपरमचैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवति निजात्मन्युपादेयबुद्धिं कृत्वा पश्चादनन्तज्ञानोऽहमनन्तसुखोऽहमित्यादिभावनारूपमभ्यन्तरधर्मध्यानमुच्यते । पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादितदनुकूलशुभानुष्ठानं पुनर्बहिरङ्गधर्मध्यानं भवति । तथैव स्वशुद्धात्मनि निर्विकल्पसमाधिलक्षणं शुक्लध्यानमिति । अथवा " पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम् । रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनम् ॥ १ ॥ " इति श्लोककथितक्रमेण विचित्रध्यानं ज्ञातव्यमिति ॥

निजशुद्ध–आत्मद्रव्यमें अथवा विकाररहित जो आत्माका सुख है उसके अनुभवरूप पर्यायमें अथवा उपाधिरहित निजआत्माका जो ज्ञानरूप गुण है उसमें इन तीनोंमेंसे जिस एक द्रव्य, गुण वा पर्यायमें ध्यानी प्रवृत्त होगया उसीमें वितर्क नामक जो निजात्मानुभवरूप भावश्रुतका बल है उससे स्थिर होकर जो वीचार अर्थात् द्रव्य, गुण तथा पर्यायमें परावर्त्तन करता है वह **एकत्ववितर्कवीचार** नामा क्षीणकषाय नामक १२ वें गुणस्थानमें होनेवाला दूसरा शुक्लध्यान कहलाता है । और इस दूसरे शुक्लध्यानसे ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है । अब सूक्ष्म जो कायकी क्रिया है उसका व्यापाररूप और अप्रतिपाति (जिसका कभी पतन न हो) ऐसा **सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति** नामक तीसरा शुक्लध्यान है । वह उपचारसे सयोगिकेवलिजिन नामक १३ वें गुणस्थानमें होता है । विशेपता करके उपरत अर्थात् दूर हुई हैं क्रिया जिसमें वह व्युपरतक्रिय है; व्युपरतक्रिय हो और अनिवृत्ति अर्थात् निर्वर्त्तक न हो वह **व्युपरतक्रियानिवृत्ति** नामा चतुर्थ शुक्लध्यान कहा गया है । और अध्यात्मभाषासे सहज-शुद्ध-परम-चैतन्यसे शोभायमान तथा निर्भर (परिपूर्ण) आनंदके समूहको धारण करनेवाला जो भगवान् निज आत्मा है उसमें उपादेयबुद्धिकरके अर्थात् निजशुद्धआत्मा ही ग्रहण करने योग्य है ऐसी बुद्धिको करके फिर जो " मैं अनन्त ज्ञानका धारक हूं, मैं अनन्त सुखका धारक हूं " इत्यादि भावनाका करना है उस रूप अंतरंग धर्मध्यान कहा जाता है । और पंचपरमेष्ठियोंकी भक्तिको आदिले उसके अनुकूल जो शुभ अनुष्ठानका करना है वह बहिरंग धर्मध्यान है । उसी प्रकार निजशुद्ध आत्मामें विकल्परहित ध्यानरूप लक्षणका धारक शुक्लध्यान है । अथवा " मन्त्रवाक्योंमें जो स्थित है वह **पदस्थध्यान** है, निज आत्माका जो चिन्तवन है वह **पिंडस्थध्यान** है, सर्वचिद्रूपका चिन्तवन जिसमें है वह **रूपस्थध्यान** है और निरंजनका जो ध्यान है वह रूपातीत ध्यान है ॥ १ ॥ " इस श्लोकमें कहे हुए क्रमके अनुसार विचित्र अर्थात् नाना प्रकारका ध्यान जानना चाहिये ॥

अथ ध्यानप्रतिबन्धकानां मोहरागद्वेषाणां स्वरूपं कथ्यते । शुद्धात्मादितत्त्वेषु विपरीताभिनिवेशजनको मोहो दर्शनमोहो मिथ्यात्वमिति यावत् । निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षण-वीतरागचारित्रप्रच्छादकचारित्रमोहो रागद्वेषौ भण्येते । चारित्रमोहो रागद्वेषौ कथं भण्येते ? इति चेत्–कषायमध्ये क्रोधमानद्वयं द्वेषाङ्गं, मायालोभद्वयं रागाङ्गं, नोकषायमध्ये तु स्त्रीपुंनपुंसकवेदत्रयं हास्यरतिद्वयंच रागाङ्गं, अरतिशोकद्वयं भयजुगुप्साद्वयं च द्वेषाङ्गमिति ज्ञातव्यम् । अत्राह शिष्यः—रागद्वेषादयः किं कर्मजनिताः किं जीवजनिता इति । तत्रोत्तरं—स्त्रीपुरुषसंयोगोत्पन्नपुत्र इव सुधाहरिद्रासंयोगोत्पन्नवर्णविशेष इवोभयसंयोगजनिता इति । पश्चान्नयविवक्षावशेन विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन कर्मजनिता भण्यन्ते । तथैवा-शुद्धनिश्चयेन जीवजनिता इति । स चाशुद्धनिश्चयः शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव । अथ मतं–साक्षाच्छुद्धनिश्चयनयेन कस्यैत इति पृच्छामो वयम् । तत्रोत्तरं—साक्षाच्छुद्धनिश्च-

येन स्त्रीपुरुषसंयोगरहितपुत्रस्येव, सुधाहरिद्रासंयोगरहितरङ्गविशेषस्येव तेषामुत्पत्तिरेव नास्ति कथमुत्तरं प्रयच्छाम इति ॥ ४८ ॥ एवं ध्यातृव्याख्यानमुख्यत्वेन तद्ध्यानेन विचित्रध्यान-कथनेन च सूत्रं गतम् ॥

अब ध्यानके प्रतिबंधक अर्थात् रोकनेवाले जो मोह, राग तथा द्वेष हैं उनके स्वरूपका वर्णन करते हैं । शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वोंमें विपरीत आग्रहको उत्पन्न करनेवाला जो मोह है वह दर्शनमोह अर्थात् मिथ्यात्व है। विकाररहित–निज आत्माके अनुभवरूप जो वीतराग चारित्र है उसको ढकनेवाला जो चारित्रमोह है वह राग और द्वेष कहलाता है । चारित्रमोह–राग द्वेष रूप कैसे कहलाता है ऐसा प्रश्न करो तो उत्तर यह है कि कषायोंके बीचमें क्रोध और मान ये जो दो कषाय हैं सो तो द्वेषके अंग हैं और माया तथा लोभ ये दोनों कषाय रागके अंग हैं । और नोकषायोंमें स्त्रीवेद, पुंवेद, और नपुंसकवेद ऐसे तीनों वेद तथा हास्य और रति ये दोनों ऐसे पांच नोकषाय तो रागके अंग हैं; और अरति तथा शोक ये दोनों और भय तथा जुगुप्सा (ग्लानि) ये दोनों ऐसे चार नोकषाय द्वेषके अंग जानने योग्य हैं । यहां पर शिष्य प्रश्न करता है कि, राग, द्वेष आदि क्या कर्मोंसे उत्पन्न हुए हैं अथवा क्या जीवसे उत्पन्न हुए हैं? इसका उत्तर यह है कि, स्त्री और पुरुष इन दोनोंके संयोगसे उत्पन्न हुए पुत्रके समान और कली तथा हलदी इन दोनोंके मेलसे उत्पन्न हुए एक प्रकारके रंगकी तरह ये राग द्वेष आदि कषाय जीव और कर्म इन दोनोंके संयोगसे उत्पन्न हुए हैं। और जब नयकी विवक्षाके वश इनका कथन किया जाता है तब विवक्षित एकदेशशुद्धनिश्चयनयसे तो ये कषाय कर्मसे उत्पन्न हुए कहलाते हैं। और इसी प्रकार अशुद्धनिश्चयनयसे जीवजनित कहलाते हैं । और यह अशुद्धनिश्चयनय, शुद्ध–निश्चयनयकी अपेक्षासे व्यवहारनय ही है। **शंका**—साक्षात् शुद्ध निश्चयनयसे ये राग द्वेष किसके हैं यह हम पूछते हैं? **समाधान**–तुह्मारे प्रश्नका उत्तर यह है कि साक्षात् शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षासे जैसे, स्त्री और पुरुषके संयोगविना पुत्रकी उत्पत्ति नहीं होती और कली व हलदीके संयोगविना एक प्रकारका रंग उत्पन्न नहीं होता इसी प्रकार जीव तथा कर्म इन दोनोंके संयोगके विना इन राग द्वेषादिकी उत्पत्ति ही नहीं होती है। इसलिये हम तुह्मारे प्रश्नका उत्तर ही कैसे देवें अर्थात् जैसे पुत्र न स्त्रीसे ही होता है और न पुरुषसे ही होता है किंतु स्त्री तथा पुरुष इन दोनोंके संयोगसे उत्पन्न होता है; इसी प्रकार राग द्वेष आदि न कर्मजनित ही हैं और न जीवजनित ही हैं किन्तु जीव और कर्म इन दोनोंके संयोगजनित हैं ॥ ४८ ॥ इस प्रकार ध्याता (ध्यान करनेवाले) के व्याख्यानकी प्रधानतासे उस ध्याताके ध्यान तथा विचित्र ध्यानके कथनसे यह गाथासूत्र समाप्त हुआ।

अत ऊर्ध्वं पदस्थं ध्यानं मन्त्रवाक्यस्थं यदुक्तं तस्य विवरणं कथयति।

अब पहले जो कह आये है कि "मन्त्रवाक्योंमें स्थित है वह पदस्थ ध्यान है" उसी कथनका विस्तारसे वर्णन करते हैं।

गाथा। पणतीससोलछप्पणचउदुगमेगं च जवह ज्झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ॥ ४९ ॥

गाथाभावार्थः—पंच परमेष्ठियोंको कहनेवाले जो पैंतीस, सोलह, छः पांच, चार, दो और एक अक्षररूप मन्त्रपद हैं उनका जाप्य करो और ध्यान करो इनके सिवाय अन्य जो मन्त्रपद हैं उनको भी गुरुके उपदेशानुसार जपो और ध्यावो ॥ ४९ ॥

व्याख्या।—"पणतीस" "णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं" एतानि पञ्चत्रिंशदक्षराणि सर्वपदानि भण्यन्ते। "सोल" अरिहंत सिद्ध आचार्य उवज्झाय साहू' एतानि षोडशाक्षराणि नामपदानि भण्यन्ते। "छ" 'अरिहन्तसिद्ध' एतानि षडक्षराणि अर्हत्सिद्धयोर्नामपदे द्वे भण्येते। "पण" 'अ सि आ उ सा' एतानि पञ्चाक्षराणि आदिपदानि भण्यन्ते। "चदु" "अरिहंत" इदमक्षरचतुष्टयमर्हतो नामपदम्। "दुग" सिद्ध इत्यक्षरद्वयं सिद्धस्य नामपदम्। "एगं च" 'अ' इत्येकाक्षरमर्हत आदिपदम्। अथवा 'ओं' एकाक्षरं पञ्चपरमेष्ठिनामादिपदम्। तत्कथमितिचेत् "अरिहंता असरीरा आयरिया तह उवज्झया मुणिणो। पढमक्खरनिप्पण्णो ॐकारो पंच 'परमेट्ठी। १।" इति गाथाकथितप्रथमाक्षराणां 'समानः सवर्णे दीर्घीभवति' 'परश्च लोपम्' 'उवर्णे ॐ' इति स्वरसन्धिविधानेन ओं शब्दो निष्पद्यते। कस्मादिति—"जवह ज्झाएह" एतेषां पदानां सर्वमन्त्रवादपदेषु मध्ये सारभूतानां इहलोकपरलोकेष्टफलप्रदानामर्थं ज्ञात्वा पश्चादनन्तज्ञानादिगुणस्मरणरूपेण वचनोच्चारणेन च जापं कुरुत। तथैव शुभोपयोगरूपत्रिगुप्तावस्थायां मौनेन ध्यायत। पुनरपि कथम्भूतानां' "परमेट्ठिवाचयाणं" 'अरिहंत' इति पदवाचकमनन्तज्ञानादिगुणयुक्तोऽर्हद्वाच्योऽभिधेय इत्यादिरूपेण पञ्चपरमेष्ठिवाचकानां। "अणं च गुरूवएसेण" अन्यदपि द्वादशसहस्रप्रमितपञ्चनमस्कारग्रन्थकथितक्रमेण लघुसिद्धचक्रं, बृहत्सिद्धचक्रमित्यादिदेवार्चनविधानं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकगुरुप्रसादेन ज्ञात्वा ध्यातव्यम्। इति पदस्थध्यानस्वरूपं व्याख्यातम् ॥ ४९ ॥

व्याख्यार्थः—"पणतीस" 'णमो अरिहंताणं १ णमो सिद्धाणं २ णमो आयरियाणं ३ णमो उवज्झायाणं ४ णमो लोएसव्वसाहूणं' ५ ये पैंतीस अक्षर 'सर्वपद' कहलाते हैं। "सोल" 'अरिहंत सिद्ध आचार्य उवज्झाय साहू' ये सोलह अक्षर पंचपरमेष्ठियोंके नाम पद कहलाते हैं। "छ" 'अरिहंतसिद्ध' ये छः अक्षर अर्हत् तथा सिद्ध इन दो परमेष्टियोंके दो नाम पद कहे जाते हैं। "पण" 'असिआउसा' ये पांच अक्षर पंच परमेष्ठियोंके आदिपद कहलाते हैं। "चदु" 'अरिहंत' ये चार अक्षर अर्हत् परमेष्ठीके नामपद रूप हैं। "दुग" 'सिद्ध' ये दो अक्षर सिद्ध परमेष्ठीके नामपद रूप हैं। "एगं च" 'अ' यह एक अक्षर अर्हत्परमेष्ठीका आदिपद है; अथवा 'ओं' यह एक अक्षर पांचों परमेष्टियोंके आदिपदस्वरूप है। 'ओं' यह परमेष्ठियोंके आदिपद रूप कैसे है ऐसा पूछो तो उत्तर यह है कि अरिहंतका प्रथम अक्षर 'अ' असरीर (सिद्ध) का प्रथम अक्षर 'अ' आचार्यका

प्रथम अक्षर 'आ' उपाध्यायका प्रथम अक्षर 'उ' मुनिका प्रथम अक्षर 'म्' इस प्रकार इन पांचों परमेष्ठियोंके प्रथम अक्षरोंसे सिद्ध जो ओंकार है वही पंचपरमेष्ठियोंके समान है । इस प्रकार गाथमें कहे हुए जो प्रथम अक्षर (अ अ आ उ म्) हैं इनमें पहले 'समानः सवर्णे दीर्घी भवति' इस सूत्रसे दीर्घ आ बनाकर 'परश्च लोपम्' इससे पर अक्षरका लोप करके अ अ आ इन तीनोंके स्थानमें एक आ सिद्ध किया फिर "उवर्णे ओ" इस सूत्रसे आउके स्थानमें ओ बनाया ऐसे स्वरसंधि करनेसे 'ओम्' यह शब्द सिद्ध होता है । इस कारण "जवह ज्झाएह" सब मन्त्रशास्त्रके पदोंमें सारभूत और इस लोक तथा परलोकमें इष्ट फलको देनेवाले इन पूर्वोक्त पदोंका अर्थ जान कर फिर अनन्तज्ञान आदि गुणोंके स्मरण-रूप वचनका उच्चारण करके जाप करो और इसी प्रकार शुभोपयोगरूप जो मन, वचन, काय इन तीनोंकी गुप्ति स्वरूप अवस्था है उसमें मौन द्वारा इन पूर्वोक्त पदोंका ध्यान करो । फिर कैसे इन पदोंको जपो ध्यावो ! "परमेट्ठिवाचयाणं" अरिहंत इस पदरूप वाचक है और अनन्त ज्ञान आदिगुणोंसे युक्त जो श्रीजिनेन्द्र है वह इस पदका वाच्य (कहे जाने योग्य) है; इत्यादि प्रकारसे पंचपरमेष्ठियोंके वाचकोंको । "अण्णंच गुरूवएसेण" और इन पूर्वोक्त पदोंसे अन्यका भी जो कि बारहहजार श्लोकसंख्या प्रमाण पंचनमस्कार-माहात्म्य नामक ग्रंथमें कहे हुए प्रकारसे लघुसिद्धचक्र, बृहत्सिद्धचक्र इत्यादि देवोंके पूजनके विधानको भेदाभेदरूपरत्नत्रयके आराधक गुरुके प्रसादसे जानकर ध्यान करना चाहिये । इस प्रकार पदस्थ ध्यानके स्वरूपका कथन किया ॥ ४९ ॥

एवमनेन प्रकारेण " गुप्तेन्द्रियमनो ध्याता ध्येयं वस्तु यथास्थितम् । एकाग्रचिन्तनं ध्यानं फलं संवरनिर्जरौ ॥ १ ॥ " इति श्लोककथितलक्षणानां ध्यातृध्येयध्यानफलानां संक्षेपव्याख्यानरूपेण गाथात्रयेण द्वितीयान्तराधिकारे प्रथमं स्थलं गतम् ।

इस प्रकार " पांचो इन्द्रियों और मनको रोकनेवाला ध्याता (ध्यानी) है; यथास्थित जो पदार्थ है वह ध्येय है, एकाग्र होकर जो विचारका करना है वह ध्यान है और संवर तथा निर्जरा ये दोनों ध्यानके फल हैं ॥ १ ॥ " इस श्लोकमें कहे हुए लक्षणके धारक जो ध्याता, ध्येय, ध्यान और फल हैं उनका संक्षेपसे कथन करनेरूप तीन गाथाओंसे द्वितीय जो अंतराधिकार है उसमें प्रथम स्थल समाप्त हुआ ॥

अतः परं रागादिविकल्पोपाधिरहितनिजपरमात्मपदार्थभावनोत्पन्नसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादतृप्तिरूपस्य निश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतं यच्छुभोपयोगलक्षणं व्यवहार-ध्यानं तद्ध्येयभूतानां पंचपरमेष्ठीनां मध्ये तावदर्हत्स्वरूपं कथयामीत्येका पातनिका । द्वितीया तु पूर्वसूत्रोदितसर्वपदनामपदादिपदानां वाचकभूतानां वाच्या ये पञ्चपरमेष्ठिनस्तद्व्या-ख्याने क्रियमाणे प्रथमतस्तावज्जिनस्वरूपं निरूपयामि । अथवा तृतीया पातनिका पदस्थ-पिण्डस्थरूपस्थध्यानत्रयस्य ध्येयभूतमर्हत्सर्वज्ञस्वरूपं दर्शयामीति पातनिकात्रयं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति ।

अब इसके आगे राग आदि विकल्परूप उपाधिसे रहित जो निज परमात्मारूप पदार्थ है उसकी भावनासे उत्पन्न और सदानन्दस्वरूप एक लक्षणके धारक सुखामृतके रसके आस्वादसे तृप्तिस्वरूप ऐसा जो निश्चयध्यान है उसका परंपरासे कारणभूत जो शुभोपयोगलक्षण व्यवहार ध्यान है उसके द्वारा ध्येय (ध्यान करने योग्य) भूत जो पंच परमेष्ठी हैं उनके मध्यमेंसे प्रथम ही जो अर्हत् परमेष्ठी हैं उनके स्वरूपको कहताहूं यह तो पहली पातनिका है। पूर्वगाथामें कहे हुए जो सर्वपद नामपद आदि वाचकभूत पद हैं उनके वाच्य जो पंच परमेष्ठी हैं उनका व्याख्यान करनेपर प्रथम ही श्रीजिनेन्द्रके स्वरूपको निरूपण करता हूं यह दूसरी पातनिका है। अथवा पदस्थ, पिंडस्थ तथा रूपस्थ इन तीन ध्यानोंके ध्येयभूत जो श्री अर्हत् सर्वज्ञ हैं उनके स्वरूपको दिखलाता हूं यह तीसरी पातनिका है। इस प्रकार इन पूर्वोक्त तीनों पातनिकाओंको मनमें धारण करके सिद्धान्तिचक्रवर्त्ती भगवान् श्रीनेमिचन्द्रस्वामी इस अग्रिम गाथासूत्रका प्रतिपादन करते हैं ॥

गाथाः—णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥ ५० ॥

गाथाभावार्थः—चार घातिया कर्मोंको नष्ट करनेवाला, अनंत दर्शन, सुख, ज्ञान और वीर्यका धारक, उत्तम देहमें विराजमान और शुद्ध ऐसा जो आत्मा है वह अरिहंत है उसका ध्यान करना चाहिये ॥ ५० ॥

व्याख्या। "णट्ठचदुघाइकम्मो" निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगध्यानेन पूर्वं घातिकर्मसुख्यभूतमोहनीयस्य विनाशनात्तदनन्तरं ज्ञानदर्शनावरणान्तरायसंज्ञयुगपद्घातित्रयविनाशकत्वाच्च प्रणष्टचतुर्घातिकर्मा। "दंसणसुहणाणवीरियमईओ', तेनैव घातिकर्माभावेन लब्धानन्तचतुष्टयत्वात् सहजशुद्धाविनश्वरदर्शनज्ञानसुखवीर्यमयः। "सुहदेहत्थो" निश्चयेनाशरीरोऽपि व्यवहारेण सप्तधातुरहितदिवाकरसहस्रभासुरपरमौदारिकशरीरत्वात् शुभदेहस्थः। "सुद्धो" "क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम्। जरा रुजा च मृत्युश्च खेदः स्वेदो मदोऽरतिः। १। विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश स्मृताः। एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः॥ २॥" इति श्लोकद्वयकथिताष्टादशदोषरहितत्वात् शुद्धः। "अप्पा" एवं गुणविशिष्ट आत्मा। "अरिहो" अरिशब्दवाच्यमोहनीयस्य, रजःशब्दवाच्यज्ञानदर्शनावरणद्वयस्य, रहस्यशब्दवाच्यान्तरायस्य च हननाद्विनाशात्सकाशात् इन्द्रादिविनिर्मितां गर्भावतरणजन्माभिषेकनिःक्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिनिर्वाणाभिधानपञ्चमहाकल्याणरूपां पूजामर्हति योग्यो भवति तेन कारणेन अर्हन् भण्यते। "विचिन्तिज्जो" इत्युक्तविशेषणैर्विशिष्टमाप्तागमप्रभृतिग्रन्थकथितवीतरागसर्वज्ञाद्यष्टोत्तरसहस्रनामानमर्हंतं जिनभट्टारकं पदस्थपिंडस्थरूपस्थध्याने स्थित्वा विशेषेण चिन्तयत ध्यायत हे भव्या यूयमिति।

व्याख्यार्थः—"णट्ठचदुघाइकम्मो" निश्चयरत्नत्रयस्वरूप जो शुद्धोपयोगरूप ध्यान है उसके द्वारा पहले घातियाकर्मोंमें प्रधान जो मोहनीयकर्म है उसका नाश करने

से और पीछे ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अंतराय इन नामोंके धारक जो तीन घातिया कर्म हैं उनका एक ही समयमें नाश करनेसे नष्ट होगये हैं चार घातिया कर्म जिसके ऐसा "**दंसणसुहणाणवीरियमईओ**" वह जो घातिया कर्मोंका नाश हुआ है उसीसे प्राप्त हुआ जो अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंतवीर्य रूप अनंत चतुष्टय है उसका धारक होनेसे स्वभावसे उत्पन्न शुद्ध और विनाशरहित ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यरूप ऐसा '**सुहदेहत्थो**' निश्चयनयसे शरीर रहित है तो भी व्यवहार नयकी अपेक्षासे सात धातुओंसे रहित–हजारों सूर्योंके समान देदीप्यमान–परम औदारिक शरीरको धारण करता है इस कारण शुभदेहमें विराजमान है । "**सुद्धो**" "क्षुधा १ तृषा २ भय ३ द्वेष ४ राग ५ मोह ६ चिंता ७ जरा ८ रुजा (रोग) ९ मरण १० स्वेद ११ खेद १२ मद १३ रति १४।१। विस्मय १५ जन्म १६ निद्रा १७ और विषाद १८ ऐसे ये अठारह दोष हैं; इन दोषोंकरके रहित ऐसा वह निरंजन आप्त श्री जिनेन्द्र है । २ ।" इस प्रकार दो श्लोकोंमें कहे हुए अठारह दोषोंसे रहित होनेके कारण शुद्ध है । "**अप्पा**" इन पूर्वोक्त गुणोंका धारक जो आत्मा है वह "**अरिहो**" 'अरि' इस शब्दसे कहे जानेवाले मोहनीयकर्मका, 'रज' इस शब्दसे कहनेयोग्य ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय इन दोनों कर्मोंका तथा 'रहस्य' इसका वाच्य जो अंतरायकर्म है उसका नाश करनेसे इन्द्र आदि देवोंद्वारा रची हुई गर्भावतार–जन्माभिषेक–तपकल्याण–केवलज्ञानोत्पत्ति और निर्वाणसमयमें होनेवाली जो पांच महाकल्याणरूप पूजा है, उसके योग्य होता है इस कारण अर्हन् कहलाता है "**विचिंतिज्जो**" इन उक्त विशेषणोंके धारक और आप्तागममें कहे हुए वीतराग सर्वज्ञ आदि एक हजार आठ नामोंको धारण करनेवाले श्री अर्हंत जिनभट्टारकको पदस्थ–पिंडस्थ–और रूपस्थ ध्यानमें स्थित होकर हे भव्यजनो ! तुम अधिकतासे चिंतवन करो ॥

अत्रावसरे भट्टचार्वाकमतं गृहीत्वा शिष्यः पूर्वपक्षं करोति । नास्ति सर्वज्ञोऽनुपलब्धेः । खरविषाणवत् । तत्र प्रत्युत्तरं–किमत्र देशेऽत्र काले अनुपलब्धिः, सर्वदेशे काले वा । यद्यत्र देशेऽत्र काले नास्ति तदा सम्मत एव । अथ सर्वदेशकाले नास्तीति भण्यते तज्जगत्रयं कालत्रयं सर्वज्ञरहितं कथं ज्ञातं भवता । ज्ञातं चेत्तर्हि भवानेव सर्वज्ञः । अथ न ज्ञातं तर्हि निषेधः कथं क्रियते । तत्र दृष्टान्तः—यथा कोऽपि निषेधको घटस्याधारभूतं घटरहितं भूतलं चक्षुषा दृष्ट्वा पश्चाद्वदत्यत्र भूतले घटो नास्तीति युक्तम् । यस्तु चक्षूरहितस्तस्य पुनरिदं वचनमयुक्तम् । तथैव यस्तु जगत्रयं कालत्रयं सर्वज्ञरहितं जानाति तस्य जगत्रये कालत्रयेऽपि सर्वज्ञो नास्तीति वक्तुं युक्तं भवति, यस्तु जगत्रयं कालत्रयं न जानाति स सर्वज्ञनिषेधं कथमपि न करोति । कस्मादिति चेत्—जगत्त्रयकालत्रयपरिज्ञानेन स्वयमेव सर्वज्ञत्वादिति ।

अब इस अवसरमें भट्ट और चार्वाक (नास्तिक) का मत ग्रहण करके शिष्य पूर्व

पक्षको करता है कि, सर्वज्ञ नहीं है; क्योंकि, उसका प्रत्यक्ष अथवा प्राप्ति नहीं होती, गधेके सींगके समान। इस शंकाका उत्तर यह है–तुम जो सर्वज्ञकी अप्राप्ति मानते हो इसमें हम पूछते हैं कि, सर्वज्ञकी प्राप्ति इस देश और इस कालमें नहीं है वा सब देशों और सब कालोंमें सर्वज्ञकी प्राप्ति नहीं है? यदि कहो कि, इस देश और इस कालमें सर्वज्ञकी प्राप्ति नहीं है तब तो तुह्मारा कहना ठीक है, क्योंकि, हम भी ऐसा मानते हैं। यदि तुम कहो कि, सब देशों और सब कालोंमें सर्वज्ञकी प्राप्ति नहीं है। तो हम पूछते हैं कि, तुमनें यह कैसे जाना कि, अधो, ऊर्द्ध और मध्य भेदसे तीनों लोक तथा भूत भविष्यत् और वर्त्तमान ये तीनों काल सर्वज्ञ करके रहित हैं? यदि तुम यह कहो कि, हमनें जान लिया कि, तीनों लोक और तीनों काल सर्वज्ञ रहित हैं तब तो तुम ही सर्वज्ञ सिद्ध हो चुके॥ **भावार्थ**—जो तीन लोक तथा तीन कालके पदार्थोंको जानता है वही सर्वज्ञ है, सो तुमने यह जान ही लिया कि, तीनों लोक और तीनों कालोंमें सर्वज्ञ नहीं है। इस लिये तुम ही सर्वज्ञ ठहरे। और जो तुमने 'तीन लोक व कालमें सर्वज्ञ नहीं' इसको नहीं जाना है; तो फिर 'सर्वज्ञ नहीं है' ऐसा निषेध कैसे करते हो। यहांपर दृष्टान्त यह है कि, जैसे कोई निषेध करनेवाला पुरुष घटका आधारभूत जो भूतल (जमीन) है उसको नेत्रोंसे घटरहित जान लेता है तब कहता है कि, इस 'भूतलमें घट नहीं है' सो यह कहना तो उसका ठीक है। परंतु जो नेत्रोंसे रहित है, वह जो 'इस भूतलमें घट नहीं है' ऐसा वचन कहै तो ठीक नहीं। इसी प्रकार जो तीन जगत् और तीन कालको सर्वज्ञरहित जानता है वह जो "तीन जगत् तथा तीन कालमें सर्वज्ञ नहीं है" यह कहै तो उसका कहना ठीक है। परंतु जो 'तीन लोक व तीन कालको सर्वज्ञरहित नहीं जानता हैं; वह सर्वज्ञका निषेध किसी प्रकारसे भी नहीं कर सकता है। क्यों नही कर सकता? यह पूछो तो उत्तर यह है कि, तीन जगत् और तीन कालको जाननेसे वह आप ही सर्वज्ञ हैं अर्थात् जब वह आप ही सर्वज्ञ है तब सर्वज्ञ नहीं है ऐसा कैसे कह सकता है॥

अथोक्तमनुपलब्धेरिति हेतुवचनं तदप्ययुक्तम्। कस्मादिति चेत्—किं भवतामनुपलब्धिः, किं जगत्रयकालत्रयवर्त्तिपुरुषाणां वा? यदि भवतामनुपलब्धिस्तावता सर्वज्ञाभावो न सिध्यति, भवद्भिरनुपलभ्यमानानां परकीयचित्तवृत्तिपरमाण्वादिसूक्ष्मपदार्थानामिव। अथवा जगत्रयकालत्रयवर्त्तिपुरुषाणामनुपलब्धिस्तत्कथं ज्ञातं भवद्भिः। ज्ञातं चेत्तर्हि भवन्त एव सर्वज्ञा इति पूर्वमेव भणितं तिष्ठति। इत्यादिहेतुदूषणं ज्ञातव्यम्। यथोक्तं खरविषाणवदिति दृष्टान्तवचनं तदप्यनुचितम्। खरे विषाणं नास्ति गवादौ तिष्ठतीत्यत्यन्ताभावो नास्ति यथा तथा सर्वज्ञस्यापि नियतदेशकालादिष्वभावेऽपि सर्वथा नास्तित्वं न भवति इति दृष्टान्तदूषणं गतम्।

अब जो 'सर्वज्ञ नहीं है' इस वार्त्ताको सिद्ध करनेके लिये 'सर्वज्ञकी प्राप्ति नहीं है' यह हेतु वचन कहा है वह भी अयुक्त (ठीक नहीं) है। क्यों अयुक्त है? ऐसा

प्रश्न करो तो हम पूछते हैं कि, क्या सर्वज्ञकी प्राप्ति तुह्मारे नहीं है वा क्या तीन लोक व तीन कालमें रहनेवाले जीवोंके सर्वज्ञकी प्राप्ति नहीं है? यदि तुम लोगोंको सर्वज्ञ प्राप्त नहीं होता है तो इससे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं होता। क्योंकि, जैसे अन्य पुरुषोंके मनके विचार और परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ तुह्मारे जाननेमें नहीं आते हैं. तो भी वे हैं अर्थात् उनका अभाव नहीं है। इसी प्रकार तुह्मारे जाननेमें नहीं आया हुआ सर्वज्ञ भी है उसका सर्वथा अभाव नहीं। अब कदाचित् यह कहो कि, तीन जगत् और तीन कालके पुरुषोंके ही सर्वज्ञकी अप्राप्ति है; तो हम पूछते हैं कि, क्या तुमने यह जान लिया? जो जान लिया है तब तो 'तुमही सर्वज्ञ हो' यह जो हमने पहले कहा है वही यहां आठहरा। इत्यादि अनेक दूषण इस 'अप्राप्ति' रूप हेतुमें जानने चाहिये। और जो तुमने 'सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि उसकी प्राप्ति नहीं होती' इसको सिद्ध करनेके लिये गर्दभके सींगके समान यह दृष्टान्तवचन कहा वह भी उचित नहीं है। क्योंकि, जैसे गर्दभ (गधे) के सींग नहीं हैं परन्तु बैल आदिके सींग हैं इस लिये सींगका अत्यन्त (सर्वथा) अभाव नहीं है। इसी प्रकार यद्यपि सर्वज्ञका नियत किसी (कायम किये हुए) देश तथा काल आदिमें अभाव है तोभी उस सर्वज्ञका सर्वथा अभाव नहीं हो सकता है, इस प्रकार दृष्टान्तमें दूषण दिखाया गया॥

अथ मतम्–सर्वज्ञविषये बाधकप्रमाणं निराकृतं भवद्भिस्तर्हि सर्वज्ञसद्भावसाधकं प्रमाणं किम्? इति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह—कश्चित् पुरुषो धर्मी, सर्वज्ञो भवतीति साध्यते धर्मः, एवं धर्मिधर्मसमुदायेन पक्षवचनम्। कस्मादिति चेत् पूर्वोक्तप्रकारेण बाधकप्रमाणाभावादिति हेतुवचनम्। किंवत् स्वयमनुभूयमानसुखदुःखादिवदिति दृष्टान्तवचनम्। एवं सर्वज्ञसद्भावे पक्षहेतुदृष्टान्तरूपेण त्र्यङ्गमनुमानं विज्ञेयम्। अथवा द्वितीयमनुमानं कथ्यते—रामरावणादयः कालान्तरिता, मेर्वादयो देशान्तरिता, भूतादयः स्वभावान्तरिता, परचेत्तोवृत्तयः परमाण्वादयश्च सूक्ष्मपदार्था, धर्मिणः कस्यापि पुरुषविशेषस्य प्रत्यक्षा भवन्तीति साध्यो धर्म इति धर्मिधर्मसमुदायेन पक्षवचनम्। कस्मादितिचेत्—अनुमानविषयत्वादिति हेतुवचनम्। किंवत् यद्यदनुमानविषयं तत्तत् कस्यापि प्रत्यक्षं भवति, यथाग्न्यादि, इत्यन्वयदृष्टान्तवचनम्। अनुमानेन विषयाश्चेति, इत्युपनयवचनम्। तस्मात् कस्यापि प्रत्यक्षा भवन्तीति निगमनवचनम्।

अब कदाचित् वादी यह पूछे कि, आपने सर्वज्ञके विषयमें जो बाधकप्रमाण था उसका तो खंडन कर दिया परंतु सर्वज्ञके सद्भावको अर्थात् सर्वज्ञ है इस कथनको सिद्ध करने वाला प्रमाण क्या है सो कहो। इस पर उत्तर देते हैं कि; कोई पुरुषविशेष धर्मी सर्वज्ञ है, इस रीतिसे किसी पुरुषविशेषको पक्ष करके उसमें सर्वज्ञत्व धर्म सिद्ध करते हैं। 'कश्चित् पुरुषो धर्मी सर्वज्ञो भवति' इस प्रकारके हमारे वाक्यमें धर्मी और धर्मके समुदायरूपसे जो पक्षवचन अर्थात् पक्षमें साध्यका निर्देश है वह प्रतिज्ञा है। क्योंकि–सर्वज्ञके होनेमें पूर्वकथित रीतिसे कोई बाधक प्रमाण नहीं है। 'तदस्तित्वे बाधकप्रमाणाभावात्' यह

हमारा हेतुका कथन है। किसके समान? अपने अनुभवमें आते हुए सुख दुःख आदिके समान (स्वयमनुभूयमानसुखदुःखादिवत्) यह दृष्टान्तका कथन है। इस प्रकार सर्वज्ञके सद्भाव (होने) में पक्ष, हेतु तथा दृष्टान्त रूपसे तीन अंगका धारक अनुमान जानना चाहिये। अथवा सर्वज्ञके सद्भावका साधक दूसरा अनुमान कहते हैं। राम और रावण आदि कालसे दूर वा ढके हुए पदार्थ, मेरु आदि देशसे अन्तरित पदार्थ, भूत आदि अपने स्वभावसे ही ढके हुए पदार्थ, तथा पर पुरुषोंके चित्तोंके विकल्प और परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थरूप धर्मी हैं। 'किसी भी पुरुष विशेषके प्रत्यक्ष देखनेमें आते हैं' यह उन राम रावणादि धर्मियोंमें सिद्ध करनेयोग्य धर्म है; इस प्रकार धर्मी और धर्मके समुदायसे पक्षवचन अथवा प्रतिज्ञा है। राम रावणादिक किसीके प्रत्यक्ष क्यों हैं? ऐसी शंकाको दूर करनेके लिये 'अनुमानके विषय होनेसे' यह हेतु वचन है। किसके समान? 'जो जो अनुमानका विषय है वह वह किसीके प्रत्यक्ष होता है जैसे, अग्नि आदि' यह अन्वय दृष्टान्तका वचन है। और 'देश काल आदिसे अंतरित पदार्थ भी अनुमानके विषय हैं' यह उपनयका वचन है। इस लिये "राम रावण आदि किसीके प्रत्यक्ष होते हैं" यह निगमन वाक्य है।

इदानीं व्यतिरेकदृष्टान्तः कथ्यते—यन्न कस्यापि प्रत्यक्षं तदनुमानविषयमपि न भवति यथा खपुष्पादि, इति व्यतिरेकदृष्टान्तवचनम्। अनुमानविषयाश्चेति पुनरप्युपनयवचनम्। तस्मात् प्रत्यक्षा भवन्तीति पुनरपि निगमनवचनमिति। किन्त्वनुमानविषयत्वादित्ययं हेतुः सर्वज्ञस्वरूपे साध्ये सर्वप्रकारेण सम्भवति यतस्ततः कारणात्स्वरूपासिद्धभावासिद्धविशेषणाद्यसिद्धो न भवति। तथैव सर्वज्ञस्वरूपं स्वपक्षं विहाय सर्वज्ञाऽभावं विपक्षं न साधयति तेन कारणेन विरुद्धो न भवति। तथैव च यथा सर्वज्ञसद्भावे स्वपक्षे वर्त्तते तथा सर्वज्ञाभावेऽपि विपक्षेऽपि न वर्त्तते तेन कारणेनाऽनैकान्तिको न भवति। अनैकान्तिकः कोऽर्थो व्यभिचारीति। तथैव प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधितो न भवति। तथैव च प्रतिवादिनां प्रत्यसिद्धं सर्वज्ञसद्भावं साधयति तेन कारणेनाकिञ्चित्करोऽपि न भवति। एवमसिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्करहेतुदोषरहितत्वात्सर्वज्ञसद्भावं साधयत्येव। इत्युक्तप्रकारेण सर्वज्ञसद्भावे पक्षहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनरूपेण पञ्चाङ्गमनुमानं ज्ञातव्यमिति।

अब व्यतिरेक दृष्टान्तको कहते हैं— 'जो किसीके भी प्रत्यक्ष नहीं होते वे अनुमानके विषय भी नहीं होते;' जैसे कि, 'आकाशके पुष्प आदि' यह व्यतिरेक दृष्टान्तका वचन है। और 'राम रावण आदि अनुमानके विषय हैं' यह फिर उपनयका वचन है। इस लिये 'राम रावणादि किसीके प्रत्यक्ष होते हैं' यह फिर निगमन वाक्य है। और 'रामरावणादि किसीके प्रत्यक्ष होते हैं अनुमानके विषय होनेसे' यहांपर 'अनुमानके विषय होनेसे' यह जो हेतु है वह सर्वज्ञरूप जो साध्य धर्म है उसमें सर्व प्रकारसे रहता है इस कारण यह उक्त हेतु स्वरूपासिद्ध भावासिद्ध तथा विशेषण आदिसे असिद्ध नहीं है। तथा उक्त हेतु—सर्वज्ञरूप जो अपना पक्ष है उसको छोड़कर सर्वज्ञका अभावस्वरूप

जो विपक्ष है उसको सिद्ध नहीं करता है; इस कारण विरुद्ध भी नहीं है। और जैसे, 'सर्वज्ञके सद्भावरूप अपने पक्षमें रहता है वैसे सर्वज्ञके अभावरूप विपक्षमें नहीं रहता है; इस कारण उक्त हेतु अनैकान्तिक अर्थात् व्यभिचारी भी नहीं है । और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे बाधित नहीं है; इस लिये कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है। तथा सर्वज्ञको न माननेवाले जो भट्ट और चार्वाक हैं, उनके सर्वज्ञके सद्भावको सिद्ध करता है इस कारण अकिंचित्कर भी नहीं है । इस प्रकारसे 'अनुमानका विषय होनेसे' यह हेतु वचन है सो; असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, अकिंचित्कररूप जो हेतुके दूषण हैं उनसे रहित है; इस कारण सर्वज्ञके सद्भावको सिद्ध करता ही है। इस उक्त प्रकारसे सर्वज्ञके सद्भावमें पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन रूपसे पांच अंगोंका धारक अनुमान जानना चाहिये ॥

किं च यथा लोचनहीनपुरुषस्यादर्शे विद्यमानेऽपि प्रतिबिम्बानां परिज्ञानं न भवति, तथा लोचनस्थानीयसर्वज्ञतागुणरहितपुरुषस्यादर्शस्थानीयवेदशास्त्रे कथितानां प्रतिबिम्बस्थानीयपरमाण्वाद्यनन्तसूक्ष्मपदार्थानां क्वापि काले परिज्ञानं न भवति। तथाचोक्तं "यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्। लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥ १ ॥" इति संक्षेपेण सर्वज्ञसिद्धिरत्र बोद्धव्या । एवं पदस्थपिण्डस्थरूपस्थध्याने ध्येयभूतस्य सकलात्मनो जिनभट्टारकस्य व्याख्यानरूपेण गाथा गता।

और जैसे नेत्रहीन पुरुषको दर्पण (शीसे) के विद्यमान होनेपर भी प्रतिबिंबोंका ज्ञान नहीं होता है, इसीप्रकार नेत्रोंके स्थानभूत जो सर्वज्ञतारूप गुण है उससे रहित पुरुषको दर्पणके स्थानभूत जो वेदशास्त्र है उसमें कहेहुए जो प्रतिबिंबोंके स्थानभूत परमाणु आदि अनन्त सूक्ष्म पदार्थ हैं उनका किसी भी कालमें ज्ञान नहीं होता है। सो ही कहा है कि-"जिस पुरुषके स्वयंबुद्धि नहीं है उसका शास्त्र क्या उपकार कर सकता है। क्योंकि नेत्रोंसे रहित पुरुषके दर्पण क्या उपकार करैगा. **भावार्थ**—जैसे नेत्रहीन पुरुषको दर्पणसे कुछ लाभ नहीं इसी प्रकार बुद्धिहीन पुरुषको शास्त्रसे कोई लाभ नहीं है। १ ।इस प्रकार यहां संक्षेपसे सर्वज्ञकी सिद्धि जानना चाहिये । ऐसे पदस्थ, पिंडस्थ और रूपस्थ इन तीनों ध्यानोंमें ध्येयभूत (ध्यान करने योग्य) जो सकल आत्माके धारक श्री जिनेन्द्र भट्टारक हैं; उनके व्याख्यानरूपसे यह गाथा समाप्त हुई ॥ ५० ॥

अथ सिद्धसदृशनिजपरमात्मतत्त्वपरमसमरसीभावलक्षणस्य रूपातीतनिश्चयध्यानस्य पारम्पर्येण कारणभूतं मुक्तिगतसिद्धभक्तिरूपं 'णमोसिद्धाणं' इति पदोच्चारणलक्षणं यत्पदस्थं ध्यानं तस्य ध्येयभूतं सिद्धपरमेष्ठिस्वरूपं कथयति।

अब सिद्धोंके समान जो परमात्मस्वरूप है; उसमें परमसमरसीभावको धारण करनेरूप जो रूपातीत नामक निश्चय ध्यान है; उस रूपातीत ध्यानके परंपरासे कारणभूत-मुक्तिमें प्राप्त हुए जो सिद्ध परमेष्ठी हैं; उनकी भक्तिरूप-"**णमोसिद्धाणं**" इस पदके बोलनेरूप

लक्षणका धारक जो पदस्थध्यान है, उस पदस्थध्यानके ध्येयभूत जो सिद्धपरमेष्ठी हैं; उनके स्वरूपका कथन करते हैं।

गाथाः—णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो ज्झाएह लोयसिहरत्थो ॥ ५१ ॥

गाथाभावार्थः—नष्ट होगया है अष्टकर्मरूप देह जिसके, लोकाकाश तथा अलोकाकाशका जानने देखनेवाला, पुरुषके आकारका धारक—और लोकके शिखरपर विराजमान ऐसा जो आत्मा है वह सिद्ध परमेष्ठी है इसकारण तुम उसका ध्यान करो ॥ ५१ ॥

व्याख्या। 'णट्ठट्ठकम्मदेहो' शुभाशुभमनोवचनकायक्रियारूपस्य द्वैतशब्दाभिधेयकर्मकाण्डस्य निर्मूलनसमर्थेन स्वशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्पन्नरागादिविकल्पोपाधिरहितपरमाह्लादैकलक्षणसुन्दरमनोहरानन्दस्यंदिनिःक्रियाद्वैतशब्दवाच्येन परमज्ञानकाण्डेन विनाशितज्ञानावरणाद्यष्टकर्मौदारिकादिपञ्चदेहत्वात् नष्टाष्टकर्मदेहः। 'लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा' पूर्वोक्तज्ञानकाण्डभावनाफलभूतेन सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनद्वयेन लोकालोकगतत्रिकालवर्त्तिसमस्तवस्तुसम्बन्धिविशेषसामान्यस्वभावानामेकसमयज्ञायकदर्शकत्वात् लोकालोकस्य ज्ञाता द्रष्टा भवति। 'पुरिसायारो' निश्चयनयेनातीन्द्रियामूर्त्तपरमचिदुच्छलननिर्भरशुद्धस्वभावेन निराकारोऽपि व्यवहारेण भूतपूर्वनयेन किञ्चिदूनचरमशरीराकारेण गतसिक्थमूषागर्भाकारवच्छायाप्रतिमावद्वा पुरुषाकारः। 'अप्पा' इत्युक्तलक्षण आत्मा किं भण्यते 'सिद्धो' अञ्जनसिद्धपादुकासिद्धगुटिकासिद्धखड्गसिद्धमायासिद्धादिलौकिकसिद्धविलक्षणः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिलक्षणः सिद्धो भण्यते। 'ज्झाएह लोयसिहरत्थो' तमित्थंभूतं सिद्धपरमेष्ठिनं लोकशिखरस्थं दृष्टश्रुतानुभूतपञ्चेन्द्रियभोगप्रभृतिसमस्तमनोरथरूपनानाविकल्पजालत्यागेन त्रिगुप्तिलक्षणरूपातीतध्याने स्थित्वा ध्यायत हे भव्या यूयमिति ॥५१॥ एवं निष्कलसिद्धपरमेष्ठिव्याख्यानेन गाथा गता ॥

व्याख्यार्थः—'णट्ठट्ठकम्मदेहो' शुभ-अशुभ-मन वचन और कायकी क्रियारूप, द्वैत इस शब्दसे कहे जाने योग्य जो कर्मोंका कांड (समूह) है उसका नाश करनेमें समर्थ, निजशुद्ध-आत्मस्वरूपकी भावनासे उत्पन्न रागादिविकल्परूप उपाधिसे रहित, परम आनंदमय एक लक्षणका धारक—, सुन्दर और मनको हरण करनेवाला ऐसा जो आनंद उसको वहानेवाला, क्रियारहित और अद्वैत इस शब्दसे कहे जानेवाला ऐसा जो परमज्ञानकाण्ड, उसके द्वारा नाशको प्राप्त किये हैं ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप औदारिक आदि पांच देह (शरीर) जिसने ऐसा होनेसे नष्ट किया है अष्टकर्मरूप देह जिसने ऐसा। 'लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा' पहले कहेहुए ज्ञानकांडकी भावनाका फलरूप जो सर्व अंशोंमें निर्मल-ज्ञान और दर्शनका युगल है उसके द्वारा लोक तथा अलोकमें प्राप्त जो भूत भविष्यत् और वर्त्तमानकालमें रहनेवाले समस्त पदार्थ हैं; उन पदार्थोंसे संबंध रखनेवाले जो विशेष तथा सामान्य भाव हैं उनका एक ही समयमें जानने और देखनेवाला होनेसे लोक

तथा अलोकका जानने देखनेवाला होता है। 'पुरिसायारो' निश्चयनयकी अपेक्षासे इन्द्रियोंके अगोचर–मूर्त्तिरहित–परमज्ञानके उछलनेसे भरा हुआ ऐसा जो शुद्ध स्वभाव है उसका धारक होनेसे आकाररहित है; तो भी व्यवहारसे भूतपूर्वनयकी अपेक्षासे अंतिम शरीरसे कुछ न्यून (कम) आकारको धारण करता है इस कारण मोमरहित मूसके बीचके आकारकी तरंह अथवा छायाके प्रतिविंवकेसमान पुरुषके आकारको धारण करनेवाला है। "अप्पा" इन पहले कहे हुये लक्षणोंका धारक जो आत्मा है वह क्या कहलाता है 'सिद्धो' अंजनसिद्ध, पादुकासिद्ध, गुटिकासिद्ध, खड्गसिद्ध और मायासिद्ध आदि जो लौकिक (लोकमें कहे जानेवाले) सिद्ध हैं उन सिद्धोंसे भिन्न लक्षणका धारक–केवल ज्ञान आदि अनंतगुणोंकी प्रकटता रूप लक्षणका धारक सिद्ध कहलाता है। 'ज्झाएह लोयसिहरत्थो' लोकके शिखरपर विराजमान उस इस पूर्वोक्तलक्षणके धारक सिद्ध परमेष्ठीको हे भव्यजनो ! तुम देखे–सुने–अनुभव किये हुए जो पांचों इन्द्रियोंके भोगोंको आदिले संपूर्ण मनोरथोंरूप अनेक विकल्पोंका समूह उसका त्याग करिके और मन, वचन तथा काय इन तीनोंकी गुप्ति स्वरूप जो रूपातीत ध्यान है उसमें स्थित होकर ध्यावो ॥ ५१ ॥ इस प्रकार निष्कल (शरीररहित) सिद्ध परमेष्ठीके व्याख्यान द्वारा यह गाथा समाप्त हुई।

अथ निरुपाधिशुद्धात्मभावनानुभूत्यविनाभूतनिश्चयपञ्चाचारलक्षणस्य निश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतं निश्चयव्यवहारपञ्चाचारपरिणताचार्यभक्तिरूपं 'णमो आयरियाणं' इति पदोच्चारणलक्षणं यत्पदस्थध्यानं तस्य ध्येयभूतमाचार्यपरमेष्ठिनं कथयति।

अव उपाधिरहित जो शुद्ध आत्माकी भावना तथा अनुभूति (अनुभव) का साक्षात्कार है उसमें व्याप्तिको धारण करनेवाला जो निश्चय नयानुसार पांच प्रकारका आचार वही है लक्षण जिसका ऐसा जो निश्चयध्यान उस निश्चयध्यानका परंपरासे कारणभूत, निश्चय तथा व्यवहार इन दोनों प्रकारके पांच आचारोंमें परिणत (तत्पर वा तल्लीन) ऐसे जो आचार्य परमेष्ठी उनकी भक्तिरूप और "णमो आयरियाणं" इस पदके उच्चारण करने (वोलने) रूप लक्षणका धारक ऐसा जो पदस्थध्यान है उस पदस्थध्यानके ध्येयभूत जो आचार्य परमेष्ठी हैं उनके स्वरूपका निरूपण करते हैं।

गाथा।—दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी ज्झेओ॥ ५२॥

गाथाभावार्थः—दर्शनाचार १ ज्ञानाचार २ वीर्याचार ३ चारित्राचार ४ और तपश्चरणाचार ५ इन पांचों आचारोंमें जो आप भी तत्पर होते हैं और अन्यशिष्योंको भी लगाते हैं ऐसे आचार्यमुनि ध्यान करने योग्य हैं॥ ५२॥

'दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे' सम्यग्दर्शनज्ञानप्रधाने वीर्यचारित्रवरतपश्चरणाचारेऽधिकरणभूते 'अप्पं परं च जुंजइ' आत्मानं परं शिष्यजनं च योऽसौ

योजयति सम्बन्धं करोति 'सो आयरिओ मुणी ज्झेओ' स उक्तलक्षण आचार्यो मुनिस्तपोधनो ध्येयो भवति । तथा हि—भूतार्थनयविषयभूतः शुद्धसमयसारशब्दवाच्यो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मादिसमस्तपरद्रव्येभ्यो भिन्नः परमचैतन्यविलासलक्षणः स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपसम्यग्दर्शनं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयदर्शनाचारः ॥ तस्यैव शुद्धात्मनो निरुपाधिस्वसम्वेदनलक्षणभेदज्ञानेन मिथ्यात्वरागादिपरभावेभ्यः पृथक्परिच्छेदनं सम्यक्ज्ञानं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयज्ञानाचारः । तत्रैव रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वाभाविकसुखास्वादेन निश्चलचित्तं वीतरागचारित्रं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयचारित्राचारः । समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधेन तथैवानशनादिद्वादशतपश्चरणबहिरङ्गसहकारिकारणेन च स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं निश्चयतपश्चरणं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयतपश्चरणाचारः।तस्यैव निश्चयचतुर्विधाचारस्य रक्षणार्थं स्वशक्त्यनवगूहनं निश्चयवीर्याचारः । इत्युक्तलक्षणनिश्चयपञ्चाचारे तथैव "छत्तीसगुणसमग्गे पंचविहाचारकरणसन्दरिसे । सिस्साणुग्गहकुसले धम्मायरिए सदा वंदे । १ ।" इति गाथाकथितक्रमेणाचाराराधनादिचरणशास्त्रविस्तीर्णबहिरङ्गसहकारिकारणभूते व्यवहारपञ्चाचारे च स्वं परं च योजयत्यनुष्ठानेन सम्बन्धं करोति स आचार्यो भवति । स च पदस्थध्याने ध्यातव्यः । इत्याचार्यपरमेष्ठिव्याख्यानेन सूत्रं गतम् ॥ ५२ ॥

व्याख्यार्थः—"दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे" आधारभूत सम्यग्दर्शनाचार और सम्यग्ज्ञानचार है प्रधान जिसमें ऐसे वीर्याचार चारित्राचार और तपश्चरणाचारमें "अप्पं परं च जुंजइ" अपनी आत्माको और अन्य शिष्यजनोंको जो लगाते हैं "सो आयरिओ मुनी ज्झेओ" वे पूर्वोक्त लक्षणवाले आचार्य तपोधन ध्यान करने योग्य होते हैं । उसीका विस्तारसे वर्णन करते हैं कि, भूतार्थ (निश्चय) नयका विषयभूत, 'शुद्धसमयसार' इसशब्दसे कहने योग्य, भावकर्म–द्रव्यकर्म–नोकर्म आदि जो समस्त पर पदार्थ हैं उनसे भिन्न; और परमचैतन्यका विलासरूप लक्षणका धारक ऐसा जो निज शुद्ध आत्मा है वही उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है इस प्रकारकी रुचि होने रूप सम्यग्दर्शन है; उस सम्यग्दर्शनमें जो आचरण अर्थात् परिणमन करना है उसको निश्चयदर्शनाचार कहते हैं ॥ १ ॥ उसी शुद्ध आत्माका जो उपाधि रहित स्वसंवेदन (अपने जानने) रूप भेदज्ञानद्वारा मिथ्यात्व–राग आदि परभावोंसे भिन्न जानना है वह सम्यग्ज्ञान है; उसमें जो आचरण (परिणमन) करना अर्थात् लगना है वह निश्चयज्ञानाचार है ॥ २ ॥ उसी शुद्ध आत्मामें राग आदि विकल्पोंरूप उपाधिसे रहित जो स्वभावसे उत्पन्न हुआ सुख है उसके आस्वादसे निश्चल चित्तका करना है उसको वीतरागचारित्र कहते हैं; उसमें जो आचरण करना है वह निश्चयचारित्राचार कहलाता है । ३ । समस्त परद्रव्योंमें इच्छाके रोकनेसे, इसीप्रकार अनशन अवमौदर्य आदि बारह प्रकारके तपको करने रूप बहिरंगसहकारीकारणसे जो निज स्वरूपमें प्रतपन अर्थात् विजयन है वह निश्चयतपश्चरण कहलाता है उसमें जो आचरण अर्थात् परिणमन है उसको निश्चयतपश्चरणाचार कहते हैं । ४ । इन

पूर्वोक्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपश्चरणरूप भेदोंसे चार प्रकारका जो निश्चय आचार है; उसकी रक्षाकेलिये जो अपनी शक्ति (ताकत) का नहीं छिपाना है वह निश्चयवीर्याचार है। ५। ऐसे कहे हुए लक्षणोंका धारक जो निश्चयनयसे पांच प्रकारका आचार है उसमें, और इसीप्रकारसे "छत्तीसगुणोंसे सहित, पांच प्रकारके आचारको करनेका उपदेशदेनेवाले, तथाशिष्योंपर अनुग्रह (कृपा) रखनेमें, चतुर ऐसे जो धर्माचार्य हैं उनको मैं सदा वंदता हूं। १।" इस गाथामें कहे हुए क्रमके अनुसार मूलाचार, भगवती आराधना आदि चरणानुयोगके शास्त्रोंमें विस्तारसे कहे हुए वहिरंगसहकारीकारणों रूप जो व्यवहारनयसे पांच प्रकारका आचार है उसमें जो अपनेको तथा परको लगाते हैं अर्थात् आप उस पंचाचारको साधते हैं और दूसरोंको सधाते हैं वे आचार्य कहलाते हैं। और वे आचार्य परमेष्ठी पदस्थध्यानमें ध्यान करने योग्य हैं॥ इसप्रकार आचार्यपरमेष्ठीके व्याख्यानसे १ गाथासूत्र समाप्त हुआ॥ ५२॥

अथ स्वशुद्धात्मनि शोभनमध्यायोऽभ्यासो निश्चयस्वाध्यायस्तल्लक्षणनिश्चयध्यानस्य पारम्पर्येण कारणभूतं भेदाभेदरत्नत्रयादितत्त्वोपदेशकं परमोपाध्यायभक्तिरूपं 'णमो उवज्झायाणं' इति पदोच्चारणलक्षणं यत् पदस्थध्यानं, तस्य ध्येयभूतमुपाध्यायमुनीश्वरं कथयति।

अब निज शुद्ध आत्मामें जो उत्तम (वारंवार) अभ्यास करना है उसको निश्चय स्वाध्याय कहते हैं। उस निश्चयस्वाध्यायरूप स्वरूपका धारक जो निश्चयध्यान है उसके परंपरासे कारणभूत, भेद अभेद रूप रत्नत्रय आदि तत्त्वोंका उपदेश करनेवाले और परमउपाध्यायभक्तिस्वरूप "णमो उवज्झायाणं" इस पदके उच्चारणरूप पदस्थध्यानके ध्येयभूत (ध्यान करने योग्य) ऐसे जो उपाध्याय परमेष्ठी हैं उनके स्वरूपका कथन करते हैं।

गाथा।—जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स॥ ५३॥

गाथाभावार्थः—जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप रत्नत्रयसे सहित है; निरन्तर धर्मका उपदेश देनेमें तत्पर है; वह आत्मा मुनीश्वरोंमें प्रधान उपाध्याय परमेष्ठी कहलाता है। इसलिये उसके अर्थ मैं नमस्कार करता हूं॥ ५३॥

व्याख्या।—'जो रयणत्तयजुत्तो' योऽसौ वाह्याभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानेन युक्तः परिणतः। 'णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो' षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु मध्ये स्वशुद्धात्मद्रव्यं स्वशुद्धजीवास्तिकायं स्वशुद्धात्मतत्त्वं स्वशुद्धात्मपदार्थमेवोपादेयं शेषं च हेयं, तथैवोत्तमक्षमादिधर्मं च नित्यमुपदिशति योऽसौ स नित्यं धर्मोपदेशने निरतो भण्यते। 'सो उवज्झाओ अप्पा' सचेत्थम्भूतो आत्मा उपाध्याय इति। पुनरपि किं विशिष्टः।—'जदिवरवसहो' पञ्चेन्द्रियविषयजयेन निजशुद्धात्मनि यत्नपराणां यतिवराणां मध्ये वृषभः प्रधानो यतिवरवृषभः। 'णमो तस्स' तस्मै द्रव्यभावरूपो नमो नमस्कारोऽस्तु। इत्युपाध्यायपरमेष्ठिव्याख्यानरूपेण गाथा गता॥ ५३॥

व्याख्यार्थः—"जो रयणत्तयजुत्तो" जो बाह्य तथा आभ्यन्तररूप रत्नत्रयके अनुष्ठान (साधने) से युक्त हैं अर्थात् निश्चय-व्यवहार स्वरूप रत्नत्रयके साधनेमें लगे हुए हैं, "णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो" जीव, अजीवादि छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थोंमें निजशुद्ध आत्म द्रव्य, निज-शुद्ध जीवास्तिकाय, निज-शुद्ध आत्मतत्त्व और निजशुद्ध-आत्मपदार्थ ही उपादेय है; अन्य सब त्यागने योग्य हैं; इस विषयका तथा इसीप्रकार उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंका जो निरन्तर उपदेश देते हैं; वे नित्य धर्मोपदेश देनेमें तत्पर कहलाते हैं; इस कारण नित्य धर्मोपदेशनमें तत्पर ऐसे "अप्पा" आत्मा हैं; वे "जदिवरवसहो" पांचो इन्द्रियोंके विषयोंको जीतनेसे निज-शुद्ध-आत्मामें प्रयत्न करनेमें तत्पर ऐसे यतिवरों (मुनीश्वरों) के मध्यमें वृषभ अर्थात् प्रधान ऐसे 'उवज्झाओ' उपाध्याय परमेष्ठी हैं "णमो तस्स" उन उपाध्याय परमेष्ठियोंके अर्थ मेरा द्रव्य तथा भावरूप नमस्कार हो। इस प्रकार उपाध्याय परमेष्ठीके व्याख्यानसे एक गाथासूत्र पूर्ण हुआ ॥ ५३ ॥

अथ निश्चयरत्नत्रयात्मकनिश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतं बाह्याभ्यन्तरमोक्षमार्गसाधकं परमसाधुभक्तिरूपं 'णमो लोए सव्वसाहूणं' इति पदोच्चारणजपध्यानलक्षणं यत् पदस्थध्यानं तस्य ध्येयभूतं साधुपरमेष्ठिस्वरूपं कथयति।

अब निश्चयरत्नत्रयस्वरूप जो निश्चयध्यान है उसके परंपरासे कारणभूत, बाह्यतथा अभ्यंतररूप मोक्षमार्गके साधनेवाले और परमसाधुभक्तिस्वरूप जो "णमो लोए सव्वसाहूणं" यह पद है इसके बोलने-जापकरने और ध्यान करनेरूप लक्षणका धारक जो पदस्थ ध्यान है उसके ध्येयभूत ऐसे जो साधु परमेष्ठी हैं उनके स्वरूपका निरूपण करते हैं ॥

गाथा।—दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स ॥ ५४ ॥

गाथाभावार्थः—जो दर्शन और ज्ञानसे पूर्ण, मोक्षका मार्गभूत, और सदाशुद्ध ऐसे चारित्रको प्रकट रूपसे साधते हैं वे मुनि साधु परमेष्ठी हैं उनके अर्थ मेरा नमस्कार हो ५४॥

व्याख्या।—'साहू स मुणी' स मुनिः साधुर्भवति। यः किं करोति—'जो हु साधयदि' यः कर्त्ता हु स्फुटं साधयति। किं 'चारित्तं' चारित्रं कथम्भूतं 'दंसणणाणसमग्गं' वीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानाभ्यां समग्रं परिपूर्णम्। पुनरपि कथम्भूतं 'मग्गं मोक्खस्स' मार्गभूतं कस्य मोक्षस्य। पुनश्च किं रूपं 'णिच्चसुद्धं' नित्यं सर्वकालं शुद्धं रागादिरहितम्। 'णमो तस्स' एवं गुणविशिष्टो यस्तस्मै साधवे नमो नमस्कारोऽस्त्विति। तथाहि—"उद्योतनमुद्योगो निर्वहणं साधनं च निस्तरणम्। दृगवगमचरणतपसामाख्याताराधना सद्भिः। १।" इत्यार्याकथितबहिरङ्गचतुर्विधाराधनाबलेन, तथैव "सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवो चेव। चउरो चिट्ठहि आदे तह्मा आदा हु मे सरणं। १।" इति गाथाकथिताभ्यन्तरनिश्चयचतुर्विधाराधनाबलेन च

बाह्याभ्यन्तरमोक्षमार्गद्वितीयनामाभिधेयेन कृत्वा यः कर्त्ता वीतरागचारित्राविनाभूतं स्वशुद्धात्मानं साधयति भावयति स साधुर्भवति । तस्यैव सहजशुद्धसदानन्दैकानुभूतिलक्षणो भावनमस्कारस्तथा 'णमो लोए सव्वसाहूणं' द्रव्यनमस्कारश्च भवत्विति ॥ ५४ ॥

व्याख्यार्थः—"जो" जो 'हु' भले प्रकारसे "दंसणणाणसमग्गं" वीतराग सम्यग्दर्शन और ज्ञानसे परिपूर्ण, "मग्गं मोक्खस्स" मोक्षका मार्ग (कारण) भूत, "णिच्चसुद्धं" सदा शुद्ध अर्थात् राग द्वेषादि रहित ऐसे "चारित्तं" चारित्रको "साधयदि" साधते हैं "साहू स मुणी" वे मुनि साधु हैं "णमो तस्स" इन पूर्वोक्त गुणोंसे सहित जो हैं उन साधु परमेष्ठियोंके अर्थ नमस्कार हो। सो ही स्पष्टरूपसे दिखलाते हैं कि—"दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनका जो उद्योतन, उद्योग, निर्वहण, साधन और निस्तरण है उसको सतपुरुषोंने आराधना कही है। १।" इस आर्याछन्दसे कही हुई जो बहिरंग–दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपभेदोंसे चार प्रकारकी आराधना है उस आराधनाके बलसे तथा इसीप्रकार "सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सत्तप ये चारों आत्मामें निवास करते हैं इस कारण आत्मा ही मेरे शरणभूत है। १।" इस गाथामें कही हुई जो निश्चय नयसे अभ्यन्तरकी चार आराधना हैं उनके बलसे अर्थात् बाह्य मोक्षमार्ग और अभ्यन्तर मोक्षमार्ग करके जो वीतरागचारित्रका अविनाभूत निज शुद्ध आत्माको साधते हैं अर्थात् भावते हैं; वे साधु परमेष्ठी कहलाते हैं। उन्हींके लिये मेरा स्वभावसे उत्पन्न-शुद्ध-ऐसे सदानन्दकी अनुभूतिलक्षण भावनमस्कार तथा "णमो लोए सव्वसाहूणं" इस पदके उच्चारणरूप द्रव्यनमस्कार हो ॥ ५४ ॥

एवमुक्तप्रकारेण गाथापञ्चकेन मध्यमप्रतिपत्त्या पञ्चपरमेष्ठिस्वरूपं ज्ञातव्यम् । अथवा निश्चयेन "अरिहासिद्धायरियाउवज्झायासाधुपंचपरमेट्ठी । ते वि हु चिट्ठहि आदे तह्मा आदा हु मे सरणं । १ ।" इति गाथाकथितक्रमेण संक्षेपेन, तथैव विस्तरेण पञ्चपरमेष्ठिग्रन्थकथितक्रमेण, अतिविस्तारेण तु सिद्धचक्रादिदेवार्चनाविधिरूपमन्त्रवादसंबन्धिपञ्चनमस्कारग्रन्थे चेति । एवं गाथापञ्चकेन द्वितीयस्थलं गतम् ।

इस कहे हुए प्रकारसे पांच गाथाओंद्वारा मध्यम रुचिके धारक शिष्योंको ज्ञान होनेके लिये पंच परमेष्ठीके स्वरूपका कथन किया गया है; यह जानना चाहिये। अथवा निश्चयनयसे "अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांचों परमेष्ठी जो हैं वे भी आत्मामें ही तिष्ठते हैं; इस कारण आत्मा ही मेरे शरणभूत है। १।" इस गाथामें कहे हुए क्रमानुसार संक्षेपसे पंच परमेष्ठियोंका स्वरूप जानना चाहिये। और विस्तारसे पंच परमेष्ठियोंका स्वरूप पञ्चपरमेष्ठी नामक ग्रन्थमें कहे हुए क्रमसे जानना चाहिए। तथा अत्यन्तविस्तारसे सिद्धचक्र आदि देवोंके पूजनविधिरूप जो मन्त्रवादसंबन्धी पंचनमस्कार माहात्म्यनामक ग्रन्थ है उसमें पंच परमेष्ठियोंका स्वरूप जानना चाहिये। इस प्रकार पांच गाथाओंसे दूसरा स्थल समाप्त हुआ ॥

अथ तदेव ध्यानं विकल्पितनिश्चयेनाविकल्पितनिश्चयेन प्रकारान्तरेणोपसंहाररूपेण पुनरप्याह । तत्र प्रथमपादे ध्येयलक्षणं, द्वितीयपादे ध्यातृलक्षणं, तृतीयपादे ध्यानलक्षणं, चतुर्थपादेन नयविभागं कथयामीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति ।

अब फिर भी उसी ध्यानको विकल्पितनिश्चय और अविकल्पितनिश्चयरूप जो अन्य प्रकार हैं उनसे संक्षेप करके कहते हैं। उसमें गाथाके प्रथम पादमें ध्येयका लक्षण कहताहूं, द्वितीय पादमें ध्याता (ध्यान करनेवाले) का लक्षण कहताहूं, तीसरे पादमें ध्यानका लक्षण कहता हूं और चोथे पाद (चरण) से नयोंके विभागको कहता हूं । इस अभिप्रायको मनमें धारण करके भगवान् श्री नेमिचन्द्रस्वामी इस अग्रिम सूत्रका प्रतिपादन करते हैं ।

गाथा । जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू ।
लद्धूणय एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छयं ज्झाणं ॥ ५५ ॥

गाथाभावार्थः—ध्येय पदार्थमें एकाग्र चित्त होकर जिस किसी पदार्थको ध्यावता हुआ साधु जव निस्पृह वृत्ति (सव प्रकारकी इच्छाओंसे रहित) होता है उस समय वह उसका ध्यान निश्चय ध्यान होता है ऐसा आचार्य कहते हैं ॥ ५५ ॥

व्याख्या।'तदा' तस्मिन् काले आहुर्ब्रुवन्ति 'तं तस्स णिच्छयं ज्झाणं' तत्तस्य निश्चयध्यानमिति। यदा किं'निरीहवित्ती हवे जदा साहू'निरीहवृत्तिर्निस्पृहवृत्तिर्यदा साधुर्भवति। किं कुर्वन्'जं किंचिवि चिंतंतो' यत् किमपि ध्येयवस्तुरूपेण वस्तु चिन्तयन्निति। किं कृत्वा पूर्वं 'लद्धूणय एयत्तं' तस्मिन् ध्येये लब्ध्वा किं? एकत्वं एकाग्रचिन्तानिरोधनमिति । अथ विस्तारः—यत् किञ्चिद् ध्येयमित्यनेन किमुक्तं भवति ? प्राथमिकापेक्षया सविकल्पावस्थायां विषयकषायवञ्चनार्थं चित्तस्थिरीकरणार्थं पञ्चपरमेष्ठ्यादिपरद्रव्यमपि ध्येयं भवति । पश्चादभ्यासवशेन स्थिरीभूते चित्ते सति शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजशुद्धात्मस्वरूपमेव ध्येयमित्युक्तं भवति । निस्पृहवचनेन पुनर्मिथ्यात्वं वेदत्रयं हास्यादिषट्कक्रोधादिचतुष्टयरूपचतुर्दशाऽभ्यन्तरपरिग्रहेण तथैव क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यभाण्डाऽभिधानदशविधबहिरङ्गपरिग्रहेण च रहितं ध्यातृस्वरूपमुक्तं भवति।एकाग्रचिन्तानिरोधेन च पूर्वोक्तविविधध्येयवस्तुनि स्थिरत्वं निश्चलत्वं ध्यानलक्षणं भणितमिति । निश्चयशब्देन तु प्राथमिकापेक्षया व्यवहाररत्नत्रयानुकूलनिश्चयो ग्राह्यः। निष्पन्नयोगनिश्चलपुरुषापेक्षया व्यवहाररत्नत्रयानुकूलनिश्चयो ग्राह्यः॥ निष्पन्नयोगपुरुषापेक्षया तु शुद्धोपयोगलक्षणविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयो ग्राह्यः । विशेषनिश्चयः पुनरग्रे वक्ष्यमाणस्तिष्ठतीति सूत्रार्थः ॥ ५५ ॥

व्याख्यार्थः—" लद्धूणय एयत्तं " उस ध्येय पदार्थमें एकाग्रचिन्ताके निरोधको प्राप्त होकर अर्थात् एकचित्त होकर "जं किंचिवि चिंतंतो" जिस किसी पदार्थका ध्येयवस्तुके रूपसे चिंतवन करता हुआ "णिरीहवित्ती हवे जदा साहू" साधु जव निस्पृह वृत्तिको धारण करनेवाला होता है "तदाहु तं तस्स णिच्छयं ज्झाणं" उस समय आचार्य महाराज साधुके उस ध्यानको निश्चय ध्यान कहते हैं । अव विस्तारसे वर्णन करते हैं—

गाथामें जो 'यत् किंचित् ध्येयम्' अर्थात् 'जिस किसी भी ध्येय पदार्थको' ऐसा पद है उससे क्या कहा गया है कि ? ध्यानकी प्रथम ही आरंभ करनेकी अपेक्षासे जो सविकल्प अवस्था है उसमें विषय और कषायोंको दूर करनेके लिये तथा चित्तको स्थिर करनेके लिये पंच परमेष्ठी आदि जो परद्रव्य हैं; वे भी ध्येय होते हैं, फिर जब अभ्यासके वशसे चित्त स्थिर हो जाता है तब शुद्ध-बुद्ध एकस्वभावका धारक जो निज-शुद्ध आत्मा है उसका स्वरूप ही ध्येय होता है; यह कहा गया है । 'और निस्पृहवृत्ति होकर' यह जो वचन है इससे मिथ्यात्व १ पुंवेद २ स्त्रीवेद ३ नपुंसकवेद ४ हास्य ५ रति ६ अरति ७ शोक ८ भय ९ जुगुप्सा १० क्रोध ११ मान १२ माया १३ और लोभ १४ इन रूप चौदह प्रकारके अन्तरंग परिग्रहसे रहित तथा इसीप्रकार क्षेत्र १ वास्तु २ हिरण्य ३ सुवर्ण ४ धन ५ धान्य ६ दासी ७ दास ८ कुप्य ९ और भांड १०नामक दशप्रकारके बहिरंग परिग्रहसे रहित ध्यान करनेवालेका स्वरूप कहा गया है । और 'एकाग्रचिन्तानिरोधको प्राप्त होकर' इस कथनसे पूर्वोक्त नाना प्रकारके ध्यान करनेयोग्य पदार्थोंमें जो निश्चलपना है उसको ध्यानका लक्षण कहा है । और "निश्चय ध्यान कहते हैं" यहांपर जो निश्चय शब्द है उससे अभ्यास करनेवाले पुरुषकी अपेक्षासे तो व्यवहाररत्नत्रयके अनुकूल निश्चय ग्रहण करना चाहिये और जिसके ध्यान सिद्ध हो गया है ऐसे पुरुषकी अपेक्षासे शुद्धोपयोगरूप लक्षणका धारक विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चय ग्रहण करना चाहिये । इससे विशेष (ऊंचे दर्जेका) जो निश्चय है वह आगेके सूत्रमें कहा है । इस प्रकार सूत्रका अर्थ है ॥ ५५ ॥

अथ शुभाशुभमनोवचनकायनिरोधे कृते सत्यात्मनि स्थिरो भवति तदेव परमध्यानमित्युपदिशति ।

अब ध्यान करनेवाला पुरुष शुभ अशुभरूप मन, वचन और कायका निरोध कर चुकने पर जो आत्मामें स्थिर होता है वह आत्मामें स्थिर होना ही परम ध्यान है ऐसा उपदेश देते हैं ।

गाथा । मा चिट्ठह मा जंपह मा चिन्तह किंवि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं ॥ ५६ ॥

गाथाभावार्थः—हे ज्ञानी जनो ! तुम कुछ भी चेष्टा मत करो अर्थात् कायके व्यापारको मत करो, कुछ भी मत बोलो और कुछ भी मत विचारो । जिससे कि तुह्मारा आत्मा अपने आत्मामें तल्लीन होकर स्थिर होवै; क्योंकि जो आत्मामें तल्लीन होना है वही परमध्यान है ॥ ५६ ॥

व्याख्या । 'मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि' नित्यनिरञ्जननिष्क्रियनिजशुद्धात्मानुभूतिप्रतिबन्धकं शुभाशुभचेष्टारूपं कायव्यापारं, तथैव शुभाशुभान्तर्बहिर्जल्परूपं वचनव्यापारं, तथैव शुभाशुभविकल्पजालरूपं चित्तव्यापारञ्च किमपि माकुरुत हे विवेकिजनाः ! 'जेण

होइ थिरो' येन योगत्रयनिरोधेन स्थिरो भवति । स कः 'अप्पा' आत्मा । कथम्भूतः स्थिरो भवति'अप्पम्मि रओ' सहजशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकपरमसमाधिसमुद्भूतसर्वप्रदेशाल्हादजनकसुखास्वादपरिणतिसहिते निजात्मनि रतः परिणतस्तल्लीयमानस्तच्चित्तस्तन्मयो भवति । 'इणमेव परं हवे ज्झाणं' इदमेवात्मसुखरूपे तन्मयत्वं निश्चयेन परमुत्कृष्टं ध्यानं भवति।

व्याख्यार्थः—हे ज्ञानी जनो ! "मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि" नित्य निरंजन और क्रियारहित ऐसा जो निजशुद्ध आत्माका अनुभव है उसको रोकनेवाला जो शुभ अशुभ चेष्टारूप कायका व्यापार है उसको, इसी प्रकार शुभ अशुभ-अन्तरंग तथा वहिरंगरूप वचनके व्यापारको और इसी प्रकार शुभ अशुभ विकल्पोंके समूहरूप मनके व्यापारको कुछ भी मत करो "जेण होइ थिरो" जिन मन, वचन और कायस्वरूप तीनों योगोंके रोकनेसे स्थिर होता है; वह कौन ? "अप्पा" आत्मा कैसा स्थिर होता है! "अपम्मि रओ" सहज शुद्ध ज्ञान और दर्शन स्वभावको धारण करनेवाला जो परमात्मतत्त्व है उसके-सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान तथा आचरण करनेरूप जो अभेदरत्नत्रय है उस स्वरूप जो परम ध्यान है उससे उत्पन्न और सव प्रदेशोंको आनंद पैदा करनेवाला ऐसा जो सुख उसके आस्वादरूप परिणति सहित निज आत्मामें परिणत, तल्लीन, तन्मय तथा तच्चित्त होकर स्थिर होता है "इणमेव परं हवे ज्झाणं" यही जो आत्माके सुखरूपमें परिणमन होना है वह निश्चयसे परम अर्थात् उत्कृष्ट ध्यान होता है ॥

तस्मिन् ध्याने स्थितानां यद्वीतरागपरमानन्दसुखं प्रतिभाति, तदेव निश्चयमोक्षमार्गस्वरूपम् । तच्च पर्यायनामान्तरेण किं किं भण्यते तदभिधीयते । तदेव शुद्धात्मस्वरूपं, तदेव परमात्मस्वरूपं, तदेवैकदेशव्यक्तिरूपविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन स्वशुद्धात्मसम्वित्तिसमुत्पन्नसुखामृतजलसरोवरे रागादिमलरहितत्वेन परमहंसस्वरूपम् । इदमेकदेशव्यक्तिरूपं शुद्धनयव्याख्यानमत्र परमात्मध्यानभावनानाममालायां यथा सम्भवं सर्वत्र योजनीयमिति।

उस परमध्यानमें स्थित हुए जीवोंको जो वीतरागपरमानंद सुख प्रति भासता है वही निश्चयमोक्षमार्गस्वरूप है । वह दूसरे पर्यायनामोंसे क्या २ कहलाता है अर्थात् उसको किन २ नामोंसे लोग कहते हैं सो कथन किया जाता है । वही शुद्ध आत्माका स्वरूप है, वही परमात्माका स्वरूप है, वही एक देशमें प्रकटतारूप ऐसे विवक्षित एक देशशुद्धनिश्चयनयसे निजशुद्ध आत्माके ज्ञानसे उत्पन्न जो सुख वही हुआ जो अमृतजलका सरोवर उसमें राग आदि मलोंसे रहित होनेके कारण परमहंस स्वरूप है । "इस परमात्मध्यानके भावनाके नामोंकी मालामें इस एकदेशव्यक्तिरूप शुद्धनयके व्याख्यानको यथासंभव सब जगँह लगा लेना चाहिये अर्थात् यथासंभव ये सब नाम एकदेशशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे हैं ऐसा समझना चाहिये ।

तदेव परब्रह्मस्वरूपं, तदेव परमविष्णुस्वरूपं, तदेव परमशिवस्वरूपं, तदेव परमबुद्धस्वरूपं,

तदेव परमनिजस्वरूपं, तदेव परमस्वात्मोपलब्धिलक्षणं सिद्धस्वरूपं, तदेव निरञ्जनस्वरूपं, तदेव निर्मलस्वरूपं, तदेव स्वसम्वेदनज्ञानं, तदेव परमतत्त्वज्ञानं, तदेव शुद्धात्मदर्शनं, तदेव परमावस्थास्वरूपं, तदेव परमात्मनः दर्शनं, तदेव परमतत्त्वज्ञानं, तदेव शुद्धात्मदर्शनं, तदेव ध्येयभूतशुद्धपारिणामिकभावरूपं, तदेव ध्यानभावनास्वरूपं, तदेव शुद्धचारित्रं, तदेवान्तस्तत्त्वं, तदेव परमतत्त्वं, तदेव शुद्धात्मद्रव्यं, तदेव परमज्योतिः, सैव शुद्धात्मानुभूतिः, सैवात्मप्रतीतिः, सैवात्मसम्वित्तिः, सैव स्वरूपोपलब्धिः, स एव नित्योपलब्धिः, स एव परमसमाधिः, स एव परमानन्दः, स एव नित्यानन्दः, स एव सहजानन्दः, स एव सदानन्दः, स एव शुद्धात्मपदार्थाध्ययनरूपः, स एव परमस्वाध्यायः, स एव निश्चयमोक्षोपायः, स एव चैकाग्रचिन्तानिरोधः, स एव परमबोधः, स एव शुद्धोपयोगः, स एव परमयोगः, स एव भूतार्थः, स एव परमार्थः, स एव निश्चयपश्चाचारः, स एव समयसारः, स एवाध्यात्मसारः, तदेव समतादिनिश्चयषडावश्यकस्वरूपं, तदेवाभेदरत्नत्रयस्वरूपं, तदेव वीतरागसामायिकं, तदेव परमशरणोत्तममङ्गलं, तदेव केवलज्ञानोत्पत्तिकारणं, तदेव सकलकर्मक्षयकारणं, सैव निश्चयचतुर्विधाराधना, सैव परमात्मभावना, सैव शुद्धात्मभावनोत्पन्नसुखानुभूतिरूपपरमकला, सैव दिव्यकला, तदेव परमाद्वैतं, तदेव परमामृतपरमधर्मध्यानं, तदेव शुक्लध्यानं, तदेव रागादिविकल्पशून्यध्यानं, तदेव निष्कलध्यानं, तदेव परमस्वास्थ्यं, तदेव परमवीतरागत्वं, तदेव परमसाम्यं, तदेव परमैकत्वं, तदेव परमभेदज्ञानं, स एव परमसमरसीभावः, इत्यादिसमस्तरागादिविकल्पोपाधिरहितपरमाल्हादैकसुखलक्षणध्यानरूपस्य निश्चयमोक्षमार्गस्य वाचकान्यन्यान्यपि पर्यायनामानि विज्ञेयानि भवन्ति परमात्मतत्त्वविद्भिरिति ॥ ५६ ॥

वही परमब्रह्मस्वरूप है, वही परमविष्णुरूप है, वही परमशिवस्वरूप है, वही परमबुद्धस्वरूप है, वही परमनिजस्वरूप है, वही परम निज आत्माकी प्राप्तिरूप लक्षणका धारक जो सिद्ध है उसरूप है, वही निरंजनरूप है, वही निर्मल (कर्ममलरहित) स्वरूपका धारक है, वही स्वसंवेदन ज्ञान है, वही परमतत्त्वज्ञान है, वही शुद्धात्माका दर्शन है, वही परम (उत्कृष्ट) अवस्थास्वरूप है, वही परमात्माका दर्शन है, वही परम तत्त्वज्ञान है, वही शुद्धात्मदर्शन है, वही ध्यान करनेयोग्य जो शुद्ध पारिणामिकभाव है उस रूप है, वही ध्यानभावनास्वरूप है, वही शुद्ध चारित्र है, वही अन्तरंगका तत्त्व है, वही परम (उत्कृष्ट) तत्त्व है, वही शुद्ध आत्मा द्रव्य है, वही परम ज्योतिः (ज्ञान) है, वही शुद्ध आत्माकी अनुभूति है, वही आत्माकी प्रतीति है, वही आत्माकी संवित्ति अर्थात् साक्षात्कार है, वही निजआत्मस्वरूपकी प्राप्ति है, वही नित्य पदार्थकी प्राप्ति है, वही परम समाधि है, वही परम आनंद है, वही नित्य आनन्द है, वही स्वभावसे उत्पन्न हुआ आनंद है, वही सदानंद है, वही शुद्ध आत्मपदार्थके पठनरूप स्वरूपका धारक है, वही परम स्वाध्याय है, वही निश्चय मोक्षका उपाय है, वही एकाग्रचिंताओंका निरोध है, वही परमज्ञान है, वही शुद्ध उपयोग है, वही परम योग है, वही भूतार्थ है वही परमार्थ है, वही निश्चयनयके अनुसार जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्यरूप पांच प्रकारका आचार

है उस स्वरूप है, वही समयसार है, वही अध्यात्मसार है, वही समता आदिरूप जो निश्चयनयसे ६ आवश्यक हैं उन स्वरूप है, वही अभेद रत्नत्रयरूप है, वही वीतराग सामायिक है, वही परमशरणोत्तम मंगल है, वही केवल ज्ञानोत्पत्तिका कारण है, वही समस्त कर्मोंके नाशका कारण है, वही निश्चयनयकी अपेक्षासे जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपभेदोंसे चार प्रकारकी आराधना है उस स्वरूप है, वही परमात्माकी भावनारूप है, वही शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न जो सुख उसकी अनुभूतिरूप परमकला है, वही दिव्य कला है, वही परम अद्वैत है, वही परम अमृतस्वरूप परम धर्मध्यान है, वही शुक्लध्यान है, वही राग आदि विकल्पोंरहित ध्यान है, वही निष्कल ध्यान है वही परम स्वास्थ्य है, वही परम, वीतरागतारूप है, वही परमसमतास्वरूप है, वही परम एकत्व है, वही परम भेदज्ञान हैं, वही परम समरसीभाव है। इनको आदि ले, संपूर्ण राग आदि विकल्पोंकी उपाधिसे रहित और परम आल्हादकसुखरूप लक्षणका धारक जो ध्यान है उस स्वरूप जो निश्चय मोक्षमार्ग है उसको कहनेवाले अन्य भी बहुतसे पर्यायी नाम परमात्मतत्त्वको अर्थात् परमात्माके स्वरूपको जाननेवाले जो भव्य जीव हैं उनको जान लेने चाहियें ॥ ५६ ॥

अतः परं यद्यपि पूर्वं बहुधा भणितं ध्यातृपुरुषलक्षणं ध्यानसामग्री च तथापि चूलिकोपसंहाररूपेण पुनरप्याख्याति ।

अब इसके आगे 'यद्यपि पहिले ध्यान करनेवाले पुरुषका लक्षण और ध्यानकी सामग्रीका कई प्रकारसे वर्णन कर चुके हैं; तोभी चूलिका और उपसंहाररूपसे फिर भी ध्याता पुरुष और ध्यानसामग्रीका कथन करते हैं।

गाथा। तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥ ५७ ॥

गाथाभावार्थः—क्योंकि, तप, श्रुत और व्रतका धारक जो आत्मा है वही ध्यानरूपी रथकी धुराको धारण करनेवाला होता है। इसकारण हे भव्यजनो! तुम उस ध्यानकी प्राप्तिके अर्थ निरन्तर तप, श्रुत और व्रत इन तीनोंमें तत्पर होवो ॥ ५७ ॥

व्याख्या। 'तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा' तपश्रुतव्रतवानात्मा चेतयिता ध्यानरथस्य धुरन्धरो समर्थो भवति 'जम्हा' यस्मात् 'तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह' तस्मात् कारणात् तपश्रुतव्रतानां संबन्धेन यत्त्रितयं तत् त्रितये रता सर्वकाले भवत हेभव्याः! किमर्थं! तस्य ध्यानस्य लब्धिस्तल्लब्धिस्तदर्थमिति। तथाहि—अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशभेदेन बाह्यं षड्विधं, तथैव प्रायश्चित्तविनयवैय्यावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानभेदेनाऽभ्यन्तरमपि षड्विधं चेति द्वादशविधं तपः। तेनैव साध्यं शुद्धात्मस्वरूपे प्रतपनं विजयनं निश्चयतपश्च। तथैवाचाराराधनादिद्रव्यश्रुतं, तदाधारेणोत्पन्नं

---

१ तत्तिदयरदा इत्यपि पाठः।

निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानरूपं भावश्रुतं च। तथैव च हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणां द्रव्यभावरूपाणां परिहरणं व्रतपञ्चकं चेति । एवमुक्तलक्षणतपःश्रुतव्रतसहितो ध्याता पुरुषो भवति। इयमेव ध्यानसामग्री चेति। तथाचोक्तं—"वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता। परीषहजयश्चेति पञ्चैते ध्यानहेतवः । १ ।

व्याख्यार्थः—"तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा" जिस कारणसे कि तप, श्रुत और व्रतका धारक आत्मा ध्यानरूपी रथकी धुराको धारण करनेके लिये समर्थ होता है । "तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह" इस कारणसे हे भव्यो! उस ध्यानकी प्राप्तिके अर्थ तप श्रुत और व्रतोंके संबंधसे जो त्रितय है उस त्रितयमें अर्थात् तपः श्रुत तथा व्रत इन तीनोंके समुदायमें सर्वकाल (निरन्तर) तत्पर होवो। अब इसीका विशेष वर्णन करते हैं कि—अनशन (उपवासका करना) १ अवमौदर्य्य (कम भोजन करना) २ वृत्तिपरिसंख्यान (अटपटी वृत्तिको ग्रहण करके भोजन करने जाना) ३ रसपरित्याग (छःरसोंमेंसे एक दो आदिरसोंका त्याग करना) ४ विविक्तशय्यासन (निर्जन और शुद्ध स्थलमें शयन करना व बैठना) ५ कायक्लेश (शक्तिके अनुसार शरीरसे परिश्रम लेना) ६ इन भेदोंसे छः प्रकारका वाह्य तप और इसी प्रकार प्रायश्चित्त १ विनय २ वैयावृत्य ३ स्वाध्याय ४ कायोत्सर्ग ५ और ध्यान ६ इन भेदोंसे छःप्रकारका अन्तरंग तप ऐसे वाह्य तथा अभ्यन्तर दोनों तपोंके भेदोंको मिलानेसे बारह प्रकारका व्यवहारतप है । और उसी व्यवहारतपसे सिद्ध होने योग्य निज शुद्ध आत्माके स्वरूपमें प्रतपन अर्थात् विजय करने रूप निश्चयतप है। इसी प्रकार मूलाचार भगवतीआराधना आदि द्रव्यश्रुत, तथा उन शास्त्रोंके आधारसे अर्थात् पटन पाठनसे उत्पन्न हुआ और विकाररहित निज शुद्ध आत्माके जाननेरूप ज्ञानका धारक भावश्रुत है । तथा इसीप्रकार द्रव्य और भावरूप जो हिंसा, अनृत (झूंठ) स्तेय (चोरी) अब्रह्म (कुशील) और परिग्रह हैं इनके त्यागरूप पांचव्रत हैं । ऐसे कहे हुए लक्षणके धारक जो तप, श्रुत और व्रत हैं इनसे सहित हुआ पुरुष ध्याता (ध्यानकरनेवाला) होता है । और इन तप, श्रुत तथा व्रतरूप ही ध्यानकी सामग्री है। सो ही कहा है कि "वैराग्य १ तत्त्वोंका ज्ञान २ वाह्य अभ्यन्तर रूप दोनोंपरिग्रहोंसे रहितपना ३ राग और द्वेषकी रहिततारूप साम्यभावका होना ४ और २२ परीषहोंका जीतना ५ ये पांचों ध्यानके कारण हैं । १ ।"

भगवन् ध्यानं तावन्मोक्षमार्गभूतम्। मोक्षार्थिना पुरुषेण पुण्यबन्धकारणत्वाद्व्रतानि त्याज्यानि भवन्ति,भवद्भिः पुनर्ध्यानसामग्रीकारणानि तपःश्रुतव्रतानि व्याख्यातानि,तत्कथं घटत इति। तत्रोत्तरं दीयते—व्रतान्येव केवलानि त्याज्यान्येवं न किन्तु पापबन्धकारणानि हिंसादिविकल्परूपाणि यान्यव्रतानि तान्यपि त्याज्यानि । तथाचोक्तं पूज्य पादस्वामिभिः—"अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः । अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥१॥ किंत्वव्रतानि पूर्वं

२ वशचित्तता इत्यपि पाठः ।

परित्यज्य ततश्च व्रतेषु तन्निष्ठो भूत्वा निर्विकल्पसमाधिरूपं परमात्मपदं प्राप्य पश्चादेकदेशव्रतान्यपि त्यजति। तदप्युक्तं तैरेव—"अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः। त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥ १ ॥"

यहां शिष्य शंका करता है कि, हे आचार्यभगवान्! ध्यानतो मोक्षका मार्गभूत है अर्थात् मोक्षका कारण है। और जो मोक्षको चाहनेवाला पुरुष है उसको पुण्यबंधके कारण होनेसे व्रत त्यागने योग्य हैं अर्थात् व्रतोंसे पुण्यका बंध होताहै; और पुण्यबंध संसारका कारण है; इसलिये मोक्षार्थी व्रतोंका त्याग करता है। और आपने तप श्रुत और व्रतोंको ध्यानकी पूर्णताके कारण कहे सो यह आपका कथन कैसे घटता (सिद्ध होता) है? । अब इस शंकाका उत्तर दिया जाता है कि, केवल व्रत ही त्यागने योग्य हैं ऐसा नहीं किंतु पापबंधके कारण जो हिंसा अदि भेदोंके धारक अव्रत हैं वे भी त्यागने योग्य हैं। सो ही श्रीपूज्यपादस्वामीने कहा है कि, "हिंसा आदि अव्रतोंसे पापका बंध होता है; और अहिंसादि व्रतोंसे पुण्यका बंध होता है; तथा मोक्ष जो है वह पाप व पुण्य इन दोनोंके नाशसे होता है; इस कारण मोक्षको चाहनेवाला पुरुष जैसे अव्रतोंका त्याग करता है; वैसे ही अहिंसादिव्रतोंका भी त्याग करै। १।" विशेष यह है कि मोक्षार्थी पुरुष पहले अव्रतोंका त्याग करके पश्चात् व्रतोंका धारक होकर निर्विकल्प–समाधि (ध्यान) रूप आत्माके परम पदको प्राप्त होकर तदनन्तर एकदेशव्रतोंका भी त्याग कर देता है। यह भी उन्हीं श्रीपूज्यपादस्वामीने समाधिशतकमें कहा है कि "मोक्षको चाहनेवाला पुरुष अव्रतोंका त्याग करके व्रतोंमें स्थित होकर आत्माके परम पदको पावै और उस आत्माके परम पदको प्राप्त होकर उन व्रतोंका भी त्याग करै। १।"

अयं तु विशेषः–व्यवहाररूपाणि यानि प्रसिद्धान्येकदेशव्रतानि तानि त्यक्तानि। यानि पुनः सर्वशुभाशुभनिवृत्तिरूपाणि निश्चयव्रतानि तानि त्रिगुप्तिलक्षणस्वशुद्धात्मसम्वित्तिरूपनिर्विकल्पध्याने स्वीकृतान्येव न च त्यक्तानि। प्रसिद्धमहाव्रतानि कथमेकदेशरूपाणि जातानि। इति चेत्तदुच्यते—जीवघातनिवृत्तौ सत्यामपि जीवरक्षणे प्रवृत्तिरस्ति। तथैवासत्यवचनपरिहारेऽपि सत्यवचनप्रवृत्तिरस्ति। तथैव चादत्तादानपरिहारेऽपि दत्तादाने प्रवृत्तिरस्तीत्याद्येकदेशप्रवृत्त्यपेक्षया देशव्रतानि। तेषामेकदेशव्रतानां त्रिगुप्तिलक्षणनिर्विकल्पसमाधिकाले त्यागः। न च समस्तशुभाशुभनिवृत्तिलक्षणस्य निश्चयव्रतस्येति। त्यागः कोऽर्थः। यथैव हिंसादिरूपाव्रतेषु निवृत्तिस्तथैकदेशव्रतेष्वपि। कस्मादिति चेत्—त्रिगुप्तावस्थायां प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपविकल्पस्य स्वयमेवावकाशो नास्ति। अथवा वस्तुतस्तदेव निश्चयव्रतम्। कस्मात्—सर्वनिवृत्तित्वादिति। योऽपि घटिकाद्वयेन मोक्षं गतो भरतश्चक्री सोऽपि जिनदीक्षां गृहीत्वा विषयकषायनिवृत्तिरूपं क्षणमात्रं व्रतपरिणामं कृत्वा पश्चाच्छुद्धोपयोगत्वरूपरत्नत्रयात्मके निश्चयव्रताभिधाने वीतरागसामायिकसंज्ञे निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा केवलज्ञानं लब्धवानिति। परं किन्तु तस्य स्तोककालत्वाल्लोका व्रतपरिणामं न जानन्तीति। तदेव भरतस्य दीक्षाविधानं कथ्यते। हे भगवन् जिनदीक्षादानानन्तरं भरतचक्रिणः कियति काले केवलज्ञानं जातमिति श्रीवीरवर्द्धमानस्वामितीर्थंकरपरमदेवसमवसरणमध्ये श्रेणिकमहाराजेन पृष्टे सति गौतमस्वामी

आह । " पञ्चमुष्टिभिरुत्पाट्य त्रोट्यन् बन्धस्थितीन् कचान्। लोचानन्तरमेवापद्राजन् श्रेणिक केवलम् । १ ।"

इस पूर्वकथनमें विशेष यह है कि, मन वचन और कायकी गुप्तिरूप और निज शुद्ध आत्माके ज्ञानस्वरूप जो निर्विकल्पध्यान है उसमें व्यवहाररूप जो प्रसिद्ध एकदेशव्रत हैं उनका त्याग किया है। और जो संपूर्ण शुभ तथा अशुभ की निवृत्तिरूप निश्चयव्रत हैं उनका स्वीकार ही किया गया है और त्याग नहीं किया गया है। प्रसिद्ध जो अहिंसादि महाव्रत हैं वे एकदेशरूप कैसे हो गये? ऐसी शंका करो तो समाधानरूप उत्तर यह है कि, अहिंसा महाव्रतमें यद्यपि जीवोंके घात (मारने) से निवृत्ति (रहितता) है; तथापि जीवोंकी रक्षा करनेमें प्रवृत्ति है। इसी प्रकार सत्य महाव्रतमें यद्यपि असत्य वचनका त्याग है, तो भी सत्यवचनमें प्रवृत्ति है । और अचौर्यमहाव्रतमें यद्यपि नहीं दिये हुए पदार्थके ग्रहण करनेका त्याग है, तो भी दिये हुए पदार्थके ग्रहण करनेमें प्रवृत्ति है। इत्यादि एकदेशप्रवृत्तिकी अपेक्षासे ये पांचों महाव्रत देशव्रत हैं । इन एकदेशरूप व्रतोंका मन, वचन और कायकी गुप्ति स्वरूप जो विकल्परहित ध्यान है उसके समयमें त्याग है । और समस्त शुभ तथा अशुभकी निवृत्तिरूप जो निश्चयव्रत है उसका त्याग नहीं है । प्रश्न–त्याग इस शब्दका क्या अर्थ है? उत्तर–जैसे हिंसा आदि रूप पांच अव्रतोंमें रहितपना है उसी प्रकार जो अहिंसा आदि पंचमहाव्रतरूप एकदेशव्रत हैं उनमें रहितपना है यही यहां त्याग शब्दका अर्थ है। इन एकदेशव्रतोंका त्याग किस कारणसे होता है? ऐसा पूछो तो उत्तर यह है कि, मन वचन और काय इन तीनोंकी गुप्तिरूप जो अवस्था है; उसमें प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप जो विकल्प है; उसका स्वयं ही अवकाश नहीं है, अर्थात् मन, वचन और कायकी गुप्तिरूप ध्यानमें कोई प्रकारका भी विकल्प नहीं होता और अहिंसादि महाव्रत विकल्परूप हैं इस लिये वे त्रिगुप्तिरूप ध्यानमें नहीं रह सकते हैं। और जो दीक्षाके पश्चात् दो घटिका (घडी) प्रमाणकालमें ही श्रीभरतचक्रवर्ती मोक्ष पधारे हैं उन्होंने भी जिनदीक्षाको ग्रहण करके, क्षणमात्र (थोड़े समयतक) विषय और कषायोंकी रहितता-रूप जो व्रतका परिणाम है उसको करके तत्पश्चात् शुद्धोपयोगरूप जो रत्नत्रय उस स्वरूप जो निश्चयव्रत नामका धारक और वीतरागसामायिक नामका धारक निर्विकल्प ध्यान है उसमें स्थित होकर केवलज्ञानको प्राप्त हुए हैं । परन्तु श्रीभरतजीके जो थोड़े समय व्रत-परिणाम रहा इस कारण लोग श्रीभरतजीके व्रतपरिणामको नहीं जानते हैं। अब उसी श्री-भरतजीकी दीक्षाके विधानका कथन करते हैं। श्री–वीर वर्द्धमानस्वामी तीर्थंकर परमदेवके समवसरणमें श्रेणिकमहाराजने प्रश्न किया कि 'हे भगवान्! श्रीभरतचक्रवर्तीके जिन-दीक्षाको ग्रहण करनेके पीछे कितने कालमें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ' इस पर श्रीगोतमस्वामी गणधरदेवने उत्तर दिया कि "हे श्रेणिक राजन्? बंधके कारणभूत जो केश (बाल) हैं उनको

पांच मुष्टियोंसे उखाड़कर तोड़ते हुए ही अर्थात् पंचमुष्टी लोचकरनेके अनन्तर ही श्रीभरतचक्रवर्ती केवलज्ञानको प्राप्त हुए। १।"

अत्राह शिष्यः। अद्य काले ध्यानं नास्ति। कस्मादिति चेत्—उत्तमसंहननाभावाद्दशचतुर्दशपूर्वगतश्रुतज्ञानाभावाच्च। अत्र परिहारः। शुक्लध्यानं नास्ति धर्मध्यानमस्तीति। तथाचोक्तं मोक्षप्राभृते श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः "भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ णाणिस्स। तं अप्पसहावठि एणहुमण्णइ सो दु अण्णाणी। १। अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा ज्झाऊण लहइ इंदत्तं। लोयंतियदेवत्तं तच्छचुदा णिव्वुदिं जंति।२।" तथैव तत्त्वानुशासनग्रन्थे चोक्तं "अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः। धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्त्तिनाम्।१।" यथोक्तमुत्तमसंहननाभावात्तदुत्सर्गवचनम्। अपवादव्याख्यानेन पुनरुपशमक्षपकश्रेण्योः शुक्लध्यानं भवति, तच्चोत्तमसंहननेनैव। अपूर्वगुणस्थानादधस्तनेषु गुणस्थानेषु धर्मध्यानं, तच्चादिमत्रिकोत्तमसंहननाभावेऽप्यन्तिमत्रिकसंहननेनापि भवति। तदप्युक्तं तत्रैव तत्त्वानुशासने "यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः। श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नोऽधस्तान्निषेधकम्। १।" यथोक्तं दशचतुर्दशपूर्वगतश्रुतज्ञानेन ध्यानं भवति तदप्युत्सर्गवचनम्। अपवादव्याख्यानेन पुनः पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकसारभूतश्रुतेनापि ध्यानं भवति केवलज्ञानञ्च! यद्येवमपवादव्याख्यानं नास्ति तर्हि "तुसमासं घोसन्तो सिवभूदी केवली जादो" इत्यादिगन्धर्वाराधनादिभणितं व्याख्यानं कथं घटते।

अब यहांपर शिष्य कहता है कि, भो गुरो! इस पंचम कालमें ध्यान नहीं है। क्यों नहीं है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि इस कालमें उत्तमसंहननका अर्थात् वज्र, वृषभ और नाराच संहननोंका अभाव है और दश तथा चौदहपूर्वपर्यन्त श्रुतज्ञानका अभाव है। अब आचार्य महाराज इस शिष्यकी शंकाको दूर करते हैं कि, हे शिष्य! इस समयमें शुक्लध्यान नहीं है परंतु धर्मध्यानतो है ही है। सो ही श्रीकुन्दकुन्द आचार्यस्वामी मोक्षप्राभृत (मोक्षपाहुड)-में कहते हैं कि, "भरतक्षेत्रमें जो दुःषमा अर्थात् पंचमकाल है उसमें ज्ञानी जीवके धर्मध्यान होता है। उसको जो कोई आत्माके स्वभावमें स्थित नहीं मानता है वह अज्ञानी है।१। क्योंकि इस समय भी जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय है उससे शुद्ध हुए जीव आत्माका ध्यान करके इन्द्रपनेको अथवा लौकान्तिकदेवपनेको प्राप्त होते हैं। और वहांसे चयकर नरपर्यायको ग्रहण करके उसी भवमें मोक्षको जाते हैं। २।" और इसीप्रकार तत्त्वानुशासन नामक ग्रन्थमें भी कहा है कि, "इस समय (पंचमकाल) में श्री जिनेन्द्रदेव शुक्लध्यानका निषेध करते हैं; अर्थात् इससमयमें शुक्लध्यान नहीं होता ऐसा उपदेश देते हैं; और उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणी इन दोनों श्रेणियोंसे पहिले रहनेवाले जीवोंके धर्मध्यान होता है ऐसा कथन करते हैं। १।" और हे शिष्य! तुमने जो यह कहाकि 'इस कालमें उत्तमसंहननका अभाव है इस कारण ध्यान नहीं होता' सो यह उत्सर्गवचन है। अपवादरूप व्याख्यानसे तो उपशमश्रेणी तथा

क्षपकश्रेणीमें शुक्लध्यान होता है और वह उत्तमसंहनन से ही होता है। और अपूर्वकरण नामक ८ वें गुणस्थानसे नीचेके जो गुणस्थान हैं उनमें धर्मध्यान होता है। और वह धर्मध्यान वज्र १ वृषभ २ नाराच ३ इन आदिके तीन उत्तम संहननोंका अभाव होनेपर अन्तके जो अर्द्धनाराच १ कीलक २ और स्फाटिक नामक तीन संहनन हैं उनसे भी होता है। यह विषय भी उसी तत्त्वानुशासन नामक ग्रन्थमें कहा है कि, "और जो वज्र काय (संहनन) के धारकके ध्यान होता है" ऐसा आगममें वचन है वह उपशम तथा क्षपक श्रेणीके ध्यानको प्रतीतिगोचर करके कहा है; इस कारण यह वचन नीचेके गुणस्थानोंमें धर्मध्यानका निषेध करनवाला नहीं है। तथा जो ऐसा कहा है कि 'दश तथा चौदहपूर्व गत श्रुतज्ञानसे ध्यान होता है' वह भी उत्सर्गका वचन है। और अपवादके व्याख्यानसे तो पांच समिति और तीन गुप्तिको प्रतिपादन करनेवाला सारभूत श्रुतज्ञान है उससे भी ध्यान और केवलज्ञान होता है। जो ऐसा अपवाद व्याख्यान न हो तो "तुष मापका उच्चारण (अभ्यास) करते हुए श्रीशिवभूति मुनी केवलज्ञानी होगये" इत्यादि गंधर्वाराधनादि ग्रंथोंमें कहा हुआ कथन कैसे सिद्ध होवे।

अथ मतं-पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकं द्रव्यश्रुतमिति जानाति। इदं भावश्रुतं पुनःसर्वमस्ति। नैवं वक्तव्यम्। यदि पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकं द्रव्यश्रुतं जानाति तर्हि 'मा रूसह मा तूसह' इत्येकं पदं किं न जानाति। तत एव ज्ञायतेऽष्टप्रवचनमातृप्रमाणमेव भावश्रुतं, द्रव्यश्रुतं पुनः किमपि नास्ति। इदन्तु व्याख्यानमस्माभिर्न कल्पितमेव। तच्चारित्रसारादिग्रन्थेष्वपि भणितमास्ते। तथाहि—अन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं ये केवलज्ञानमुत्पादयन्ति ते क्षीणकषायगुणस्थानवर्त्तिनो निर्ग्रन्थसंज्ञा ऋषयो भण्यन्ते। तेषां चोत्कर्षेण चतुर्दशपूर्वादिश्रुतं भवति, जघन्येन पुनः पञ्चसमितित्रिगुप्तिमात्रमेवेति।

अब कदाचित् ऐसा मत हो कि, शिवभूतिमुनी पांच समिति और तीन गुप्तियोंको प्रतिपादन करनेवाले द्रव्यश्रुत (शास्त्र) को जानते थे और यह भावश्रुत उनके संपूर्ण रूपसे था सो ठीक नहीं। क्योंकि, यदि शिवभूतिमुनि पांच समिति और तीन गुप्तियोंका कथन करनेवाले द्रव्यश्रुत (शास्त्र) को जानते थे तो उन्होंने "मातूसह मारूसह" अर्थात् किसीमें राग और द्वेष मत कर इस एक पदको क्यों नहीं जाना। इसी कारणसे जाना जाता है कि पांच समिति और तीन गुप्तियों रूप जो आठ प्रवचन मातायें हैं उन प्रमाण ही उनके भावश्रुत था और द्रव्यश्रुत कुछ भी नहीं था। और यह व्याख्यान हमने ही नहीं कल्पित किया है; किंतु 'चारित्रसार' आदि शास्त्रोंमें भी यह वर्णन किया हुआ है। सो ही दिखलाते हैं—अन्तर्मुहूर्त्तके पीछे जो केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं वे क्षीणकषाय नामक १२ वें गुणस्थानमें रहने वाले निर्ग्रन्थ संज्ञाके धारक ऋषी कहलाते हैं, और उनके उत्कृष्ट-

तासे ग्यारह अंग चौदह पूर्वपर्यन्त श्रुत ज्ञान होता है, और जघन्यरीतिसे पांच समिति तथा तीन गुप्तियों मात्र ही श्रुतज्ञान होता है।

अथ मतं—मोक्षार्थं ध्यानं क्रियते न चाद्य काले मोक्षोऽस्ति; ध्यानेन किं प्रयोजनम्। नैवं—अद्य कालेऽपि परम्परया मोक्षोऽस्ति। कथमिति चेत् स्वशुद्धात्मभावनाबलेन संसारस्थितिं स्तोकां कृत्वा देवलोकं गच्छति, तस्मादागत्य मनुष्यभवे रत्नत्रयभावनां लब्ध्वा शीघ्रं मोक्षं गच्छतीति। येऽपि भरतसगररामपाण्डवादयो मोक्षं गतास्तेपि पूर्वभवेऽभेदरत्नत्रयभावनया संसार स्थितिं तोकां कृत्वा पश्चान्मोक्षं गताः। तद्भवे सर्वेषां मोक्षो भवतीति नियमो नास्ति। एवमुक्तप्रकारेण अल्पश्रुतेनापि ध्यानं भवतीति ज्ञात्वा किं कर्त्तव्यम्—"वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः। आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः।१। संकल्पकल्पतरुसंश्रयणात्त्वदीयं चेतो निमज्जति मनोरथसागरेऽस्मिन्। तत्रार्थतस्तव चकास्ति न किं च नापि पक्षे परं भवति कल्मषसंश्रयस्य।२। दौर्विध्यदग्धमनसोऽन्तरुपात्तभुक्तेश्चित्तं यथोल्लसति ते स्फुरितोत्तरङ्गम्। धाम्नि स्फुरेद्यदि तथा परमात्मसंज्ञे कौतस्कुती तव भवेद्विफला प्रसूतिः।३। कं खिद कलुसिदभूतो कामभोगेहि मुच्छिदो जीवो। ण य भुंजंतो भोगे बन्धदि भावेण कम्माणि।४।" इत्याद्यपध्यानं त्यक्ता—ममत्तिं परिवज्जामि णिममत्तिमुवट्ठिदो। आलंवणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे।१।आदा क्खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य। आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे। २। एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो। सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोयलक्खणा।३। इत्यादिसारपदानि गृहीत्वा च ध्यानं कर्त्तव्यमिति।

अब कदाचित् तुह्मारा यह मत हो कि,—मोक्षके लिये ध्यान किया जाता है और मोक्ष इस पंचम कालमें होता नहीं है इस कारण ध्यानके करनेसे क्या प्रयोजन है। सो यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं। क्योंकि, इस पंचमकालमें भी परंपरासे मोक्ष है। परंपरासे मोक्ष कैसे है? ऐसा पूछा तो उत्तर यह है कि; ध्यानी पुरुष निजशुद्ध आत्माकी भावनाके वलसे संसारकी स्थितिको अल्प करके अर्थात् वहुतसे कर्मोंकी निर्जरा करके स्वर्गमें जाता है। और वहांसे मनुष्यभवमें आकर रत्नत्रयकी भावनाको प्राप्त होकर शीघ्र ही मोक्षको चला जाता है और जो भरतचक्रवर्त्ती, सगरचक्रवर्त्ती, रामचंद्रजी तथा पांडव अर्थात् युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम आदि मोक्षको गये हैं; उन्होंने भी पूर्वभवमें अभेदरत्नत्रयकी भावनासे अपने संसारकी स्थितिको घटाली थी; इस कारण इस भवमें मोक्ष गये। उसी भवमें सबके मोक्ष हो जाता है ऐसा नियम नहीं है। ऐसे कहे हुए प्रकारसे अल्पश्रुतज्ञानसे भी ध्यान होता है। यह जानकर क्या करना चाहिये? "द्वेषसे वध (मारना) वन्ध (वांधना) छेद (किसी अंगको काटना) आदिका और रागसे परस्त्री आदिका जो चिंतवन करना है; उसको जिनमतमें निर्मल वुद्धिके धारक आचार्य अपध्यान (वुरा ध्यान) कहते हैं।१। हे जीव संकल्परूपी कल्पवृक्षका आश्रय करनेसे तेरा चित्त इस मनोरथ सागरमें डूव जाता है; और उस संकल्परूपी कल्पवृक्षका आश्रय करनेमें यद्यपि इष्टपदार्थका अनुभव होता है परन्तु

परमार्थसे तुझको कुछ भी नहीं भासता है; केवल निश्चयसे तू पापका भागी होता है ।२। निर्धनतासे दग्ध है मन जिसका ऐसा और संकल्पसे ग्रहण किया है भोजन जिसने ऐसा तेरा उत्कट मनोरथोंका धारक चित्त जैसे भोजनको लेनेके लिये प्रवृत्त होता है; वैसे ही यदि तू परमात्मा नामके धारक तेजमें वास्थानमें चित्तको करै तो तेरा जन्म कैसे निष्फल हो अर्थात् तेरा जन्म लेना सफल हो जावै ।३। कषायोंसे मलीन हुआ और कामभोगोंमें मूर्च्छित हुआ यह जीव कामभोगोंकी इच्छा करता है। और भोगोंको भोगता नहीं है तो भी भावोंसे कर्मोंको बांधता है।४।" इत्यादि रूप जो दुर्ध्यान है उसको छोड़कर और "निर्ममत्त्वमें स्थित होकर पर पदार्थोंमें जो ममकार (मेरी) बुद्धि है उसका मैं त्याग करता हूं; और मेरे आत्मा ही आलंबन (ध्यानका आधार) है; अन्य सबको मैं त्यागता हूं किंवा भूलता हूं । १ । मेरे आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही चारित्र है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है, आत्मा ही संवरका कारण है और आत्मा ही योग है । २ । मेरा ज्ञान–दर्शनरूप लक्षणका धारक एक आत्मा ही अविनाशी है, और बाकीके सब संयोगरूप लक्षणके धारक बाह्यभाव हैं उनका वियोग अवश्य होगा । ३ ।" इत्यादि सारभूत २ पदोंको ग्रहण करके ध्यान करना चाहिये ।

अथ मोक्षविषये पुनरपि नयविचारः कथ्यते। तथाहि मोक्षस्तावत् बन्धपूर्वकः॥ तथाचोक्तं मुक्तश्चेत् प्राक्भवेद्बन्धो नो बन्धो मोचनं कथम् । अबन्धे मोचनं नैव मुञ्चेरर्थो निरर्थकः ।१। बन्धश्च शुद्धनिश्चयनयेन नास्ति । तथा बन्धपूर्वको मोक्षोऽपि । यदि पुनः शुद्धनिश्चयेन बन्धो भवति तदा सर्वदैव बन्ध एव मोक्षो नास्ति । किंच—यथा शृङ्खलाबद्धपुरुषस्य बन्धच्छेदकारणभूतभावमोक्षस्थानीयं बन्धच्छेदकारणभूतं पौरुषं पुरुषस्वरूपं न भवति, तथैव शृङ्खलापुरुषयोर्यद्द्रव्यमोक्षस्थानीयं पृथक्करणं तदपि पुरुषस्वरूपं न भवति । किन्तु ताभ्यां भिन्नं यद्दृष्टं हस्तपादादिरूपं तदेव पुरुषस्वरूपम् । तथैव शुद्धोपयोगलक्षणं भावमोक्षस्वरूपं शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवति, तथैव तेन साध्यं यज्जीवकर्मप्रदेशयोः पृथक्करणं द्रव्यमोक्षरूपं तदपि जीवस्वभावो न भवति । किन्तु ताभ्यां भिन्नं यदनन्तज्ञानादिगुणस्वभावं फलभूतं तदेव शुद्धजीवस्वरूपमिति । अयमत्रार्थः—यथा विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन पूर्वं मोक्षमार्गो व्याख्यातस्तथा पर्यायमोक्षरूपो मोक्षोऽपि । न च शुद्धनिश्चयनयेनेति । यस्तु शुद्धद्रव्यशक्तिरूपः शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणपरमनिश्चयमोक्षः स च पूर्वमेव जीवे तिष्ठतीदानीं भविष्यतीत्येवं न । स एव रागादिविकल्परहिते मोक्षकारणभूते ध्यानभावनापर्याये ध्येयो भवति । न च ध्यानभावनापर्यायरूपः । यदि पुनरेकान्तेन द्रव्यार्थिकनयेनापि स एव मोक्षकारणभूतो ध्यानभावना पर्यायो भण्यते तर्हि द्रव्यपर्यायरूपधर्मद्वयाधारभूतस्य जीवधर्मिणो मोक्षपर्याये जाते सति यथा ध्यानभावनापर्यायरूपेण विनाशो भवति, तथा ध्येयभूतस्य जीवस्य शुद्धपारिणामिकलक्षणभावद्रव्यरूपेणापि विनाशः प्राप्नोति । न च द्रव्यरूपेण विनाशोऽस्ति । ततः स्थितं शुद्धपारिणामिकभावेन बन्धमोक्षौ न भवत इति ।

अब मोक्षके विषयमें फिर भी नयोंके विचारका कथन करते हैं । सो ही दिखलाते हैं

कि, मोक्ष जो है वह वन्धपूर्वक है अर्थात् जिसके पहले बंध होता है उसीके मोक्ष होता है। सो ही कहा है कि, 'जो यदि यह जीव मुक्त है तो पहले इस जीवके बंध अवश्य होना चाहिये। यदि कहो कि जीवके पहले वन्ध नहीं था तो जीवके मोचन (छूटना) कैसे हुआ? क्योंकि विना बंधे हुए जीवके मोचन नहीं हो सकता। इस लिये बंधको नहीं प्राप्त हुए जीवके माननेमें मुच् धातुका जो छूटने रूप अर्थ है वह व्यर्थ होता है॥ भावार्थ—जैसे कोई पुरुष पहले बंधा हुआ हो और फिर छूटै तव वह मुक्त कहलाता है। इसी प्रकार जो जीव पहले कर्मोंसे बंधा हुआ होता है उसीका मोक्ष होता है। और यह बन्ध शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे नहीं है। तथा बंधपूर्वक मोक्ष भी शुद्ध-निश्चयनयसे नहीं है। और यदि शुद्ध-निश्चयनयसे बंध होवे तो सदा ही इस आत्माके बंध रहै मोक्ष होवे ही नहीं। जैसे शृंखला (सांकल व जंजीर) से बंधे हुए पुरुषके, बंधके नाशका कारणभूत जो भावमोक्ष है उसके स्थानवाला जो शृंखलाके बंधको छेदनेका कारणभूत पौरुष (उद्यम) है वह पुरुषका स्वरूप नहीं है। और इसी प्रकार द्रव्यमोक्षके स्थानमें प्राप्त (एवजमें आया हुआ) जो शृंखला और पुरुष इन दोनोंका जुदा करना है वह भी पुरुषका स्वरूप नहीं है; किंतु उन पौरुष और पृथक्करणसे जुदा जो देखा हुआ हस्त पाद आदि रूप आकार है; वही पुरुषका स्वरूप है। उसी प्रकार शुद्धोपयोगलक्षण जो भाव मोक्षका स्वरूप है; वह शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे जीवका स्वरूप नहीं है। और उसी प्रकार उस भावमोक्षसे साध्य जो जीव और कर्मके प्रदेशोंको जुदा करने रूप द्रव्यमोक्षका स्वरूप है; वह भी जीवका स्वभाव नहीं है। किन्तु उन भावमोक्ष और द्रव्यमोक्षसे भिन्न जो फलभूत ज्ञान आदि गुणरूप स्वभाव है; वही शुद्ध जीवका स्वरूप है। यहां पर भावार्थ यह है कि, जैसे विवक्षित-एकदेशशुद्धनिश्चयनयसे पहिले मोक्षमार्गका व्याख्यान किया है; उसीप्रकार पर्यायमोक्षरूप जो मोक्ष है उसका कथन भी विवक्षित एकदेशशुद्धनिश्चयनयसे ही जानना चाहिये। और शुद्धनिश्चयनयसे नहीं। और जो शुद्ध-द्रव्यकी शक्तिरूप शुद्धपारिणामिक परमभावरूप लक्षणका धारक परमनिश्चयमोक्ष है वह तो जीवमें पहले ही विद्यमान है। वह परमनिश्चयमोक्ष जीवमें अव होगा ऐसा नहीं है। तथा राग आदि विकल्पोंसे रहित मोक्षका कारणभूत जो ध्यानभावनापर्याय है उसमें वही मोक्ष ध्येय होता है। और ध्यान भावनापर्यायरूप ध्येय नहीं है। और यदि एकान्त करके द्रव्यार्थिकनयसे भी वही मोक्ष-कारणभूत ध्यानभावना पर्याय कहा जावे तो; द्रव्य और पर्यायरूप दो धर्मोंका आधार जो जीवधर्मी है; उसके मोक्षपर्याय प्रकट होने पर जैसे ध्यानभावनापर्यायरूपसे विनाश होता है। उसी प्रकार ध्येयभूत जो जीव है उसका शुद्धपारिणामिकलक्षणभावद्रव्यरूपसे भी विनाश प्राप्त होता है। और द्रव्यरूपसे विनाश है नहीं। इस कारण शुद्धपारिणामिकभावसे जीवके वन्ध और मोक्ष नहीं होता है; यह कथन सिद्ध होगया।

अथात्मशब्दार्थः कथ्यते । अतधातुः सातत्यगमनेऽर्थे वर्त्तते । गमनशब्देनात्र ज्ञानं भण्यते 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति वचनात्' । तेन कारणेन यथासंभवं ज्ञानसुखादिगुणेषु आसमन्तात् अतति वर्त्तते यः स आत्मा भण्यते । अथवा शुभाशुभमनोवचनकायव्यापारैर्यथासम्भवं तीव्रमन्दादिरूपेण आसमन्तादतति वर्त्तते यः स आत्मा । अथवा उत्पादव्ययध्रौव्यैरासमन्तादतति वर्त्तते यः स आत्मा । किञ्च—यथैकोऽपि चन्द्रमा नानाजलघटेषु दृश्यते तथैकोऽपि जीवो नानाशरीरेषु तिष्ठतीति वदन्ति तत्तु न घटते । कस्मादिति चेत्—चन्द्रकिरणोपाधिवशेन घटस्थजलपुद्गला एव नानाचन्द्राकारेण परिणता, नचैकश्चन्द्रः । तत्र दृष्टान्तमाह—यथा देवदत्तमुखोपाधिवशेन नानादर्पणस्थपुद्गला एव नानामुखाकारेण परिणता, न चैकं देवदत्तमुखं नानारूपेण परिणतम् । परिणमतीति चेत्—तर्हि दर्पणस्थप्रतिबिम्बं चैतन्यं प्राप्नोतीति । न च तथा । किन्तु यद्येक एव जीवो भवति, तदैकजीवस्य सुखदुःखजीवितमरणादिके प्राप्ते तस्मिन्नेव क्षणे सर्वेषां जीवितमरणादिकं प्राप्नोति न च तथा दृश्यते ।

अव आत्मा शब्दका अर्थ कहते हैं । अत धातु निरन्तर गमन करने रूप अर्थमें वर्त्तता है और 'सब गमनरूप अर्थके धारक धातु ज्ञान अर्थके धारक हैं' इस वचनसे यहां पर गमन शब्द करके ज्ञान कहा जाता है । इस कारण जो यथासंभव ज्ञान सुख आदि गुणोंमें पूर्णरूपसे वर्त्तता है वह आत्मा है । अथवा शुभ–अशुभ रूप जो मन वचन कायके व्यापार हैं उनकरके यथासंभव तीव्र मन्द आदि रूपसे जो पूर्ण रूपसे वर्त्तता है वह आत्मा कहलाता है । अथवा उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीनोंकरके जो पूर्णरूपसे वर्त्तता है उसको आत्मा कहते हैं । और कितने ही ऐसा कहते हैं कि, जैसे एक ही चंद्रमा अनेक जलके भरे हुए घटोंमें देखा जाता है इसी प्रकार एक ही जीव अनेकशरीरोंमें रहता है सो यह उनका कथन घटता नहीं । क्यों नहीं घटता? ऐसा पूछो तो उत्तर यह है कि जलके घटोंमें चन्द्रमाकी किरणरूप उपाधिके वशसे घटमें विद्यमान जो जलके पुद्गल हैं वे ही अनेक प्रकारके चंद्रमारूप आकारोंमें परिणत हुए हैं और एक चन्द्रमा जो है वह अनेकरूप नहीं परिणमा है । इस विषयमें दृष्टान्त कहते हैं कि जैसे—देवदत्तके मुखरूप उपाधिके वशसे अनेक दर्पणोंमें स्थित जो पुद्गल हैं वे ही अनेकमुखरूप परिणमते हैं और एक देवदत्तका मुख अनेकरूप नहीं परिणमता है । यदि कहो कि, देवदत्तका मुख ही अनेक मुखरूप परिणमता है तो दर्पणस्थित जो देवदत्तके मुखका प्रतिबिम्ब है वह चेतनताको प्राप्त होवै; परंतु ऐसा नहीं अर्थात् दर्पणमें जो मुखका प्रतिबिंब है वह चेतन नहीं है । और भी विशेष यह है कि यदि अनेक शरीरोंमें एक ही जीव हो तो जब एक जीवको सुख, दुःख जीवित और मरण आदि प्राप्त होवें तब उसी क्षणमें सब जीवोंको सुख, दुःख, जीवित और मरण आदि प्राप्त होवें और ऐसा देखनेमें नहीं आता है ।

अथवा ये वदन्ति यथैऽकोपि समुद्रः क्वापि क्षारजलः क्वापि मिष्टजलस्तथैकोऽपि जीवः सर्वदेहेषु तिष्ठतीति । तदपि न घटते । कथमितिचेत्—जलराश्यपेक्षया तत्रैकत्वं, नच जलपुद्गलापेक्षया तत्रैकत्वम् । यदि जलपुद्गलापेक्षया भवत्येकत्वं तर्हि स्तोकजले गृहीते शेषजलं

सहैव किन्नायाति । ततः स्थितं षोडशवर्णिकासुवर्णराशिवदनन्तज्ञानादिलक्षणं प्रत्येकं जीवराशिं प्रति न चैकजीवापेक्षयेति । अध्यात्मशब्दस्यार्थः कथ्यते । मिथ्यात्वरागादिसमस्तविकल्पजालरूपपरिहारेण स्वशुद्धात्मन्यधि यदनुष्ठानन्तदध्यात्ममिति । एवं ध्यानसामग्रीव्याख्यानोपसंहाररूपेण गाथा गता ॥ ५७ ॥

अथवा जो ऐसा कहते हैं कि, 'जैसे एक ही समुद्र कहीं तो खारे जलवाला है, कहीं मीठे जलका धारक है, उसी प्रकार एक ही जीव सब देहोंमें विद्यमान है' सो यह कहना भी घटित नहीं होता। क्यों नहीं घटता यह पूछो तो उत्तर यह है कि, समुद्रमें जलराशिकी अपेक्षासे एकता है और जलके पुद्गलोंकी अपेक्षासे एकता नहीं है। यदि जलपुद्गलोंकी अपेक्षासे एकता होती है तो समुद्रमेंसे अल्प (थोड़ा जल ग्रहण करनेपर शेष (बचा हुआ) जो जल है वह भी साथ ही क्यों नहीं आ जाता है। इस कारण सोलह वानीके सुवर्णकी राशिके समान अनन्तज्ञान आदि लक्षणोंके प्रति जीवराशिमें एकता है और एक जीवकी अपेक्षासे जीवराशिमें एकता नहीं है। अब अध्यात्म शब्दका अर्थ कहते हैं। मिथ्यात्व, राग आदि जो समस्त विकल्पोंके समूह हैं उनका त्याग करके जो निज शुद्ध आत्मामें अनुष्ठान (प्रवृत्तिका करना) है उसको अध्यात्म कहते हैं। इसप्रकार ध्यानकी सामग्रीके व्याख्यानके उपसंहाररूपसे यह गाथा समाप्त हुई ॥ ५७ ॥

अथौद्धत्यपरिहारं कथयति ।

अब ग्रंथकार अपने औद्धत्य (अभिमान) को दूर करनेके लिये अग्रिम छन्द कह कर शास्त्रको समाप्त करते हैं।

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा
दोससंचयचुदा सुदपुण्णा ।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण
णेमिचन्दमुणिणा भणियं जं ॥ ५८ ॥

काव्यभावार्थः—अल्पज्ञानके धारक मुझ (नेमिचन्द्र मुनी) ने जो यह द्रव्यसंग्रह कहा है इसको दोषोंरहित और ज्ञानसे परिपूर्ण ऐसे आचार्य शुद्ध करैं ॥ ५८ ॥

इति श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविनिर्मितो बृहद्द्रव्यसंग्रहः समाप्तः ।

व्याख्या । "सोधयंतु" शुद्धं कुर्वन्तु । के कर्त्तारः ? "मुणिणाहा" मुनिनाथा मुनिप्रधानाः । किंविशिष्टाः ? "दोससंचयचुदा" निर्दोषपरमात्मनो विलक्षणा ये रागादिदोषास्तथैव च निर्दोषपरमात्मादितत्त्वपरिज्ञानविषये संशयविमोहविभ्रमास्तैश्च्युता रहिता दोषसंचयच्युताः । पुनरपि कथम्भूताः ? "सुदपुण्णा" वर्त्तमानपरमागमाभिधानद्रव्यश्रुतेन तथैव तदाधारोत्पन्ननिर्विकारस्वसम्वेदनज्ञानरूपभावश्रुतेन च पूर्णाः समग्राः श्रुतपूर्णाः । कं शोधयन्तु ? "दव्वसंगहमिणं" शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मादिद्रव्याणां सङ्ग्रहो द्रव्यसङ्ग्रहस्तं द्रव्यसङ्ग्रहा-

भिधानं ग्रन्थमिमं प्रत्यक्षीभूतम्। किं विशिष्टं? "भणियं जं" भणितः प्रतिपादितो यो ग्रन्थः। केन कर्तृभूतेन? "णेमिचंदमुणिणा" श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवाभिधानेन मुनिना सम्यग्दर्शनादिनिश्चयव्यवहाररूपपञ्चाचारोपेताचार्येण। कथम्भूतेन "तणुसुत्तधरेण" तनुश्रुतधरेण तनुश्रुतं स्तोकं श्रुतं तद्धरतीति तनुश्रुतधरस्तेन। इति क्रियाकारकसम्बन्धः। एवं ध्यानोपसंहारगाथात्रयेण, औद्धत्यपरिहारार्थं प्राकृतवृत्तेन च द्वितीयान्तराधिकारे तृतीयं स्थलं गतम्॥ ५८॥

इत्यन्तराधिकारद्वयेन विंशतिगाथाभिर्मोक्षमार्गप्रतिपादकनामा तृतीयोऽधिकारः समाप्तः।

व्याख्यार्थः—"सोधयंतु" शुद्ध करें, शुद्ध करनेवाले कौन हैं? "मुणिणाहा" मुनियोंमें प्रधान अर्थात् आचार्य हैं, कैसे हैं वे आचार्य? "दोससंचयचुदा" दोषरहित परमात्मासे भिन्न लक्षणके धारक जो राग आदि दोष हैं उनके, तथा निर्दोष परमात्मा आदि तत्त्वोंके जाननेमें जो संशय, विमोह और विभ्रमरूप दोष हैं उनके संचयसे रहित हैं, फिर कैसे हैं? "सुदपुण्णा" इस समय विद्यमान परमागम (शास्त्र) नामक जो द्रव्यश्रुत है उससे तथा उस परमागमके आधारसे उत्पन्न जो निर्विकार–निज आत्माके जाननेरूप भावश्रुत है उससे परिपूर्ण हैं। वे आचार्य किसको शुद्ध करें? "दव्वसंगहमिणं" शुद्ध–बुद्ध एकस्वभावका धारक जो परमात्मा है उसको आदि ले जो पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालरूप ६ द्रव्य हैं उनका है संग्रह जिसमें ऐसे इस प्रत्यक्षमें विद्यमान द्रव्यसंग्रह नामक शास्त्रको शुद्ध करैं। कैसे द्रव्यसंग्रहको शुद्ध करैं? "भणियं जं" जिस शास्त्र को कहा है। किन कर्त्ताने कहा है? "णेमिचंदमुणिणा" श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव नामक मुनीने अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि जो निश्चय और व्यवहार भेदसे पांच प्रकारका आचार है उस आचारसहित आचार्यने। कैसे नेमिचन्द्र आचार्यने? "तणुसुत्तधरेण" अल्पश्रुतज्ञानके धारकने। इसप्रकार क्रिया और कारकोंका संबन्ध है। इस प्रकार ध्यानके उपसंहाररूप तीन गाथाओंसे तथा औद्धत्यके परिहारकेलिये एक प्राकृत छन्दसे द्वितीय अन्तराधिकारमें तृतीय स्थल समाप्त हुआ॥ ५८॥

ऐसे दो अन्तराधिकारोंद्वारा बीस गाथाओंसे मोक्षमार्गप्रतिपादकनामा तृतीय अधिकार समाप्त हुआ।

अत्र ग्रन्थे 'विवक्षितस्य सन्धिर्भवति' इति वचनात्पदानां सन्धिनियमो नास्ति। वाक्यानि च स्तोकस्तोकानि कृतानि सुखबोधनार्थम्। तथैव लिङ्गवचनक्रियाकारकसम्बन्धसमासविशेषणवाक्यसमाप्त्यादिदूषणं तथा च शुद्धात्मादितत्त्वप्रतिपादनविषये विस्मृतिदूषणं च विद्वद्भिर्न ग्राह्यमिति।

इस ग्रन्थमें 'वक्ताकी जहां संधि करनेकी इच्छा हो वहां संधि होती है' इस नियमके अनुसार पदोंकी संधिका नियम नहीं है अर्थात् किसी स्थलमें संधि की गई है और किसी स्थलमें नहीं। और मन्दबुद्धियोंको सुखसे बोध होनेके लिये वाक्य भी छोटे छोटे दिये गये हैं। तथा लिंग, वचन, क्रिया, कारक, सम्बन्ध, समास, विशेषण और वाक्यसमाप्ति आदि

दूषण और शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वोंके प्रतिपादनमें विस्मृति (भूलना) आदि रूप जो दूषण इस ग्रन्थमें होवें उनको ज्ञानी पुरुष न ग्रहण करें।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण "जीवमजीवं दव्वं" इत्यादिसप्तविंशतिगाथाभिः षट्द्रव्यपञ्चास्तिकाय-प्रतिपादकनामा प्रथमोऽधिकारः। तदनन्तरं "आसववन्धण" इत्येकादशगाथाभिः सप्ततत्त्व-नवपदार्थप्रतिपादकनामा द्वितीयोऽधिकारः। ततः परं "सम्मद्दंसण" इत्यादिविंशतिगाथाभि-र्मोक्षमार्गप्रतिपादकनामा तृतीयोऽधिकारः।

इत्यधिकारत्रयेनाष्टाधिकपञ्चाशत्सूत्रैः श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैर्विरचितस्य द्रव्य-संग्रहाभिधानग्रन्थस्य सम्बन्धिनी श्रीब्रह्मदेवकृतवृत्तिः समाप्ता॥

ऐसे पूर्वोक्त प्रकारसे "जीवमजीवं दव्वं" इस गाथाको आदि ले २७ गाथाओंसे षट्-द्रव्यपंचास्तिकायप्रतिपादकनामा प्रथम अधिकार है। इसके पश्चात् "आसववंधण" इत्यादि एकादश ११ गाथाओंसे सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादकनामा दूसरा अधिकार है। उसके अनन्तर "सम्मद्दंसण" आदि वीस गाथाओंद्वारा मोक्षमार्गप्रतिपादकनामा तीसरा अधिकार है।

इति श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचितबृहद्द्रव्यसङ्ग्रहस्य श्रीब्रह्मदेवनिर्मितसंस्कृतटीकाया जयपुरराज्यान्तर्गतमाधवराजपुराख्यनगरलब्धजन्मना श्रीखंडेलवालजातिजवाकली-वालगोत्रीय–पूज्यपादश्रीगुर्जरमल्लात्मजेन सद्विद्यावर्द्धनैकव्रतधारिविद्वद्वरश्रीभो-लिलालश्रेष्ठिसंरक्षितजयपुरस्थजैनमहापाठशालायां लब्धविद्येन साहित्य-शास्त्र्याद्यनेकपदवीविभूषितेन श्रीजवाहरलालदैगम्बरजैनेन विरचितो हिंदीभाषानुवादः समाप्तः।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः।

शुभं भूयात्।